पञ्चशती
पञ्चशती
पञ्चशती
पञ्चशती
पञ्चशती

पञ्चशती

-आचार्य विद्यासागर

संस्कृत टीका एवं हिन्दी रूपान्तरण

- डॉ. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य

प्रकाशक ज्ञानगंगा

३0, डिप्टीगंज, सदर बाजार,

दिल्ली - ११000६

Ph २९१६५२५ २५२६६५१

प्रथमावृत्ति : फरवरी १९९१

मूल्य : स्वाध्याय

१ अजितप्रसाद जैन देहली

२ सुरेशचन्द जैन, देहली

३ संजय जैन, देहली

मुद्रक प्रकाश आफसेट प्रिंटर्स, फोन : ३२७८३५८

प्रकाशकीय

जैन सन्तों की दिनचर्या में चिन्तन/मनन/लेखन का एक विशेष स्थान रहा है है तथा रहेगा। उनकी इस प्रवृत्ति ने ही जैन साहित्य का सतत सुरक्षित एव सवर्धित किया। ये साधु, अपने समय का सच्चे अर्थों में सदुपयोग करने मे तत्पर रहते रहे हैं। काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमता वाली कहावत में भी यथेष्ट परिवर्धन कर वे काव्यशास्त्र के द्वारा मात्र विनोद का लक्ष्य न रख अध्यात्म की अगम गहराईयो की तहो में प्रवेश पाने की सुगमतर राहों को आविष्कारित करना ही लक्ष्य बनाते रहे। उनकी ज्ञानाराधना मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा या प्रतिस्पर्धा आदि कामनाओं से स्खलित हो नदप्रवाह की तरह सहजगतिशील एव निर्मल रही। शायद यही कारण है कि उनकी लेखनी को मार्मिकतथ्या एव लोकरूढियाँ के गर्भभेदन में कोई रूकावट या श्रम नही हुआ। उनकी चिन्तना ने बिना किसी अपेक्षा के हितग्राही सत्य को प्रकट व प्रसारित किया। जो कि जैन वाङ् मय की अमोल धरोहर है।

वर्तमान में दिगम्बर जैन समुदाय म भास्वर नक्षत्र की तरह स्पष्ट एव आकर्षक सत्ता को स्थापित करने वाले जैनावधूत परम पूज्य आचार्य 108 श्री विद्यासागर जी महाराज का नाम देदीप्यमान है। आपने आचार के क्षेत्र मे आदर्श स्थापित किये हैं। उनको देखते हुए चतुर्थकालीन जैन सन्तों का स्मरण सहज ही हो जाता है तथा आज की इस चकाचौंध भरी दुनिया के समक्ष वे आश्चर्यजनक अवभासित होते हैं। तिस पर भी आपका यह दावा कतई नही होता कि यह सहिता का पूर्णतया अनुपालन है।

आचार्य विद्यासागर जी ने अपनी सशक्त कलम से अपने अनुभवों एव लोकनीतियों को लिपिबद्ध किया। आप सस्कृत और हिन्दी पर साधिकार एव समान रूप से लगातार 15 20 वर्षों से लिख रहे हैं। इस दौरान पाच सस्कृत शतको की रचना हुई। जो कि पाठको के कण्ठहार बन गये। कई सस्करण निकले। परन्तु आज सस्कृत के प्रति बढती उपेक्षा के कारण आवश्यक लगा कि इन पर टीका के साथ हिन्दी रूपान्तरण भी होना चाहिए। आचार्य श्री से कई बार विनयपूर्वक निवेदन किया गया पर यह सभव न हो सका। अत यह कार्य प पन्नालाल जी साहित्याचार्य को सौपा गया। जो अब तैयार होकर आप सबके हाथो में भी है।

इन शतकों पर अनुसन्धान की दिशा मे भी कार्य हो चुका और हो रहा है। एक शोध प्रबन्ध डा आशालता मलैया सागर ने सस्कृत शतक परम्परा और आचार्य विद्यासागर के शतक के नाम से प्रस्तुत किया। जो कि विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत हो प्रकाशित भी हो चुका है। एक प्रबन्ध दमोह से भी प्रस्तुत किया जा रहा है।

परम पूज्य आचार्य श्री के चरणो में विनम्र नमन-वन्दन अर्पित कर उनके प्रति श्रद्धा के सुमनो के द्वारा कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तथा उनके उपकार को बहुश स्मृत करते हैं। वृद्धावस्था में भी प पन्नालाल जी ने यह कार्य सपन्न कर दिया लगता है यह सब जिनशासन का ही प्रभाव है अन्यथा उनके कापते हाथ हिलती गर्दन और स्थिर न हो सकने वाली आसन के साथ भी वे कैसे कार्य कर सकते ? उनका आभार मानना शब्दों की सामर्थ्य के बाहर है। इसके साथ ही इस कार्य में हमें बहुत से लोगों से सहयोग लेना पडा। इस में जिन भी महानुभावो ने प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप भी सहयोग दिया है उनके प्रति हम कृतज्ञ हैं।

जिनशासन की प्रभावना के साथ उसके अनुपालन की ओर हमारे कदम बढ सके इसी भावना से साथ

— ज्ञानगगा

आद्य-निवेदन

पूज्यवर आचार्य विद्यासागर जी महाराज दिवगत पूज्यवर आचार्य ज्ञानसागर जी के प्रबुद्धतम शिष्य हैं। जन्मना कर्णाटक भाषाभाषी होने पर भी सस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार है। हिन्दी भाषा का इतना शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण होता है कि उसे सुनकर यह प्रतीत नहीं होता है कि हिन्दी इनकी मातृभाषा नही है।

आप ज्ञान, ध्यान ओर तप मे लीन रहने वाले अद्वितीय साधु हैं। पूर्वभव के सस्कार से अल्पवय में ही ससार, शरीर, भोगो मे विरक्त हो आपने निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण की है। आपका प्रत्येक क्षण ज्ञान की आराधना मे व्यतीत होता है। किसी अभ्यागत के आने पर दो चार मिनिट मे ही कुशल-प्रश्न को समाप्त कर शास्त्रीय चर्चा शुरु कर देते हैं। आपकी इस तपोमय साधना का ही फल है कि आप षट्खण्डागम तथा कषायपाहुड जैसे करणानुयोग के कठिन ग्रन्थो में पारगत हो गये हैं और इसी के फलस्वरूप सागर, जबलपुर, ललितपुर, खुरई और पपौराजी मे इन ग्रन्थों की नौ वाचनाएँ आयोजित की जा चुकी हैं।

दक्षिणप्रान्तीय होने पर भी अनेक वर्षों से आपका मगल-विहार मध्यप्रदेश मे हो रहा है और उससे प्रभावित होकर यहाँ के अनेक युवा महाव्रत धारण कर स्व-पर कल्याण कर रहे हैं। आपके सघ में अनेक साधु जैनागम के अच्छे ज्ञाता और प्रभावक वक्ता हैं। यद्यपि आप अपने सघ में आर्यिकाओं को नही रखते हैं तथापि आपसे दीक्षित आर्यिकाओ के अनेक सघ अपनी निर्दोष चर्या और वक्तृत्व कला से जिनशासन की महती प्रभावना कर रहे हैं।

आचार्य विद्यासागर जी प्रतिभासपन्न कवि भी हैं। इसीलिये आपने अनेक स्तोत्रो तथा कुन्दकुन्द और समन्तभद्राचार्य के अनेक ग्रन्थों का पद्यानुवाद किया है समणसुत्त का जैनगीता के नाम से पद्यानुवाद किया है। कुन्दकुन्द का कुन्दन नाम से वसन्ततिलका छन्द में समयसार का जब मधुर स्वर से पाठ करते हैं तब श्रोता भावविभोर हो जाते हैं। दो वर्ष पूर्व आपका मूकमाटी नाम का आध्यात्मिक महाकाव्य भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से प्रकाशित हुआ है जो हिन्दी जगत् मे बहुचर्चित और बहुप्रशसित हुआ है।

सस्कृतभाषा के आप अधिकारी विद्वान् ही नही सुकवि भी हैं। सस्कृत साहित्य मे समन्तभद्राचार्य ने स्तुतिविद्या नाम से जिनशतक की रचना की थी। महाकवि भर्तृहरि के शृगारशतक, वैराग्यशतक और नीतिशतक सस्कृतज्ञ विद्वानों के बीच बड़े आदर से पढे जाते हैं। शतक रचना की लोकप्रियता सस्कृत मे ही नही प्राकृत और हिन्दी में भी प्रसिद्धि को प्राप्त हो गई है अत प्राकृत मे भी ध्यानस्तव आदि तथा हिन्दी में भूधरशतक आदि लिखे गये हैं। यह परम्परा शतक तक ही सीमित नही रही सप्तशती (सतसई) के नाम से बुधजन और बिहारी ने भी अपनी रचनाओं मे हिन्दी काव्य भाण्डार को भरा है।

आचार्य विद्यासागर जी का भी ध्यान शतक रचना की ओर आकृष्ट हुआ, और उसके फलस्वरूप उन्होने विभिन्न वर्षायोगों में 1 श्रमणशतक 2 निरजनशतक 3 भावनाशतक 4 परिषहजयशतक (ज्ञानोदय)और 5 सुनीतिशतक की रचना की। सस्कृत के साथ ही आपने इन सभी शतकों का पद्यानुवाद भी किया है। इन शतको की रचना कहाँ, कब हुई और उनका प्रकाशन कहाँ से हुआ ? इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है --

1 श्रमणशतक - इसकी रचना विक्रम सवत् 2031 में अजमेर के वर्षायोग में हुई तथा इसका प्रकाशन दर्शनाचार्य गुलाबचन्द्र जी जबलपुर की ओर से हुआ।

2 निरंजनशतक - वीरनिर्वाण सवत् 2503 में कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर रचा गया तथा इसका प्रकाशन क्षेत्र कमेटी की ओर से हुआ।

3 भावनाशतक - विक्रम संवत् 2023 में फीरोजाबाद में रचा गया और इसका प्रकाशन निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन समिति कलकत्ता की ओर से हुआ।

4 परिषहजयशतक (ज्ञानोदय) - वीरनिर्वाण सवत् 2503 मे कुण्डलगिरि (कोनी जी) क्षेत्र पर रचा गया तथा इसका प्रकाशन दर्शनाचार्य गुलाबचन्द्र जी जबलपुर की ओर स हुआ।

5 सुनीतिशतक - वीरनिर्वाण सवत 2510 में ईसरी (गिरिडीह)में रचा गया और इसका प्रकाशन श्री रतनलाल हिम्मतसिंह जैन कलकत्ता की आर से हुआ।

एक सुनीतिशतक का छाडकर शेष चार शतकों की भाषा अत्यन्त दुरूह होने का कारण है कि उनमें अधिकाश अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग हुआ है। यमक,अनुप्रास तथा चित्र आदि शब्दालकारों की प्रमुखता है। अर्थालकारों की रचना करने की अपेक्षा शब्दालकारों की रचना करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु इस विषय में आचार्य विद्यासागर जी का वैदुष्य प्रशसनीय है। रचनाओं को दुरुह देख आपने निरंजनशतक भावनाशतक और श्रमणशतक में मूलश्लोकों के नीचे अन्वय भी दिया है। परन्तु अप्रसिद्ध शब्दों का जब तक कोष तथा समासविग्रह नही दिया जाता है तब तक अर्थबोध नही होता और अर्थबोध के बिना ग्रन्थकर्त्ता का अभिप्राय पाठक नहीं समझ पाता।

सपादन के लिए जब मेरे पास भावनाशतक की पाण्डुलिपि आई तब मैंने आचार्यश्री से प्रार्थना की थी कि जब तक इसकी सस्कृत टीका नही होती है तब तक मात्र अन्वय और पद्यानुवाद से मूल का भाव प्रस्फुटित नहीं होता। अत इसकी सस्कृत टीका होना आवश्यक है। धृष्टतावश मैंने यह भी लिख दिया कि यदि आपको अवकाश न हो तो मुझे आज्ञा दीजिये, मैं लिख दूँ। महाराज ने प्रार्थना स्वीकार कर मुझे सस्कृत टीका लिखने की स्वीकृति दे दी। मैंने सस्कृत टीका लिखकर आचार्यश्री को समर्पित कर दी। उसे देखकर प्रकाशित करने की स्वीकृति हो गयी। सस्कृत टीका से पुस्तक की उपयोगिता बढ गई। गतवर्ष सघस्थ एक साधु ने भावनाशतक के समान शेष शतकों की भी सस्कृत टीका लिखी जाने की स्वीकृति प्राप्त कर ली। साथ ही मुझे आदेश दिया कि आप शेष चार शतकों पर भी सस्कृत टीका लिख दीजिये एव श्लोकों का मूलानुगामी गद्यानुवाद भी कर दें। आज्ञा को शिरोधार्य कर मैंने संस्कृत टीका और मूलानुगामी गद्यानुवाद कर सघ में भेज दिया। आचार्यश्री ने अधिकाश विश्वलोचन कोष का उपयोग किया है अत टीका लिखते समय उसे तथा अन्य कोषों को भी सामने रखा गया है।

मात्र हिन्दी पद्यों का पाठ करने वाले पाठकों की अभिरुचि का ध्यान रखते हुए पाँचों शतकों का पद्यानुवाद अन्त में एक साथ दिया है। आदि में संस्कृत श्लोक, अन्वय, सस्कृत टीका और मूलानुगामी गद्यानुवाद दिया है।

आगे इन शतकों में निरूपित प्रमेय का सक्षिप्त परिचय देना आवश्यक जान पड़ता है -

श्रमणशतक - कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार के चारित्राधिकार में श्रमण की परिभाषा देते हुए लिखा है -

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पससणिदसमो ।
समलोट्ठकचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ।।

जिसे शत्रु और मित्रवर्ग समान है जिसे सुख और दु ख मे समता है जो प्रशसा और निन्दा मे मध्यस्थ है जिसे पाषाणखण्ड और सुवर्ण मे समानता है तथा जीवन और मरण मे जो समता रखता है वह श्रमण है।

एसे श्रमणो को सम्बोधित करने के लिए ही आचार्यश्री ने श्रमणशतक की रचना की है। शतक मे दिये गये सभी सबोधन एक से एक बढकर है। इसमे मूल मे आर्या और पद्यानुवाद मे वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है। साधु को विषयवासना से विरक्त रहने का उपदेश है -

जलाशय जलादभवमिवात्मान भिन्न जलतोऽनुभव ।
प्रमादी मोऽथ भव भव्य विषयतो विरक्तो भव ।। 35 ।।

हे भव्य ! प्रमादी मत हो विषय से विरत हो जिस प्रकार कमल जल से भिन्न रहता है उसी प्रकार तूँ भी अपने आपको विषय से भिन्न अनुभव कर।
पद्यानुवाद देखिए -

जैसे रहे जलज जो जल से निराला
वैसे बना रह सदा जड से खुशाला ।
क्यो तूँ प्रमत्त बनता बन भोग-त्यागी
रागी नही बन कभी बन वीतरागी ।।

इसका एक सस्करण डॉ प्रभाकर शास्त्री एम ए पी एच डी डी लिट अजमेर के सम्पादन मे प्रकाशित हुआ था उसकी प्रस्तावना आदि पठनीय है।

निरजनशतक - ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव वाला आत्मा अनादि काल से अजन--कर्मकालिमा से दूषित हो रहा है। जिन्होने रत्नत्रय की साधना से उस कर्मकालिमा को दूरकर दिया है और अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव मे लीन हो चुके है एसे सिद्ध परमेष्ठी निरजन कहलाते हैं। यह निरजन अवस्था अर्हन्त अवस्था पूर्वक होती है इसलिए उन्हे भी निरजन कहा जाता है। वे भी चार घातियाँ कर्मों का क्षय कर जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त है। इस शतक मे इन्ही सकल-निकल परमात्माओ का स्तवन है। स्तवन मे भक्त ने भगवान से एकरूपता प्राप्त करने का प्रयास किया है। शरीर और आत्मा मे भेदविज्ञान हुए बिना निरजन अवस्था प्राप्त नही हो सकती। अत भक्त उनसे प्रार्थना करता है -

कुरु कृपा करुणाकरकेवल क्षिपविदीशविद मयि केवलम ।
ननुचिता प्रविधाय विभाजन निजमय यदर सुखभाजनम ।।

हे करुणाकर ! हे अनन्तज्ञान के ईश ! मुझ पर कृपा करो मुझे ज्ञान दो जिससे मै शरीर और आत्मा का विभाजन कर सकू।
हिन्दी पद्य भी देखिये--

हे ईश ! धीश ! मुझमे बल बोधि डालो
कारुण्यधाम करुणा मुझ मे दिखाओ ।
देहात्म मे वश विभाजन जो करूगा
शीघ्रातिशीघ्र सुखसागर तो बनूगा ।।

संस्कृत में द्रुतविलम्बित और हिन्दी में वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है।

भावनाशतक - भावनाशतक का अपर नाम कोष्ठक में दिया है- तीर्थंकर ऐसे बनें। भावनाशतक में तीर्थंकरप्रकृति के बन्ध करने में कारणभूत दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का नवीन शैली में वर्णन है नवीन शैली से लिखने का तात्पर्य यह है कि इसमें दर्शनविशुद्धि को निर्मलदृष्टि विनयसंपन्नता को विनयावनति शीलव्रतेष्वनतिचार को सुशीलता अभीक्ष्णज्ञानोपयोग को निरन्तरज्ञानोपयोग संवेग को संवेग शक्तितस्त्याग को त्यागवृत्ति शक्तितस्तप को सत्तप साधुसमाधि को साधुसमाधिसुधासाधन आदि नामों से व्यवहृत किया है।

शतक में एक एक भावना के बाद एक मुरजबन्ध लिखा है। मुरजबन्ध में अनुष्टुप और शेष पद्यों में आर्या छन्द का प्रयोग किया गया है।

मुरजबन्ध कई प्रकार का होता है। इस शतक में सामान्य मुरजबन्ध की रचना की गई है उसके लिखने की विधि अलंकार-चिन्तामणि में इस प्रकार दी है--

पूर्वार्धमूर्ध्वपङ्क्तौ तु लिखित्वार्धं परं ततः ।
एकान्तरितमूर्ध्वाधो मुरजं निगदेत् कविः ।।

अर्थात सर्वप्रथम श्लोक के पूर्वार्ध को पंक्ति के आकार में लिखकर उत्तरार्ध को भी पंक्ति के आकार में उसके नीचे लिखे। इस अलंकार में प्रथम पंक्ति के प्रथम अक्षर को द्वितीय पंक्ति के द्वितीय अक्षर के साथ और द्वितीय पंक्ति के प्रथम अक्षर को प्रथम पंक्ति के द्वितीय अक्षर के साथ मिलाकर पढ़ना चाहिये। यही क्रम श्लोक के अन्तिम अक्षर तक जारी रहता है। यह सामान्य मुरजबन्ध का लक्षण है। इसका प्रयोग इस शतक के 10 16 22 28 34 40 46 52 58 64 70 82 88 94 और 100 वे श्लोकों में किया गया है।

वैयावृत्य भावना का एक श्लोक देखिये--

समौक्तिकोऽत्र कलिना कलितः कमनीयमणिना कलिना ।
दुर्लभो भुवि कलिनास्तथा युतोऽनेन सकलिना ।।

जिस प्रकार इस भूमि में मोतियों से सहित हाथी दुर्लभ है तथा मणि से युक्त नाग दुर्लभ है उसी प्रकार वैयावृत्य से युक्त मुनि इन तीनों अर्थों को एक ही श्लोक में गुम्फित करना चमत्कार की वस्तु है।

पद्यानुवाद भी देखिये

ये साधु सेवक कहां मिलते कहां हैं ?
जो जातरूप धरते जग में अहा है ।
प्रत्येक नाग मणि से कब शोभता है
प्रत्येक नाग कब मौक्तिक धारता है ।।

इसकी प्रस्तावना में बन्धस्वामित्वविचय (धवला की अष्टम पुस्तक) के आधार पर प्रचलित सोलहकारणभावनाओं का मूलस्रोत बताया गया है। इस शतक की मेरे द्वारा लिखित संस्कृत टीका भी मुद्रित की गयी है।

परिषहजयशतक - इसका अपर नाम ज्ञानोदय है। इस शतक में संवर के "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः" इस सूत्र में प्रतिपादित संवर के कारणों में से परिषहजय का वर्णन है। 'मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परिषहाः" तत्त्वार्थसूत्रकार ने

गृहीतसयम के मार्ग से च्युत न होने तथा निर्जरा के लिये क्षुधादि 22 परिषहों पर विजय प्राप्त करने का आदेश दिया है। परिषहो पर विजय प्राप्त किये बिना मुनि पद का निर्बाध निर्वाह नहीं होता, अत इन्ही पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा लेखक ने दी है। शतक में द्रुतविलम्बित छन्द का और पद्यानुवाद में मुक्तक छन्द का प्रयोग किया है। इसमें आचार्यश्री ने मूल श्लोक के साथ अन्वय नहीं दिया है। सभी श्लोकों में अन्त्यानुप्रास रखा गया है।

शीतपरिषहजय का एक पद्य देखिये --

चलतु शीततमोऽपि सदागति-रमृतभावमुपैतु सदागति ।
जगति कम्पवती रसदा गति स्खलति नो वृषतोऽपि सदागति ।।

अर्थात् भले ही अत्यन्त शीतल सदागति - वायु चल रही हो, भले ही सदागति - अग्नि अमृत जैसी प्रियता को प्राप्त हो, भले ही ससारी लोगों की गति कम्पन से सहित हो परन्तु सदागति - साधु धर्म से स्खलित नहीं होता।

इसी का पद्यानुवाद देखिये--

शीत शील का अविरल अविकल बहता जब है अनिल महा,
ऐसा अनुभव जन जन करते अमृत-तुल्य का अनल रहा ।
पग से शिर तक कपडा पहिना कप कप करता जगत रहा,
किन्तु दिगम्बर मुनि पद से नहि विचलित हो मुनि जगत रहा ।।

सुनीतिशतक - आचार्य महाराज की यह प्रासाद गुण युक्त सुबोध रचना है। इसकी रचना उपजाति छन्द में हुई है तथा पद्यानुवाद में मुक्तक छन्द का प्रयोग किया है। सम्पूर्ण शतक हितावह नीतियों से परिपूर्ण है। नमूना के लिए एक श्लोक देखिये --

भोगानुवृत्तिर्विधिबन्धहेतु-र्योगानुवृत्तिर्भवसिन्धुसेतु ।
बीजानुसार फलित फल तत् कि निम्बवृक्षे फलित रसालम् ।।35।।

भोगों का अनुसरण कर्म बन्ध का कारण है और योगों का अनुसरण संसार सागर से पार होने के लिए सेतु के समान है। बीज के अनुसार ही फल लगता है। क्या नीम के वृक्ष में कभी आम लगा है ?

पद्यानुवाद देखिये --

भोगी बनकर भोग भोगना भव बन्धन का हेतु रहा,
योगी बन कर योग साधना भव सागर का सेतु रहा ।
जैसा तुम बाओगे वैसा बीज फलेगा अहो सखे,
निम्ब वृक्ष पर सरस आम्र फल कभी लगे क्या कहो सखे ' ।।

आचार्य विद्यासागर जी का जीवनवृत्त मैं "कुन्दकुन्द का कुन्दन" और "जैन गीता" में दे चुका हूँ अत यहाँ उसे पुनरुक्त नही कर रहा हूँ। आपके द्वारा लिखित और प्रकाशित साहित्य की सूची परिशिष्ट में दी गई है। यहाँ तो मै इतना ही कहना चाहता हूँ कि आचार्य विद्यासागर जी महाराज पुण्यशाली परमतपस्वी साधु है, जिस क्षेत्र पर आपका चातुर्मास होता है वहाँ भारत के कोने कोने से श्रद्धालु लोग सपरिवार पहुँचते है तथा क्षेत्रों पर आवास की न्यूनता अनुभव मे आने लगती है। आपके नाम पर पिसनहारी की मढिया, जबलपुर में आचार्य विद्यासागर शोध सस्थान सचालित है। इसी तरह श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल आपके निर्देशन

में चल रहा है तथा जबलपुर और सागर में ब्राह्मी विद्याश्रम चल रहा है। इन सब संस्थाओं से जिनशासन की प्रभावना बढ़ रही है। आपके द्वारा इसी प्रकार धर्मप्रभावना होती रहे यह भावना है।

ऊपर निर्दिष्ट पांच शतकों का प्रकाशन "पञ्चशती" के नाम से हो रहा है। संस्कृत टीकाओं के लिखने में अशुद्धियों का होना सम्भव है अतः मैं उनके लिए आचार्यश्री तथा सुविज्ञ पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ। हाथों में कम्पन होने से मेरे द्वारा लिखी प्रेस कापी का पुनर्लेखन श्री ब्र राकेश जी को करना पड़ा है जिसे उन्होंने स्वान्तःसुखाय स्वयं किया है तथा मुद्रण और प्रूफ संशोधन का कार्य पूर्ण मनोयोग के साथ किया है अत उनका आभारी हूँ।

इस पञ्चशती के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग श्री अजितप्रसाद, श्री करेशचन्द्र एवं श्री संजयकुमार दिल्ली वालों ने किया है अत धन्यवाद के पात्र हैं। सम्प्रति उपलब्ध जैन विद्वानों में संस्कृत भाषा के गहन अध्ययन के प्रति अभिरुचि न देख मानसिक संताप को प्रकट करता हुआ आकांक्षा रखता हूँ कि पूज्य गणेश प्रसाद वर्णी की जैन शिक्षा संस्थाओं को स्थापित करने में जो भावना थी उसे साकार करते रहें।

श्री वर्णी दिग. जैन गुरुकुल, विनीत
पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर पन्नालाल साहित्याचार्य
30-9-1990

[2] नाममाला के अतिरिक्त दूसरी कृति 'अनेकार्थ नाममाला' के नाम से जानी जाती है। 46 पद्यों वाली यह कृति श्लोक प्रमाण की अपेक्षा अल्प है किन्तु इसमें अनेकार्थ बोधक शब्दों का सूक्ष्मदृष्टि से विवरण उपलब्ध होता है।

पी एल वैद्य के अनुसार@ नाममाला की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इस पर अमरकीर्ति का भाष्य रचित है। जिसमें नाममाला के जहा पर्यायवाची शब्दों की व्युत्पत्ति देकर स्पष्टीकरण किया गया है वही अपनी दृष्टि में आए कुछ और पर्यायवाची शब्दो को भी शामिल कर दिया है। उनके भाष्य की वही सरणि पद्धति है जो कि अमरकोश की प्रसिद्ध टीका में क्षीरस्वामी ने अपनायी है। भाष्य में प्रत्येक शब्द की व्याकरण सिद्ध व्युत्पत्ति सूत्र निर्देशपूर्वक बताई गयी है। उणादि से सिद्ध हो या अन्य रीति से पर कोई भी शब्द निर्व्युत्पत्ति नही रह गया है। व्युत्पत्तियों की प्रमाणिकता के लिए भाष्यकार ने लगभग 15-20 ग्रन्थों एव 8-10 ग्रन्थकारो का नाम निर्देश प्रमाण कोटि में उपस्थित किया है।

सेन्द्रवश (सेनवश) में उत्पन्न, त्रैविद्य एव शब्दवेधा उपाधि से अलकृत महापण्डित अमरकीर्ति दशभक्त्यादि महाशास्त्र के रचयिता वर्धमान के समकालीन विद्यानन्द के पुत्र विशालकीर्ति के सधर्मा माने जाते हैं एव इनका काल लगभग ईस्वी 1450 के करीब माना जाता है।# अमरकीर्ति के भाष्य सहित नाममाला का सपादन प शम्भूनाथ त्रिपाठी व्याकरणाचार्य सप्ततीर्थ द्वारा किया गया है।

प महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य के अनुसार$ सभाष्य नाममाला के अतिरिक्त 153 श्लोकों में निबद्ध 'अनेकार्थ निघण्टु' प हरगोविन्द शास्त्री द्वारा सम्पादित एव मुद्रित भी है। इसके अन्त में प्राप्त पुष्पिका वाक्य - 'इति महाकविधनजयकृते निघण्टुसमय शब्दसकीर्ण अनेकार्थप्ररूपणो द्वितीयपरिच्छेद' में महाकवि धनजय का उल्लेख स्पष्टतया किया गया है परन्तु रचनाशैली आदि से यह निश्चयत नही कहा जा सकता कि यह कृति इन्ही धनजय की है।

[3] तीसरी कृति 'विषापहार स्तोत्र' है जो आदि ब्रह्मा ऋषभदेव के स्तवन रूप में 39 इन्द्रवज्रा वृत्तो का स्तुति ग्रन्थ है। यह स्तवन अपने प्रसाद आज गाम्भीर्य प्रौढता और अनूठी उक्तियों के लिए सुप्रसिद्ध है। इस पर अनेक सस्कृत टीकाए प्राप्त हैं जिनमे 16 वी शती के विद्वान पार्श्वनाथ के पुत्र नागचन्द्र की तथा दूसरी टीका चन्द्रकीर्ति की विशिष्ट है।

[4] धनजय कवि का सन्धान शैली में काव्यवैशिष्ट्य से परिपूर्ण सर्वप्रथम प्राचीन तथा महत्वपूर्ण काव्य है - 'द्विसन्धान महाकाव्य'*। इसके रचयिता होने के कारण महाकवि धनजय सस्कृत साहित्य जगत् में 'द्विसन्धानकवि' नाम से भी जाने जाते हैं। 18 सर्गों में विभक्त तथा आठ सौ श्लोकों में निबद्ध इस महाकाव्य को 'राघव-पाण्डवीयकाव्य' के नाम से भी जाना जाता है। भोज (11 वी शती ईसवी के मध्य) के अनुसार द्विसन्धान उभयालकार के कारण होता है। जो तीन प्रकार का है - प्रथम वाक्यगत श्लेष है द्वितीय अनेकार्थ स्थिति है और तृतीय राघव-पाण्डवीय की तरह पूरा काव्य ही दो कथाओं का कहने वाला हो। एक साथ रामायण और महाभारत की कथा को कुशलता पूर्वक प्रत्येक पद्य/श्लोक में दो अर्थों में प्रस्तुत करते हैं। प्रथम अर्थ से रामचरित निकलता है तो दूसरे अर्थ से पाण्डवो के इतिवृत्त के साथ कृष्णचरित प्रतिपादित है।

शास्त्र एवं काव्य जगत् की दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण इस ग्रन्थ में कथानक संक्षिप्त तथा सुरुचिपूर्ण है तथा कवि ने सन्धान काव्य में जिन काव्योचित गुणों को आवश्यक माना है उनका प्रयोग अवश्य ही किया है। द्विसन्धान महाकाव्य जहा रसों की नवीन सुन्दर योजना, शब्दालंकार, अर्थालंकार, उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, परिसख्या, वक्रोक्ति, आक्षेप, अतिशयोक्ति निश्चय, समुच्चालकार के लिए प्रसिद्धि को प्राप्त है वही वैश्वदेवी, प्रहर्षिणी, अपहवक्त्र जैसे विशिष्ट एव वैतालीय, जलधरमाला, वसततलिका आदि 31 प्रकार के छन्दों से परिपूरित तथा व्याकरण राजनीति, सामुद्रिकशास्त्र, लिपिशास्त्र, गणित तथा ज्योतिष विषयक चर्चाओं मे भी परिपूर्ण है।

'राघव-पाण्डवीय' महाकाव्य पर कुछ टीकाए उपलब्ध हैं। प्रथम 'पदकौमुदी' टीका के कर्ता विनयचन्दपण्डित के प्रशिष्य तथा देवनन्दि के शिष्य कवि नेमिचन्द हैं। दूसरी 'राघव-पाण्डवीयप्रकाशिका' टीका के कर्ता रामचन्द्र के पुत्र कवि देववाह या देवर है तथा बदरीकृत सस्कृत टीका भी उपलब्ध है।

कालनिर्धारण - स्व प महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य बौद्धदर्शन प्राध्या सस्कृत महाविद्यालय वाराणसी के अनुसार कवि के स्थिति काल के सम्बन्ध मे विद्वानों में मतभेद है। इनका समय डॉ के बी पाठक न 1123 से 1140 ईसवी के मध्य माना है। डॉ ए बी कीथ ने सस्कृत साहित्य के इतिहास मे धनजय कवि का समय पाठक द्वारा अभिमत ही स्वीकार किया है। [देखे पृ 173]। और इसी आधार से श्री रामावतार शर्मा ने 'कल्पद्रुमकोश' की प्रस्तावना [पृ 32] पर कवि का समय 12 वी सदी लिख दिया है। परन्तु धनजय का उक्त काल निर्धारण उचित नही है।×

स्व प महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य के अनुसार+, चूकि इनके द्विसन्धान काव्य का उल्लेख धाराधीश भोजराज के समकालीन आचार्य प्रभाचन्द्र [ई 11 वी सदी] ने अपने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड [पृ 402] में किया है, इसके अतिरिक्त वादिराजसूरि [सन् 1025] ने अपने 'पार्श्वनाथचरित' मे कवि धनजय और द्विसन्धान महाकाव्य दोनों का उल्लेख किया है, अतएव धनजय इन दोनों से पूर्ववर्ती होने के कारण 11 वी शताब्दी के विद्वान् सिद्ध नही होते।*

जल्हण [12 वी सदी] ने राजशेखर के नाम से अपनी 'सूक्तिमुक्तावली' में जो पद्य उद्धृत किया है वह प्रतिहारराजा महेन्द्रपालदेव [वि स 960 के लगभग] के उपाध्याय एव 'काव्यमीमासाकार राजशेखर का है।@ इनका उल्लेख सोमदेवसूरि ने [ई 960] के 'यशस्तिलकचम्पू' में भी पाया जाता है। अत राजशेखर जो 'प्रबन्धकोश' के कर्ता राजशेखर से भिन्न है का समय 10 वी सदी सुनिश्चित है। राजशेखर के द्वारा प्रशसित होने के कारण धनजय का समय 10 वी सदी के बाद का नही हो सकता।

डॉ हीरालाल जैन ने 'षटखण्डागम' (प्रथमभाग) की प्रस्तावना (पृ 62) में यह सूचित किया है कि आचार्य जिनसेन के गुरु वीरसेन स्वामी ने षट्खण्डागम की 'धवलाटीका' में 'अनेकार्थ नाममाला' का 39 वॉं पद्य इति शब्द की व्याख्या में उद्धृत किया गया है।# धवला टीका विक्रम स 805-873 (ई सन् 748-816) मे समाप्त हुई। अत धनजय कवि का समय 8 वी सदी का उत्तरार्ध या नवीं सदी के पूर्वार्द्ध के बाद का नही हो सकता।$

नाममाला के अन्त में धनजय ने तत्वार्थराजवार्तिककार' अकलकदेव का उल्लेख प्रमाणमकलकस्य' श्लोक में किया। अकलकदेव का समय ई 7 वी सदी निश्चित है अत धनजय 7 वी सदी के पूर्व के नही हो सकते। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार से धनजय महाकवि का काल 8 वी सदी प्रमाणित/ सिद्ध होता है।

----

*, जैनधर्म का प्राचीन इतिहास (भाग 2) लेखक प परमानन्द शास्त्री प्रका मसर्स रमेशचन्द जैन मोटरवाले राजपुर रोड दिल्ली प्रथम सस्करण वीर निर्वाण सवत 2500 पृष्ठ 138।

@ पी एल वैद्य मयूरभज प्रोफे एव अध्यक्ष संस्कृत पाली विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा सभाष्य नाममाला का अग्रेजी प्राक्कथन पृष्ठ 5।

स्व प महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य द्वारा नाममाला सभाष्य की प्रस्तावना पृष्ठ 12 13।

$ नाममाला (अमरकीर्ति के भाष्य सहित) सपा प शम्भूनाथ त्रिपाठी प्रका भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रथमसस्करण वीर निर्वाण स 2476 प्रस्तावना पृष्ठ 13।

~ द्विसधानमहाकाव्य प्रका भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रथम सस्करण।

% सभाष्य नाममाला प्रस्तावना पृष्ठ 13 शेष विवरण पूर्वोक्तवत।

+ सभाष्य नाममाला प्रस्तावना पृष्ठ 12 शेष विवरण पूर्वोक्तवत।

* तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा लेखक स्व प नेमिचन्द शास्त्री ज्योतिषाचार्य प्रका श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वद्परिषद सागर प्रथम सस्करण 2501 पृष्ठ 7।

@ जैनधर्म का प्राचीन इतिहास (भाग 2) लेखक प परमानन्द शास्त्री शेष विवरण पूर्वोक्तवत पृष्ठ 140

जैनधर्म का प्राचीन इतिहास (भाग 2) पृष्ठ 140।

$ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पृष्ठ 7 8 शेष विवरण पूर्वोक्तवत।

• • •

अनुक्रम

श्रमण शतक

[१]

श्रीवर्धमान ! माऽय आकलय्य नत-सुराप्तमानमाय ! ।
विधींश्चामानमाय - मचिरेण कलयामानमाय ! ।।

अये श्री वर्धमान ! नतसुर ! आप्तमानमाय ! अमानमाय ! (त्व) विधीन् अमान् च अचिरेण अमा आकलय्य य मा (मा) कलय।

श्रीति- अये **श्रीवर्धमान! हे सन्मते! हे नतसुर! नताः सुरा यस्मै नतसुरस्तत्सम्बुद्धौ। हे आप्तमानमाय! मान च ज्ञानं च मा च लक्ष्मीश्च यश्च यशश्चेति मानमाया आप्ता प्राप्ता मानमाया येन तत्सम्बुद्धौ। 'स्त्रिया स्यान्मा रमायां च'। 'मानं प्रमाणे प्रस्थादौ'।** 'यो वातयशसो पुसि' **इतिच विश्वलोचन।हे अमानमाय! मानो गर्वश्च माया छल चेति मानमाये अविद्यमाने मानमाये यस्य तत्सम्बुद्धौ त्वम् विधीन् कर्माणि अमान् च रोगाश्च। अचिरेण शीघ्र अमा साकं। आकलय्य नाशयित्वा मा मां अयं --कल्याण यद्वा य यश कलय प्रापय ।।१।।**

अर्थ- जिनके समक्ष देव नम्रीभूत हैं--जिन्हें देव नमस्कार करते है, जिन्होंने ज्ञान, लक्ष्मी और यश को प्राप्त किया है तथा जो मान और माया से रहित है, ऐसे हे वर्धमान जिनेन्द्र! मेरे कर्म और जन्म-जरा-मृत्युरूप रोगों को एक साथ शीघ्र ही नष्ट कर मुझे अय--कल्याणरूप अवस्था अथवा सुयश को प्राप्त कराओ ।।१।।

[२]

तमनिच्छन् पुनर्भवं नृपनतमुकुटमणिलसितपुनर्भवम् ।
नत्वेच्छे पुनर् भवं भद्रबाहुमहमपुनर्भवम् ।।

त पुनर्भव अनिच्छन् अह नृपनतमुकुटमणिलसितपुनर्भव भद्रबाहु नत्वा पुन अपुनर्भवम् भवम् इच्छे।

तमिति- **तं प्रसिद्ध सर्वजनप्राप्तं पुनर्भवं पुनर्जन्म अनिच्छन् अनभिलषन् अह स्तोता। नृपनतमुकुटमणिलसितपुनर्भव नृपाणां चन्द्रगुप्तप्रभृतिनरेन्द्राणा नतानि नम्राणि यानि मुकुटानि मौलयस्तत्र स्थितैर्मणिभी रत्नैर्लसिताः सुशोभिता पुनर्भवा नखा यस्य तं भद्रबाहुं तन्नामानं श्रुतकेवलिनं नत्वा नमस्कृत्य पुनः पश्चात् नमस्कार-फलस्वरूपं अपुनर्भवं पुनर्जन्मरहितं भवं पर्यायं मुक्तावस्थामिति यावत् इच्छेऽभिलषामि। 'इच्छे' इत्यत्रात्मनेपदमार्षम् ।।२।।**

अर्थ- जगत्प्रसिद्ध पुनर्जन्म को न चाहता हुआ मै राजाओ के नम्रीभूत मुकुटमणियों से सुशोभित नखवाले भद्रबाहु श्रुतकेवली को नमस्कार कर पश्चात् पुनर्जन्म से रहित सिद्धपर्याय की इच्छा करता हू ।।२।।

[३]

प्रणमामि 'कुन्दकुन्द' भव्यपद्मबन्धुं धृतवृषकुन्दम् ।
गत च समताकुं दं परमं सम्यक्त्वैककुन्दम् ।।

भव्यपद्मबन्धु धृतवृषकुन्द, समताकु गत परम द च (गत), सम्यक्त्वैककुन्द 'कुन्दकुन्द' प्रणमामि ।

प्रणमामीति- **भव्यपद्मबन्धु भव्या एव पद्मानि कमलानि तेषां बन्धु प्रहर्षकरं। धृतवृषकुन्द धृतो वृषस्य कुन्दश्चक्र येन तं 'कुन्दो माध्ये पुमांश्चक्रे भ्रमौ निधिसुरद्विषो' इति विश्वलोचन। समताकु समता साम्यपरिणतिरेव कु धरित्री तां 'क्षमाधरित्री क्षितिश्च कु' इति धनञ्जय। परमं श्रेष्ठं दं च शुद्धिं च गतं प्राप्तं 'द शुद्धौ देवने दास्तु' इति विश्वलोचन। सम्यक्त्वैककुन्द सम्यक्त्वमेव एकोऽद्वितीय कुन्दो निधिर्यस्य तं। कुन्दकुन्दं तन्नामाचार्यप्रवर प्रणमामि नमस्करोमि ।।३।।**

अर्थ- जो भव्य जीवरूपी कमलों के बन्धु है– उन्हें हर्षित करने वाले है, जिन्होने धर्मचक्र को धारण किया है, जो समतारूपभूमि तथा श्रेष्ठ पवित्रता को प्राप्त है और सम्यग्दर्शन ही जिनकी अद्वितीय निधि है, उन कुन्दकुन्दाचार्य को मै प्रणाम करता हूँ।।३।।

[४]

शुचौ स्वपदे शीतक यो 'ज्ञानाब्धिं' सदुपदेशी तकम् ।
निज-सपदेऽशीतक यजेऽघशुचिविपदे शीतकम् ।।

य सदुपदेशी, तक शुचौ स्वपदे शीतकम् अशीतकम्, अघशुचिविपदे शीतक 'ज्ञानाब्धि' [ज्ञानसागरम्] निजमपदे यजे ।

शुचाविति- **य सदुपदेशी सत्समीचीनमुपदिशतीत्येवशील आसीत्। तक तमेव तक स्वार्थेऽकच्प्रत्यय। स्वपदे स्वस्थाने शीतक सुस्थित स्वस्य ज्ञायकस्वभावे स्थितमित्यर्थ ।'शीतक सुस्थिते शीतकालेऽनागतदर्शिनि' इति विश्वलोचनः ।अशीतकं अशीतोऽप्रमत्त क आत्मा यस्य तम्। अघशुचिविपदे अघ पापमेव शुचिविपद् ग्रीष्मर्तुविपत्तिस्तस्यै शीतक शीत च तत् क च जलं चेति शीतक शिशिरसलिल ज्ञानाब्धिं ज्ञानसागरनामाचार्यनिजमपदे स्वकीयसम्पत्त्यै आत्मज्ञानसम्पत्तिलाभाय यजे पूजयामि। 'शुचिः पुंस्युपधाशुद्धमन्त्रिण्याषाढबर्हिषोः।शृङ्गारग्रीष्मयो श्वेन्तमेध्यानुपहते त्रिषु'इति विश्वलोचन।'वार्वारि क पयोऽम्भोऽम्बु' इति धनञ्जय ।।४।।**

अर्थ- मै आत्मज्ञानरूप सपदा के लिए उन ज्ञानसागर आचार्य की पूजा करता हूँ। जो सदुपदेशी थे, शुद्ध आत्मस्वभाव मे स्थित थे, प्रमादरहित थे और पापरूपी ग्रीष्म ऋतु की प्यासरूप विपत्ति को दूर करने के लिए शीतलजल थे ।।४।।

[५]

अये ! सरस्वति ! मातः संसारादहमतिभीतो मातः ।
विलम्बं कलय मा त उपासकं प्रपालय माऽतः ।।

अये सरस्वति मात !अह ससारात् मात अतिभीत अत विलम्ब मा कलय, ते उपासक मा (मां) प्रपालय ।

अय इति-**अये सरस्वति!मातः!हे शारदे मातः!अहं संसारात् मातःसंसाररूपाद् बन्धात्'मा क्षेपे मानबन्धयो' इति विश्वलोचनः।अतिभीतः सातिशयं त्रस्तोऽस्मि। अतो विलम्बं कालक्षेपं मा कलय नो कुरु। ते तव उपासकं सेवकं मा स्तोतारं 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति सूत्रेण मामित्यस्य स्थाने मादेशः। प्रपालय प्रकर्षेण रक्ष ।।५।।**

अर्थ- हे सरस्वतिमात ! मै समाररूप वध से अत्यन्त भयभीत हूँ, अत विलम्ब मत करो, अपने मेवक–मुझ की रक्षा करो ।।५।।

[६]

वच आश्रित्य साधु तां साधुनुतां साधुगुणपयसा धुताम् ।
साधुतार्थमसाधुता साधुरुपोज्झ्य वदे साधुताम् ।।

साधु (अह) साधु-वच आश्रित्य असाधुताम् उपोज्झ्य साधुतार्थं साधुनुता साधुगुणपयसा धुता ता माधुता वदे ।

वच इति- **साधुर्मुनिरहम्। साधु समीचीनं वचो वचनमाश्रित्यावलम्ब्य। असाधुतां दुर्जनता उपोज्झ्य त्यक्त्वा । साधुतार्थं साधुतायै इदमिति साधुतार्थं साधुतायाः प्राप्त्यै साधुनुता साधुभिर्नुता स्तुता। साधुगुणपयसा साधूनां गुणाः साधुगुणा मुनीनां मूलगुणास्त एव पयो जलं तेन धुता प्रक्षालितां तां प्रसिद्धा साधुतां साधोर्भावः साधुता तां श्रमणतां वदे सदिशामि कथयामीत्यर्थः। सदेशार्थत्वादात्मनेपदप्रयोगः।'साधुर्वार्धुषिके पुंसि चारुसज्जनयोस्त्रिषु' इति विश्वलोचनः। साधवः साधुतामङ्गीकुर्वन्त्विति भावनया जिनवचनानुसारं साधुता वर्णयामीति भावः ।।६।।**

अर्थ- मै साधु–श्रेष्ठ वाणी का आश्रय लेकर तथा असाधुता–दुर्जनता को छोडकर सज्जनों के द्वारा स्तुत और साधुओं के मूलगुणरूपी जल से धुली हुई उस साधुता का, साधुता की प्राप्ति के लिये कथन करता हू ।।६।।

[७]

मनाङ् मान मोरसि मुनिरेतु रचयतु रुचि जिनवचसि ।
वसत्वरण्ये रहसि स्नातुमिच्छति स्वचित्सरसि ।।

मुनि उरसि मनाङ् मान मा एतु। (चेत्) स्वचित् सरसि स्नातुम् इच्छति (तदा) जिनवचसि रुचि रचयतु, रहसि अरण्ये (च) वसतु।

मनाडिति- **मुनिर्यति उरसि हृदये मनाङ् ईषदपि मानं ज्ञानादिजातं गर्वं मा एतु न प्राप्नोतु। चेत् स्वचित् सरसि स्वस्य चिदेव सरस्तस्मिन् स्वकीयज्ञानकासारे स्नातुं स्नानं कर्तुमिच्छति वाञ्छति तर्हि जिनवचसि रुचि प्रीतिं रचयतु करोतु। रहसि एकान्ते अरण्ये वने वसतु निवास कुरु ।।७।।**

अर्थ–मुनि को चाहिये कि वह हृदय मे किञ्चित् भी मान को प्राप्त न हो। यदि वह आत्मज्ञान रूपी सरोवर में स्नान करना चाहता है तो जिनवचन–जिनागम मे रुचि करे एव एकान्त वन मे निवास करे।।७।।

[८]

याति यतिर्यदि जातु न कर्म तस्यावश्य हृदि भातु ।
स्वतत्त्वमिति हि विधातुर्गीर्जगद्भ्य सुखं ददातु ।।

''यदि यति कर्म न याति जातु, (तदा) तस्य हृदि स्वतत्त्वम् अवश्य भातु'' -इति विधातु गी , (सा) जगद्भ्य सुख ददातु ।

यातीति- **यदि यति साधुः जातु कदाचित् कर्म बाह्यक्रियाडम्बर न याति न प्राप्नोति तर्हि तस्य हृदि मानसे 'स्वान्तं हृन्मानसं मन' इत्यमर। अवश्य नियमेन स्वतत्त्वमात्मतत्त्व भातु शोभताम्। इत्येवंप्रकारा विधातुर्भगवतो गीर्भारती जगद्भ्यो लोकेभ्यो निश्चयेन सुख ददातु ।।८।।**

अर्थ- यदि मुनि कभी बाह्यक्रियाओं के आडम्बर को प्राप्त न हो तो उसके हृदय मे आत्मतत्त्व नियम से सुशोभित होने लगे। जिनेन्द्र भगवान् की ऐसी वाणी जगत् के लिये सुख प्रदान करे ।।८।।

[९]

भवता विषयवासनाऽपास्यतामुपास्यतां निजभावना ।
प्राहेति जैनोऽमना यद् भवन्तमटेत् शिवाङ्गना ।।

भवता विषयवासना अपास्यताम्, निजभावना उपास्यताम्। यद् भवन्त शिवाङ्गना अटेत्-इति अमना जैन प्राह ।

भवतेति- **हे साधो ! भवता त्वया विषयवासना पञ्चेन्द्रियविषयाभिरुचि।**

स्यतां त्यज्यताम् । निजभावना स्वस्वभावचिन्तनमुपास्यतां सेव्यतां क्रियतामित्यर्थ। यद् यस्मात् शिवाङ्गना मुक्त्यङ्गना भवन्तं त्वां अटेत् प्राप्नुयात्। इतीत्थम्। अमना भावमनोरहित। जैनो जिन एव जैनः। प्राह प्रोवाच।।९।।

अर्थ– हे साधो ! तुम्हे विषयवासना–इन्द्रियविषयो की अभिरुचि छोड़ देनी चाहिए और स्व–स्वरूप की भावना करना चाहिये, जिससे मुक्तिरूपी स्त्री तुझे वर सके, ऐसा भावमनरहित–केवलज्ञानी जिनदेव ने कहा है ।।९।।

[१०]

श्रमैकफलारम्भतः पौद्गलिक-पुण्यपापोपलम्भतः ।
दृक्कथमुदेति हन्त ! नवनीतं नीरमन्थनतः ? ।।

पौद्गलिक-पुण्यपापोपलम्भत श्रमैकफलारम्भ हन्त ! दृक् कथम् उदेति ? (किं) नीरमन्थनत नवनीतम् (उदेति) ?

श्रमैकेति- **हे मुने ! श्रमैकफलारम्भतः श्रम एवैकं फलं यस्य स श्रमैकफलः स चासावारम्भश्च तस्मात् खेदप्रदायकविविधकार्यप्रारम्भात् पौद्गलिकपुण्यपापोपलम्भतः पौद्गलिके पुद्गलाज्जाते ये पुण्यपापे सुकृतदुष्कृते तयोरुपलम्भता प्राप्तेः दृक् सम्यग्दर्शनं कथ उदेति उत्पद्यते हन्तेति खेदे। नीरमन्थनत. तोयमन्थनात् किं क्वापि नवनीतं प्राप्यते? अपि तु न प्राप्यते ।।१०।।**

अर्थ- एक खेद ही जिसका फल है, ऐसे आरम्भ से तथा पौद्गलिक पुण्यपाप की प्राप्ति मे सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न हो सकता है ? खेद की बात है कि, क्या कहीं जल के मन्थन से मक्खन की प्राप्ति होती है ? अर्थात् नहीं ।।१०।।

[११]

स्वानुभवकरणपटवस्ते तान्विकतपस्तनूकृततनवः ।
विविक्तपटाश्च गुरवस्तिष्ठन्तु हृदि मे मुमुक्षवः ।।

स्वानुभवकरणपटव तान्विकतपस्तनूकृततनव मुमुक्षव विविक्तपटाश्च ते गुरव. मे हृदि तिष्ठन्तु ।

स्वानुभवेति- **ये स्वानुभवकरणपटवः स्वस्यानुभवः स्वानुभवस्तस्य करणे पटवो निपुणाः सन्ति। ये तान्विकतपस्तनूकृततनवः तनौ भवं तान्विकं शारीरिकं यत्तपस्तेन तनूकृता तनुः शरीर यैस्ते । ये विविक्तपटा विविक्तस्त्यक्तः पटो वस्त्रं यैस्ते निरम्बराः। ये च मुमुक्षवो मोक्षाभिलाषिणः सन्ति ते गुरवो मे मम स्तोतुः हृदि हृदये तिष्ठन्तु आसीना भवन्तु। तेषामह प्रतिक्षणं ध्यान करोमीति भावः ।।११।।**

अर्थ- जो स्वानुभाव के करने मे निपुण है, जिनका शरीर, शारीरिक तप से कृश

हो गया है, जिन्होने वस्त्र का परित्याग कर दिया है और जो मोक्षाभिलाषी है, वे गुरु हमारे हृदय मे स्थित हो। मै निरन्तर उनका ध्यान करता हूँ ।।११।।

[१२]

निन्द्यं न नीतमस्तं मनो नैमित्तिकं येन समस्तम् ।
अन्धोऽरुणं प्रशस्तं किं संपश्यति पुरुषं स तम् ।।

येन समस्त नैमित्तिक निन्द्य मन अस्त न नीतम, कि स त प्रशस्त पुरुष सपश्यति ? (नैव), यथा अन्ध प्रशस्तम् अरुणम् (नैव पश्यति)।

निन्द्यमिति- **येन मुनिना समस्तं नैमित्तिकं निमित्तेन जातं निन्द्य मनश्चित्तं लक्षणया मनोव्यापारः । अस्तं समाप्तिं न नीतं नो प्राप्त स कि प्रशस्तं श्रेष्ठं तं पुरुषं परमात्मान सपश्यति समवलोकते ? नेत्यर्थ। तदेवोदाह्रियते—अन्ध किं प्रशस्तं विभ्राजमानमरुण सूर्यं किं पश्यति ? नेत्यर्थ। 'पुरुष पुन्नागमातङ्गे माधवे परमात्मनि' 'अरुणोऽनूरुसूर्ययो' इति च विश्वलोचनः ।।१२।।**

अर्थ- जिसने समस्त नैमित्तिक निन्दनीय मन को अस्त नहीं किया वह क्या प्रशस्त परमात्मा का अवलोकन कर सकता है? जैसे अन्धा मनुष्य क्या प्रशस्त सूर्य को देख सकता है? अर्थात् नहीं ।।१२।।

[१३]

जित क्षुधादिपरिषह पुद्गलकृतरागादि-भावासह ।
वीतरागतामजहच्चाञ्चति यति स्वं मुदा सह ।।

जितक्षुधादिपरिषह पुद्गलकृत-रागादि-भावासह वीतरागताम् अजहत् यति स्व मुदा सह अञ्चति।

जितेति- **जितक्षुधादिपरिषह जिता क्षुधादयः परिषहा येन तथाभूत। पुद्गल—कृतरागादिभावासह पुद्गलकृता ये रागादिभावास्तेषामसह। वीतरागतां नीरागपरिणतिमजहत् अत्यजन् यति साधु स्वं निजात्मान मुदा हर्षेण सह साकं अञ्चति गच्छति प्राप्नोतीत्यर्थ। 'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसमदाः' इत्यमरः ।।१३।।**

अर्थ- जिसने क्षुधा आदि परिषहो को जीत लिया है, जो पुद्गलकृत रागादिभावों को सहन नहीं करता है और वीतरागता को नहीं छोडता है, ऐसा साधु हर्ष के साथ स्वात्मा को प्राप्त होता है ।।१३।।

[१४]

वै यम्ययत्यप्यय दिव्य स्वीयमनिन्द्यं यद् द्रव्यम् ।
निश्चयनयस्य विषयं गृहीव परिग्रही नाव्ययम् ।।

अय परिग्रही यमी अपि निश्चयनयस्य विषय यद् स्वीयम् अनिन्द्यं दिव्यम् अव्यय द्रव्य गृही इव वै न अयति।

वै इत्यादि- **अयमेव परिग्रही सग्रन्थो यमी मुनिरपि निश्चयनयस्य विषयं गोचरं यत् स्वीयं स्वकीयं अनिन्द्यं प्रशस्यं दिव्यमनुपमं अव्ययमनश्वरं द्रव्यं तद् गृहीव गृहस्थ इव वै निश्चयेन न अयति न प्राप्नोति। यथा सग्रन्थो गृहस्थः शुद्धबुद्धस्वभावं स्वात्मानं न लभते नानुभवति तथा सग्रन्थो मुनिरपि न लभते इत्यर्थः ।।१४।।**

अर्थ- यह परिग्रहवान् मुनि भी निश्चयनय के विषयभूत, अनिन्दनीय, दिव्य और अविनाशी स्वकीय द्रव्य को गृहस्थ के समान प्राप्त नहीं होता। अर्थात् जिस प्रकार परिग्रही गृहस्थ शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार परिग्रही साधु भी नहीं प्राप्त होता।

भावार्थ- दीक्षा के समय परिग्रह का सर्वथा त्यागकर पश्चात् किसी कार्य के ब्याज से परिग्रह को स्वीकार करने वाला मुनि भी गृहस्थ के समान आत्मानुभव से वञ्चित रहता है ।।१४।।

[१५]

अमन्दमनोमराल ! विविक्तविविधविकल्पवीचिजालम् ।
कलितवृषकमलनाल वित्-सरो मुक्त्वाऽन्येनालम् ।।

अमन्दमनोमराल ! विविक्त-विविध-विकल्पवीचिजाल कलितवृषकमलनाल वित्सर मुक्त्वा अन्येन अलम्।

अमन्देति- **स्वीय मन सम्बोधयति कवि:—हे अमन्दमनोमराल! मन एव मरालो हंसो मनोमरालः अमन्दश्चासौ चपलश्चासौ मनोमरालश्चेति तत्सम्बुद्धौ। विविक्तविविधविकल्पवीचिजाल विविधविकल्पा एव वीचयस्तरङ्गास्तासा जाल समूह विविक्त रहित विविधविकल्पवीचिजालं यस्मिन् तथाभूतं। कलितवृषकमलनाल कलितं धृत वृषकमलस्य धर्मसरोजस्य नालं मृणाल यस्मिन् तत्। वित्सरो विदेव सरस्त ज्ञानकासार मुक्त्वा त्यक्त्वा अन्येन सरसा अल व्यर्थमिति यावत्। ज्ञानसरोवर एव रमस्वेति भावः ।।१५।।**

अर्थ- हे चञ्चलमनरूपी हस! नाना विकल्परूपी तरङ्गो के जाल से रहित तथा धर्मरूप कमल की मृणालों से सहित जो ज्ञानरूपी सरोवर है उसे छोड अन्य सरोवर व्यर्थ है।।१५।।

[१६]

योहीन्द्रियाणि जयति विश्वयत्नेन स जायते यतिः।
मुनिरयं त कलयति शुद्धात्मान च ततोऽयति ।।

य इन्द्रियाणि विश्वयत्नेन जयति, स यति जायते। अय मुनि त कलयति, तत शुद्धात्मान च अयति।

य इति- **यो हि निश्चयेन विश्वयत्नेन सम्पूर्णप्रयत्नेन इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि हृषीकाणि जयति स्ववशीकरोति स इन्द्रियविजेता यतिर्मुनि जायते। अयमेष मुनि स्तोता तमिन्द्रियविजय इन्द्रियविजेतार यति वा कलयति सपादयति प्राप्नोतीति यावत्। ततस्तस्मात् शुद्धात्मान रागादिविभावरहितमात्मानम् अयति प्रपद्यते ।।१६।।**

अर्थ- जो पूर्ण यत्न से इन्द्रियो को जीतता है निश्चय से वह यति–साधु है। यह मुनि इन्द्रियविजय अथवा इन्द्रियविजेतापने को प्राप्त होता है। अत रागादिविकारों से रहित शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है–उस रूप परिणमन करता है। ।।१६।।

[१७]

सुपीतात्मसुधारस सयमी सुधीर्यश्च सदाऽरस ।
ऋषे! विषयस्य सरस किल किं वार्वाञ्छति नर स ?।।

ऋषे! य सुपीतात्मसुधारस सुधी सयमी सदा अरस स नर विषयस्य सरस वार् किल वाञ्छति ?

सुपीतेति ऐ **ऋषे! य सुपीतात्मसुधारस सुपीतः अनुभूत आत्मैव सुधारसोऽमृतरसो येन तथाभूत। सयमी सयत इन्द्रियविजयीत्यर्थ । सुधी सम्यग्ज्ञानोपेत । सदा सर्वदा अरसो विषयास्वादरहितो वर्तते इति शेष । स नरो मनुजो विषयस्यपञ्चेन्द्रियविषयभूतस्पर्शादिः सरस सरोवरस्य वार्जल, 'वा र्वारि क पयोऽम्भोऽम्बु पाथोऽर्ण सलिल जलम्' इति धनञ्जय । कि वाञ्छति? काक्षति? नेति यावत्। किलेति वाक्यालङ्कारे ।।१७।।**

अर्थ- हे ऋषे ! जिसने आत्मारूपी अमृतरस का अच्छी तरह पान किया है, जो सयमी है, हिताहित के विवेक से सहित है और सदा विषयास्वाद से विरक्त है, वह मनुष्य विषयरूपी तालाब के जल की क्या इच्छा करता है? अर्थात् नहीं ।।१७।।

[१८]

य समयति स्वसमयं विबोधबलेन विहाय परसमयम् ।
संवरोऽस्तु स्वयमयं तस्यास्रवारिः प्रतिसमयम् ।।

य विबोधबलेन परसमय विहाय स्वसमय समयति, तस्य अयम् आस्रवारि सवर स्वय प्रतिसमयम् अस्तु।

य इति- **यो मुनिः विबोधबलेन सम्यग्ज्ञानबलेन परसमयं परपदार्थं विहाय त्यक्त्वा स्वसमयं स्वशुद्धात्मानं समयति सम्यक्प्रकारेण प्राप्नोति तमनुभवतीति यावत्। तस्य प्रतिसमयं प्रतिक्षणं आस्रवारिरास्रवविरोधी अयं संवरः कर्मागमननिरोधः स्वयं स्वतः अस्तु भवतु। परसमयप्रवृत्तिरेवास्रवः स्वसमयप्रवृत्तिरेव संवरो भवतीति भावः। 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः ।।१८।।**

अर्थ- हे भगवान्! जो विज्ञान के बल से परसमय–परपदार्थों को छोड़कर स्वसमय–निज शुद्ध आत्मा को प्राप्त होता है, उसी का अनुभव करता है, उसके प्रत्येक समय–क्षण क्षण मे आस्रव का विरोधी संवर स्वयं प्राप्त होता है। ।।१८।।

[१९]

व्रतिनो न शल्यत्रयं कलयन्तु किलाऽखिलारत्नत्रयम् ।
शुद्धं स्पृशन्त्वत्र यं निजात्मानं स्तुतजगत्त्रयम् ।।

-अखिला व्रतिनः किल रत्नत्रयं कलयन्तु, न शल्यत्रयम्। यं स्तुतजगत्त्रयं शुद्धं निजात्मानम् अत्र स्पृशन्तु।

व्रतिन इति- **अखिला सर्वे व्रतिनो व्रतवन्तः। किल निश्चयेन रत्नत्रयं सम्यग्दर्शन– ज्ञानचारित्ररूपं कलयन्तु प्राप्नुवन्तु। शल्यत्रयं मायामिथ्यात्वनिदानरूपं न कलयन्तु। किञ्च, अत्र जगति शुद्धं निर्विकारं, स्तुतजगत्त्रयं स्तुतं जगत्त्रयेणेति स्तुतजगत्त्रयं त्रिलोकवन्द्यमित्यर्थः निजात्मानं स्वात्मानं स्पृशन्तु समनुभवन्तु । रत्नत्रयरूपलक्षणेन लक्ष्यभूतं निजात्मानमनुभवन्त्विति भावः ।।१९।।**

अर्थ- समस्त व्रती मनुष्य यथार्थ में रत्नत्रय को प्राप्त हो–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। माया,मिथ्यात्व और निदानरूप शल्य को प्राप्त न हों। साथ ही, उस रत्नत्रय रूप लक्षण से जगत्त्रय के द्वारा स्तुत निजशुद्ध आत्मा का स्पर्श–अनुभव करें।।१९।।

[२०]

अधिगतोचितानुचितः स्वचिन्तनवशीकृतचञ्चलचित्तः ।
शिवपथपथिकः कश्चित् पदं कुपथं नयति किं क्वचित् ? ।।

कश्चित् अधिगतोचितानुचितः स्वचिन्तनवशीकृतचञ्चलचित्तः शिवपथपथिकः किं क्वचित् कुपथं पदं नयति ?

अधीति- **अधिगतोचितानुचितः उचितं च अनुचितं चेत्युचितानुचिते अधिगते ज्ञाते उचितानुचिते येन स योग्यायोग्यविचारचतुरः। स्वचिन्तनवशीकृतचञ्चलचित्तः**

स्वस्य चिन्तनेन वशीकृत चञ्चलचित्त येन स। शिवपथपथिकः शिवस्य मोक्षस्य पन्था. शिवपथस्तस्य पथिकः पान्थः कश्चित् कोऽपि जन. क्वचित् कुत्रापि किं पदं चरणं कुपथ कुमार्गं नयति प्रापयति ? अपि तु नैव नयति। 'अकथित च' इत्यनेन नयते द्विकर्मकत्वं प्रसिद्धम् ।।२०।।

अर्थ- जिसने उचित और अनुचित को जान लिया है तथा आत्मचिन्तन के द्वारा जिसने चञ्चलचित्त को अपने अधीन कर लिया है, ऐसा मोक्षमार्ग का कोई पथिक कहीं क्या अपना पग कुमार्ग म ले जाता है ? अर्थात् नहीं ।।२०।।

[२१]

जिनसमयं जानीत आत्मानं नेति जिनेन स गीतः।
यद्यपि यो भवभीत· प्रमादेन विकार नीत· ।।

'यद्यपि यो भवभीत , प्रमादेन विकार नीत , जिनसमय जानीते, स आत्मान न (जानीते)' -इति जिनेन (स) गीत ।

जिनेति- **भवभीत· भवात् ससारात् भीत उद्विग्न यो जन· प्रमादेन अनवधानतया 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः । विकार विकृति नीत. प्राप्तः स यद्यपि जिनसमय जिनसिद्धान्त जानीते विपुल द्रव्यश्रुत जानाति तथापि आत्मान ज्ञायकस्वभावमात्मान न जानाति कर्मनोकर्मभिन्न स्वात्मान न परिचिनोति। इतीत्थ जिनेनार्हता गीत· कथित· । आत्मज्ञानेन विना द्रव्यश्रुतज्ञानस्य गरिमा नास्तीति भावः ।।२१।।**

अर्थ- यद्यपि जो ससार मे भयभीत है परन्तु प्रमाद से विकार को प्राप्त हो गया है वह जिनसमय–जिनशास्त्र को जानता हुआ भी आत्मा को नहीं जानता है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

भावार्थ-आत्मज्ञान के बिना ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्व का विशाल श्रुतज्ञान भी मोक्षमार्ग मे सहायक नहीं है, परन्तु आत्मज्ञान से सहित अष्टप्रवचनमातृका का अल्पज्ञान भी आत्मा को केवलज्ञानी बना देता है।।२१।।

[२२]

मायादिभावमवहन्ननघज्ञानघनौघममलं महः ।
मुहु कलयामि तदहमुदीक्ष्य मयूरो मुदा सह ।।

मायादिभावम् अवहन् अह मयूर तद् अमल मह अनघज्ञानघनौघ मुहु उदीक्ष्य मुदा मह कलयामि ।

मायादीति- **मायादिभाव दम्भादिविकृतिपरिणतिम् अवहन् अदधत् अहं स्तोता**

मयूरो नीलकण्ठःतत्प्रसिद्धं अमलं विमलं महस्तेजोरूपं अनघज्ञानघनौघं अनघ निष्पापं ज्ञानमेव घनौघं मेघसमूहं उदीक्ष्य समवलोक्य मुदा प्रमोदेन सह सार्धं मुहुः ध्वनिं करोमि नृत्यामि वा। यथा गगने गर्जन्तं घनाघनं समुद्वीक्ष्य केकी केकां कुर्वाणो हर्षेण नृत्यति तथाहं समवसरणस्थितजिनेन्द्रस्य केवलज्ञानवैभवमुन्नयनो विलोक्य प्रमुदितो मुहुर्मुहः स्तवन विदधानो नृत्यामीति भावः ।।२२।।

अर्थ- मायाचार आदि विकारीभावों को न धारण करने वाला मैं मयूर, उस प्रसिद्ध तेजोमय निष्कलङ्क ज्ञानरूप मेघसमूह को देखकर हर्ष के साथ स्तवन करता हूँ अथवा नृत्य करता हूँ ।।२२।।

[२३]

सद्दृग्विद्भ्यां मित्रं युक्तं व्यक्तमात्मनश्च चरित्रम् ।।
सुखं ददाति विचित्रं तीर्थं त्वं धारय पवित्रम् ।।

सद्दृग् विद्भ्या युक्त, व्यक्त यत् विचित्र सुख ददाति, तीर्थं पवित्र मित्रं (एतादृश) आत्मन चरित्र त्व धारय।

सदिति- **सद्दृग्विद्भ्या सम्यग्दर्शनज्ञानाभ्या युक्त सहित व्यक्त प्रकटितं यद् विचित्र विविधमाश्चर्यकर वा स्वर्गापवर्गसमुद्भूत सुख ददाति। पवित्र निर्दोषं निश्छलं मित्र हितकर तीर्थं तीर्थस्वरूपं संसारसिन्धुसतरणघट्टस्वरूपमिति यावत्। आत्मनो न तु देहस्यैव चरित्र धारय स्वीकुरु सम्यग्दर्शनज्ञानसहित सम्यक्चारित्रमात्मन पवित्र मित्रमस्ति। अत हे श्रमण! तदेव स्वीकुर्विति भावः ।।२३।।**

अर्थ- सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त प्रकट हुआ जो विविध सुख को देता है, मित्र तथा तीर्थ स्वरूप उस आत्मचारित्र—निश्चयचारित्र को हे श्रमण ! धारण करो ।।२३।।

[२४]

यः स्वकमनुभवति स तां लभतेऽसुलभां श्रियमिति मतं सताम्।
येहानन्यसदृशतां समावहति शुचिं विलासताम् ।।

य स्वकम् अनुभवति, स तां असुलभा श्रिय लभते, या (श्री.) इह अनन्यसदृशता शुचि विलासता (च) समावहति——इति सता मतम् ।

य इति- **यो मुनि स्वकं स्वस्य क आत्मा तं अनुभवति तत्रैव रमत इति यावत्। स तां तादृशीं असुलभां दुर्लभां श्रियमनन्तचतुष्टयरूपश्रियं लक्ष्मीं लभते प्राप्नोति, या श्रीः इह लोके अनन्यसदृशताम् अन्योपमारहितां शुचिं पवित्रतां विलासता शोभां च समावहति दधाति। इतीत्थं सतां साधूनां मतमस्तीति शेषः ।।२४।।**

अर्थ- जो मुनि निज आत्मा का अनुभव करता है वह उस दुर्लभ लक्ष्मी को प्राप्त होता हैं जो इस जगत् की अनुपम पवित्रता और शोभा को धारण करती है।

भावार्थ- बारहवे गुणस्थान मे होने वाली आत्माश्रित शुक्लध्यान की भूमिका नियम से अनन्तचतुष्टयरूप अनुपम लक्ष्मी को प्रदान करती है ।।२४।।

[२५]

समुपलब्धौ समाधौ साधुस्तथागतरागाद्युपाधौ।
यथा सरिद् वारिनिधौ मुदमुपैति च निर्धनो निधौ ।।

गतरागाद्युपाधौ समुपलब्धौ समाधौ साधु तथा मुदम् उपैति, यथा सरित् वारिनिधौ निर्धन च निधौ (उपैति)।

समुपलब्धाविति **गतरागाद्युपाधौ गतो विनष्टो रागाद्युपाधिर्यस्मिन् तस्मिन् वीतरागपरिणतिमय इत्यर्थ समाधौ शुक्लध्याने समुपलब्धौ समीचीना उपलब्धि प्राप्तिर्यस्य तथाभूते सति साधु श्रमण तथा तादृश मुद हर्षम् उपैति प्राप्नोति यथा यादृश वारिनिधौ सागरे समुपलब्धं सरित् स्रवन्ती मुद प्रमोदमुपैति। यथा च निधौ निधाने समुपलब्धे निर्धनो दरिद्र समुपैति ।।२५।।**

अर्थ- रागादिरूप उपाधि से रहित शुक्लध्यान के प्राप्त होने पर मुनि उस प्रकार हर्ष को प्राप्त होता है जिस प्रकार समुद्र के प्राप्त होने पर नदी और खजाना के मिलने पर दरिद्र मनुष्य ।।२५।।

[२६]

भवकारणतो देह-रागात्किल दूरीभवन् सदेह ।
सुखप्रदे स्वपदेऽहमनुवसामि मुनिर्जितादेह! ।।

जितादेह भवकारणत देहरागात् इह सदा दूरीभवन् अह मुनि सुखप्रदे स्वपदे अनुवसामि ।

भवेति- **हे जितादेह! जित पराभूत अदेहोऽनङ्गो येन तत्सम्बुद्धौ हे जितकाम! भवकारणत भवस्य ससारस्य कारण निमित्तं तस्मात्। देहरागात् शरीरप्रीते। इह जगति सदा सर्वदा दूरीभवन् अह मुनि सुखप्रदे सुखदायिनि स्वपदे स्वस्थाने, आत्मस्वरूप इति यावत् 'पद व्यवसितस्थानत्राणलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमर। अनुवसामि सततं निवसामि तत्रैव रम इत्यर्थ ।।२६।।**

अर्थ- हे कामविजेता! जिनेन्द्र! ससार के कारणभूत शरीरसम्बन्धी राग से सदा दूर रहता हुआ मै मुनि, मुखदायक निजपद मे--ज्ञायकस्वभावी निजआत्मा मे निवास करता हूँ ।।२६।।

[२७]

प्राप्तो यैरेवैष स्वात्मानुभवो गतरागद्वेषः ।
तैर्जगति कोऽवशेषः प्राप्तव्योऽत्र ततो विशेषः ।।

एष गतरागद्वेष स्वात्मानुभव यै (एष) प्राप्त. तै अत्र जगति तत विशेषः क. प्राप्तव्य. अवशेष ?

प्राप्त इति- **एषोऽय गतरागद्वेषो गतौ रागद्वेषौ यस्मात् स रागद्वेषरहितः स्वानुभ व आत्मानुभवो यैरेष महाभागैः प्राप्तो लब्ध। तैरत्र जगति ततः स्वानुभवात् विशेषोऽधिक कः किंनामधेय प्राप्तव्य प्राप्तुं योग्य। अवशेषोऽवशिष्टः। स्वात्मानुभव एव जगति सर्वतो महानस्तीति भाव ।।२७।।**

अर्थ- जिन महानुभावो ने रागद्वेष से रहित स्वानुभव को प्राप्त कर लिया, उन्हे इस जगत् मे स्वानुभव मे अधिक और विशेष बाकी क्या रहा? अर्थात् कुछ नहीं।।२७।।

[२८]

रागादीन् सुधी पुमान् नैमित्तिका ननि यतान् नैतीमान्।
अनधिगत तत्त्वोऽसुमान् यति तु पर्यायान् परकीयान् ।।

सुधी पुमान् इमान् नैमित्तिकान अनियतान् रागादीन् न एति। अनधिगततत्त्व असुमान् तु परकीयान् पर्यायान् याति।

रागादीनिति- **सुधीः शोभना धीर्यस्य स विवेकवान् पुमान् पुरुष नैमित्तिकान् निमित्तेन चारित्रमोहोदयेन जाता समुत्पन्नास्तान् नैमित्तिकान् इमान् सम्प्रति अनुभूयमानान् अनियतान् अस्थिरात् रागादीन् रागादिविकारान् न एति न प्राप्नोति। तु किन्तु अनधिगततत्त्व अनधिगत तत्त्व वस्तुस्वरूप येन तथाभूत। असुमान् प्राणी परकीयान् परस्येमे परकीयास्तान् निमित्तदृष्ट्यान्यदीयान् पौद्गलिकानिति यावत् पर्यायान् परिणामान् याति प्राप्नोति। निमित्तजन्यत्वाद् रागादय स्वकीया न सन्ति किन्तु पौद्गलिकचारित्रमोहोदयजनितत्वात् परकीयाः सन्तीति भाव ।।२८।।**

अर्थ- ज्ञानी मनुष्य इन नैमित्तिक अस्थिर रागादि को प्राप्त नहीं होता—उन्हें अपना नहीं मानता। परन्तु तत्त्वव्यवस्था को न जानने वाला अज्ञानी प्राणी परकीयपर्यायों को प्राप्त होता हैं—उन्हें अपनी मानता है ।।२८।।

[२९]

बध्यते विधिना विधि स प्राहेति बोधैकनिधिर्विधिः ।
साधुर्विहितात्मविधिः येनाधिगतो हि विधेर्विधि ।।

येन हि विधे अधिगत. (एतादृश) विहितात्मविधि. साधु (भवति)। स बोधैकनिधि. —''विधि विधिना बध्यते'' इति प्राह ।

बध्यते इति- **येन हि विधेः कर्मणो विधिर्विधान अधिगतो ज्ञातः विहितात्मविधिः विहित कृत आत्मविधिरात्मकृत्य येन तथाभूत। साधुर्मुनिर्भवति। स बोधैकनिधिः बोध एव सम्यग्ज्ञानमेवैकोऽद्वितीयो निधिः कोष। विधिर्विधिना बध्यते बद्धः क्रियते 'विधिर्वेधसि काले ना विधाने नियतौ स्त्रियाम्' इति विश्वलोचनः ।।२९।।**

अर्थ- जिसने विधि–कर्म–भाग्य की विधि को जान लिया, जिसने आत्मा का विधि–कार्य–सवर–निर्जरा सम्पन्न कर ली है और सम्यग्ज्ञान ही जिसकी अद्वितीय निधि है ऐसा साधु अपनी विधि–नियमित चर्या से बद्ध होता है, बँधा रहता है, ऐसा विधि –ब्रह्मा–जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।।२९।।

[३०]

यदा साऽऽत्मानुभूतिरुदेति शुद्धचैतन्यैकमूर्तिः।
मुनिर्नश्वरविभूति-मिच्छति किं दुःखप्रसूतिम्?।।

शुद्धचैतन्यैकमूर्तिः सा आत्मानुभूति यदा उदेति, (तदा) किं मुनि नश्वरविभूति दु खप्रसूतिम् इच्छति ? (नेति)

यदेति- **शुद्धचैतन्यैकमूर्तिः शुद्धस्य रागादिरहितस्य चैतन्यस्य एका अद्वितीया मूर्तिः सा प्रसिद्धा आत्मानुभूतिः स्वानुभूतिः यदा उदेति प्रकटीभवति तदा किं मुनिः दुःखप्रसूतिं दुःखस्य प्रसूतिर्यस्या तथाभूता नश्वरविभूतिं भङ्गुरसम्पदां किं इच्छति ? अपि तु नेच्छति ।।३०।।**

अर्थ- शुद्ध चैतन्य की अद्वितीयमूर्तिस्वरूप वह आत्मानुभूति जब प्रकट होती है तब क्या मुनि दु ख को उत्पन्न करने वाली भङ्गुर सपदा की इच्छा करता है ? अर्थात् नहीं ।।३०।।

[३१]

भवत्या भोगसंपदि मुनिर्मोदमेति न कदापि सपदि।
धारयति समता हृदि हा ! न विषण्णो भवति च विपदि ।।

भोगसपदि भवत्या (सत्या) सपदि मुनि कदापि मोद न एति। हा ! (स) विपदि विषण्णो न भवति, हृदि (चो)समता धारयति।

भवत्यामिति- **भोगसपदि भवत्यां विद्यमानाया मुनिः साधुःकदापि जात्वपि सपदि शीघ्रं मोदं हर्षं न एति न प्राप्नोति। हृदि हृदये समता माध्यस्थ्यवृत्तिं धारयति विपदि विपत्तौ च विषण्णो विषादयुक्तो न भवति। हा हर्षे ।।३१।।**

अर्थ-भोगसपदा के रहते हुए मुनि कभी भी शीघ्र हर्ष को प्राप्त नहीं होता।हृदय मे समता को धारण करता है और हर्ष है कि विपत्ति मे खेदखिन्न भी नहीं होता।।३१।।

[३२]

पदं कुदृष्ट्यै देहि मा सास्ति भवेऽत्र दुःखप्रदेऽहिः।
त्वमित्थमवेहि देहिंस्तां त्यज स्वसम्पदं यदेहि।।

अत्र दु खप्रदे भवे मा (कुदृष्टि) अहि अस्ति। (अत) त्व कुदृष्ट्यै पदं मा देहि। (हे) देहिन् ! इत्थम् अवेहि, ता त्यज। यत् (यस्मात् कारणात्) स्वसम्पदम् एहि।

पदमिति-**अत्र दुःखप्रदे दुःखदायके भवे संसारे सा प्रसिद्धा कुदृष्टिः अहिः सर्पोऽस्ति। अतः त्व कुदृष्ट्यै पदं चरणं स्थानं वा मा देहि। हे देहिन् ! हे प्राणिन्! इत्थं अवेहि जानीहि। ता कुदृष्टि त्यज यत् यस्मात्कारणात् स्वसपदं एहि प्राप्नुहि ।।३२।।**

अर्थ- इस दु खदायक ससार मे मिथ्यादर्शन ही सर्प है। अत. तुम उसके लिये पद—स्थान मत देओ—उस ओर पग मत बढ़ाओ। हे प्राणी! ऐसा तुम जानो, उस मिथ्यादर्शन को छोडो जिससे स्वसपदा को प्राप्त हो सको ।।३२।।

[३३]

जलाशये जलोद्भवमिवात्मानं भिन्नं जलतोऽनुभव ।
प्रमादी माऽये भव भव्य! विषयतो विरतो भव ।।

अये! भव्य! प्रमादी मा भव, विषयत विरतो भव। आत्मान जलाशये जलोद्भवम् इव जलत भिन्नम् अनुभव ।

जलाशय इति- **अये भव्य! हे भव्य! प्रमादी कुशलेष्वनादरः प्रमादः सोऽस्ति प्रमादी मा भव नैधि। विषयतः पञ्चेन्द्रियभोगोपभोगतो विरतो निवृत्तो भव। आत्मानं चैतन्यमयं स्व जलाशये सरोवरे जलोद्भवमिव कमलमिव जलतः सलिलात् पक्षे डलयोरभेदाज्जडतः पौद्गलिकविषयतो भिन्नं पृथग्भूत अनुभव संविद्धि। यथा जलजं जलादुत्पन्नं जले निवसदपि स्वं ततो भिन्न रक्षति तथा त्वमपि भवादुद्भूतो भवे कृतनिवासोऽपि तस्मात्त्वं भिन्नं जानीहीति भावः ।।३३।।**

अर्थ- हे भव्य! तू प्रमादी मत हो, पञ्चेन्द्रियों के विषय से निवृत्त हो। जिसप्रकार जलज—कमल जल से उत्पन्न होकर भी अपने आपको जल से भिन्न रखता है। उसी प्रकार तू भी ससार से उत्पन्न होकर भी जड़ः—पौद्गालिक संसार से अपने आपको पृथक् अनुभव कर ।।३३।।

[३४]

भिन्नोऽहमङ्गान्मद-रूपिणोऽपि च भिन्नमित्यङ्गमदः ।
मुञ्चामीत्वेति मद-माङ्गं हे गत-भवहेतुमद ! ।।

-हे गतभवहेतुमद ! अहम् अङ्गात् भिन्न। अपि च अरूपिण मत् अद अङ्ग भिन्नम् अस्ति-इति ईत्वा (अह) आङ्ग मद मुञ्चामि।

भिन्न इति- **हे गतभवहेतुमद! भवस्य हेतुर्भवहेतु ससारकारणं स चासौ मदो गर्वश्चेति भवहेतुर्मद गतो विनष्टो भवहेतुमदो यस्य तत्संबुद्धौ। अह चैतन्यपुञ्ज अङ्गात् देहात् 'देहोऽपघनकायाङ्गम्,' इति धनञ्जय। भिन्नः पृथग्भूत अस्मीति शेष। अपि च किञ्च, अरूपिणोऽमूर्तात् मत् अस्मत्त अद एतत् अङ्गं देहो भिन्नमस्ति। इतीत्थं ईत्वा ज्ञात्वाह आङ्ग अङ्गस्येदमाङ्ग शरीरसम्बन्धिन मदं गर्वं मुञ्चामि त्यजामि ।।३४।।**

अर्थ-हे समार के कारणभूत मद से रहित! मै शरीर से भिन्न हूँ और यह शरीर भी मुझ अमूर्तिक से भिन्न है, ऐसा जानकर मै शरीर सम्बन्धी मद–गर्व को छोडता हूँ।।३४।।

[३५]

विगतेऽघे मनोभुवि विहरति शुद्धात्मनि मुनि स्वयभुवि ।
कथ बद्धः प्रभुर्विः खे चरितु-मिदमसाध्यं भुवि ।।

अघे मनोभुवि गते (सति) शुद्धात्मनि स्वयभुवि मुनि विहरति। (यथा) बद्ध वि खेचरितु कथ प्रभु ? इद भुवि असाध्य (वर्तते)।

विगत इति- **अघे पापरूपे मनोभुवि मनसि भवति जायत इति मनोभूस्तस्मिन् कामे विगते नष्टे सति मुनि साधु स्वयंभुवि अनाद्यनन्ते शुद्धात्मनि रागादिरहितत्वाच्छुद्धे स्वात्मनि विहरति रमते। तदेवोदाहिरयते–बद्धो पाशनियन्त्रितो वि पक्षी रवे विहायसि चरितु गन्तुमुत्पतितुमिति यावत् कथ कुत प्रभु समर्थ ? इद बद्धस्य खे गमन भुवि लोके असाध्य असभवं अस्ति। यथा बद्धो विहगो विहायसि चरितुमसमर्थोऽस्ति तथा मनोजबाधसपृक्तो मनुज स्वात्मनि विहर्तुमसमर्थोऽस्तीति भाव ।।३५।।**

अर्थ- **पापी काम के नष्ट हो जाने पर मुनि अनाद्यनन्त शुद्धात्मा में रमण करता है। जैसे जाल मे बँधा पक्षी क्या आकाश में उड़ने के लिए समर्थ है? अर्थात् नहीं है। यह कार्य पृथिवी में असाध्य है ।।३५।।**

[३६]

यस्य हृदि समाजात प्रशमभाव श्रमणो यथाजातः ।
दूरोऽस्तु निर्जरात कदापि मा शुद्धात्मजातः ।।

यस्य हृदि प्रशमभाव समाजात. (स) यथाजात श्रमण. शुद्धात्मजात निर्जरात· कदापि दूर मा अस्तु।

यस्येति- **यस्य मुनेः हृदि हृदये प्रशमभावः सम्यक्त्वस्य चिह्नभूतो गुणविशेषः 'रागादिषु च दोषेषु चित्तवृत्तिनिवर्हणम्। तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम् ।' इति प्रशमलक्षणम्। समाजातः समुत्पन्नः स यथाजातो दिगम्बरः श्रमणः साधुः शुद्धात्मजातः शुद्धात्मनि जायत इति शुद्धात्मजा तस्या. तसिलन्तप्रयोगः। निर्जरातः कर्मणामेकदेशक्षयो निर्जरा तस्याः कदापि जात्वपि दूरो दूरवर्ती मास्तु प्रशमभावः सम्यग्दृष्टेर्भवति सम्यग्दृष्टेश्च प्रतिसमयम संख्यातगुणितनिर्जरा जायत इति सिद्धान्तः।।३६।।**

अर्थ- जिसके हृदय मे प्रशमभाव प्रकट हुआ है वह दिगम्बर मुद्रा का धारक— निर्ग्रन्थ साधु शुद्धात्मा से होने वाली निर्जरा से भी दूर नहीं हो।।३६।।

[३७]

यत् संसारे सारं स्थायीतरमस्ति सर्वथाऽसारम् ।
सार तु समयसारं मुक्तिर्यल्लभ्यते साऽरम् ।।

ससारे यत् स्थायीतर सार (तत्) सर्वथा असारम् अस्ति। सार तु समयसारम् (एव) यत् सा मुक्ति. अर लभ्यते।

यदिति- **ससारे आजवंजवे स्थायीतरं स्थायिन इतरत् स्थायीतरं क्षणभङ्गुरं यत् सारं धनमस्ति तत्सर्वथा सर्वप्रकारेण असार सारहीनमस्ति। तु किन्तु समयसारं शुद्धात्मपरिणति सार श्रेष्ठमस्ति यत् यस्मात् सा प्रसिद्धा मुक्तिः मोक्षः अरं शीघ्रं लभ्यते प्राप्यते 'सार न्याय्ये जले वित्ते सारं स्याद्वाच्यवद्वरे' इति विश्वलोचनः, लघुक्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः ।।३७।।**

अर्थ- संसार मे जो क्षणभङ्गुर सार—धन है वह सब प्रकार से असार है—सारहीन है। सार—श्रेष्ठ तो समयसार—शुद्धात्म परिणति ही है जिससे वह मुक्ति शीघ्र प्राप्त होती है।।३७।।

[३८]

निस्सङ्गः सदागतिः विचरतीव कन्दरेषु सदागतिः ।
ततो भवति सदागतिः स्वरसशमितमारसदागतिः ।।

-स्वरसशमितमारसदागति· निस्संग. सदागति इव सदागति. कन्दरेषु विचरति। तत· (तस्मात् कारणात्) सदागति भवति।

निस्सङ्ग इति- स्वरसशमितमारसदागतिः स्वरसेन आत्मबलेन स्वानुभवरूपजलेन शमितो विध्यापितो मारः काम एव सदागतिरग्नि सदागतिरिव समीरण इव निस्सङ्गो निष्परिग्रहः सदागति साधु कन्दरेषु गह्वरेषु विचरति विहरति ततस्तस्मात्कारणात् सदागति निर्वाणोऽस्य भवति। 'सदागतिर्गन्धवाहे निर्वाणेऽपि सदीश्वरे' इति विश्वलोचन ।।३८।।

अर्थ- जिसने स्वरस–आत्मबल अथवा स्वानुभवरूप जल से कामरूपी अग्नि को शान्त कर दिया है ऐसा वायु के समान नि.सङ्ग साधु वन की गुफाओं मे विचरण करता है इस कारण उसे सदागति– निर्वाण प्राप्त होता है ।।३८।।

[३९]

सरस्तत् पुष्करेण यतितिमिर्भातु ध्यानपुष्करेण ।
मृदुता च पुष्करे न नरेऽविरते गीः पुष्करे न ।।

तत् सर पुष्करेण भातु, यतितिमि ध्यानपुष्करेण (भातु) पुष्करे च मृदुता (भातु) अविरते नरे न (भातु) पुष्करे गी न (भातु)।

सर इति- तत् प्रसिद्धं सरः कासारः पुष्करेण पयेन भातु शोभताम्। यतितिमि यतिरेव तिमिर्मीन इति मीनः । ध्यानपुष्करेण ध्यानमेव पुष्करं जलं तेन भातु। पुष्करे कमले मृदुता कोमलता भातु। अविरतेऽ संयते जने मृदुता न भातु। गीः शब्दश्च पुष्करे विहायसि न भात्विति सम्बन्धः। 'पुष्करं व्योम्नि पानीये हस्तिहस्ताग्रपपयोः' इति विश्वलोचनः ।।३९।।

अर्थ- वह सरोवर पुष्कर–कमल से सुशोभित हो और मुनिरूप मीन ध्यानरूपी पुष्कर–जल से सुशोभित हो। कोमलता पुष्कर–कमल मे सुशोभित हो असयमी मनुष्य मे नहीं और शब्द पुष्कर आकाश मे नहीं ।।३९।।

[४०]

संसारमूलमेन आर्तरौद्रद्वयं रोचते मे न ।
हेममयः कथमेण ईप्सितस्तेन रामेण ?।।

ससारमूलम् आर्तरौद्रद्वय एन मे न रोचते। हेममय. एण· तेन रामेण कथम् ईप्सित. ?

ससार इति- ससारमूलं संसारस्य मूलं कारणं, आर्तरौद्रद्वयं आर्तं च रौद्रं चेत्यार्तरौद्रे तयोर्द्वयं आर्त्तरौद्राख्यकुध्यानयुगलम्। एनः पापरूपम्, तत् मे मुनये न रोचते रुचिकरं नास्ति। हेममयः सुवर्णमय एणो मृगस्तेन विवेकवता पुराणप्रसिद्धेन च रामेण कथं केन कारणेन ईप्सितोऽभिलषितः। सौवर्णमृगलोभेन यथा रामो दारापहरणादिकं दुःखं

प्राप्तस्तथाऽऽर्तरौद्राभिधानकुध्यानयोगेन जनो भवे बम्भ्रमीति ततस्तत्पापरूपं ध्यानयुगलं साधुना न कर्तव्यमिति भावः ।।४०।।

अर्थ- संसार के प्रमुख कारण, पापरूप आर्त और रौद्रध्यान मुझे अच्छे नहीं लगते। सुवर्णमय मृग विवेकी राम के द्वारा कैसे चाहा गया?।।४०।।

[४१]

स्वानुभवैकयोगतः परां वीतरागतां यो गतः ।
बिभेत्यङ्गवियोगतः किं चलति शुद्धोपयोगतः ? ।।

स्वानुभवैकयोगत य परा वीतरागता गत., स किम् अङ्गवियोगतः बिभेति ? शुद्धोपयोगत. चलति ?

स्वान्विति- **यो मुनिः स्वानुभवैकयोगतः स्वानुभवस्य य एकोऽद्वितीयो योगः सम्बन्धस्तस्मात्परां श्रेष्ठा वीतरागतां वीतरागपरिणति गत प्राप्तः स किं अङ्गवियोगात् शरीरवियोगाद् बिभेति भीतो भवति, न भवतीत्यर्थः। अपि च शुद्धोपयोगतः किं चलति विचलितो भवति ? न भवतीत्यर्थः ।।४१।।**

अर्थ- जो मुनि स्वानुभ व के अद्वितीय सयोग से वीतरागता को प्राप्त हुआ है वह क्या शरीर के वियोग से डरता है? और शुद्धोपयोग से विचलित होता है ? अर्थात् नहीं? ।।४१।।

[४२]

यो दूरो निजस्वतश्चरति च दृक्कंजविकास-भास्वतः ।
स हि परभावनास्वतः कुर्याद् रुचिमज्ञानी स्वतः ।।

दृक्कजविकासभास्वत निजस्वत. य दूर चरति, अत. स हि अज्ञानी परभावनासु स्वत रुचि कुर्यात्।

य इति— **यो मुनिः दृक्कंजविकासभास्वतः दृक् सम्यग्दर्शनमेव कंजं कमलं तस्य विकासे भास्वान् सूर्यस्तथाभूतात् । निजस्वतः निजं स्वकीयं यत्स्वं धनं तस्मात् दूरो विप्रकृष्टः सन् चरति विहरति। यः स्वानुभवशून्य इत्यर्थः। अतो निजस्वरहितत्वात् स हि अज्ञानी सारासारज्ञानरहितः निश्चयेन परभावनासु परेषां परपदार्थानां भावनासु चिन्तनेषु स्वतः स्वस्मात् स्वयमेवेत्यर्थः। रुचिं प्रीतिं कुर्यात् विदध्यात्। 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये धनेऽस्त्रियाम्' इति विश्वलोचनः ।।४२।।**

अर्थ- जो मुनि, सम्यग्दर्शनरूपी कमल को विकसित करने के लिये सूर्यरूप आत्मधन से दूर रहता है इसीलिये वह अज्ञानी परपदार्थों की भावनाओं में स्वयं रुचि करता है ।।४२।।

[४३]

कलय व्रतानि पञ्च तापपदानि मुञ्च पापानि पञ्च ।
नो हि रागप्रपञ्च-मजं भज स्तुतशत—सुरपञ्च ।।

पञ्च व्रतानि कलय, तापपदानि पञ्च पापानि मुञ्च। स्तुतशतसुरपम् अज भज, रागप्रपञ्चं नो हि (भज)।

कलयेति- **पञ्च पञ्चसंख्यकानि व्रतानि अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहनामधेयानि व्रतानि कलय प्राप्नुहि स्वीकुर्वित्यर्थः 'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्' इति व्रतलक्षणम्। तापपदानि तापस्य नरकादिगतिजन्यदुःखस्य पदानि स्थानानि पञ्च पापानि हिंसादीनि मुञ्च त्यज। हि निश्चयेन रागप्रपञ्च पञ्चेन्द्रियविषयप्रीतिविस्तारं नो भज न सेवस्व। स्तुतशतसुरपं स्तुत शतसुरपैः शतेन्द्रैस्तथाभूतम् अज जन्मातीतजिनेन्द्रं भज सेवस्व च समुच्चयार्थः।।४३।।**

अर्थ- अहिंसा आदि पाचव्रतों को धारण करो, दु ख के स्थानभूत पाच पापो को छोड़ो । राग का विस्तार मत करो और सौ इन्द्रों के द्वारा स्तुत जिनदेव की सेवा करो।।४३।।

[४४]

भवहेतुभूता क्षमा त्यक्ता जिनेन या स्वीकृता क्षमा ।।
ता विस्मर नृदक्ष ! मा, यतः सैव शिवदाने क्षमा ।।

या भवहेतुभूता क्षमा जिनेन त्यक्ता, (या च) क्षमा स्वीकृता, हे नृदक्ष! ता (क्षमा) मा विस्मर, यत सा एव शिवदाने क्षमा (वर्तते)।

भवेति- **भवहेतुभूता भवस्य ससारस्य हेतुभूता कारणभूता या क्षमा पृथिवी जिनेन त्यक्त्वा, भवहेतुभूता भवस्य श्रेयसो हेतुभूता य क्षमा क्षान्तिः जिनेन स्वीकृता। हे नृदक्ष! नृषु नरेषु दक्षश्चतुरो नृदक्षो तत्सम्बुद्धौ हे चतुरनर! ता जिनेन्द्राङ्गीकृतां क्षमां मा विस्मर विस्मृतां कुरु यतो यस्मात् सैव क्षमा शिवदाने मोक्षदाने क्षमा समर्थास्ति। 'क्षितौ क्षान्तावपि क्षमा' इति 'भव श्रीकण्ठससारश्रेयःसत्ताप्तिजन्मसु' इति च विश्वलोचन। क्षमाद्वये विवेकः कर्तव्य इति भाव ।।४४।।**

अर्थ- जो ससार की कारणभूत है ऐसी क्षमा–पृथिवी का जिनेन्द्र भगवान् ने त्याग किया है और कल्याण प्राप्ति मे जो हेतुभूत है ऐसी क्षमा–शान्ति को स्वीकृत किया है। हे चतुरनर! तू जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा स्वीकृत क्षमा को मत भूल। क्योंकि मोक्षप्रदान करने मे वही क्षमा–समर्थ है ।।४४।।

[४५]

प्रत्ययो यस्य वृत्तं जिने निजचिन्तनतो मनो वृत्तम् ।
तस्य वृत्तं हि वृत्तं कथयतीतीदमत्र वृत्तम् ।।

यस्य जिने प्रत्ययो वृत्त, निजचिन्तनत (यस्य) मन वृत्त, तस्य वृत्त हि वृत्तम्-इति इद वृत्तम् अत्र कथयति।

प्रत्यय इति- **यस्य जिने प्रत्ययो विश्वास श्रद्धा वा वृत्तं जात सामान्ये नपुंसकलिङ्गप्रयोगः। यस्य मनश्चित्तं निजचिन्तनतो निजस्य चिन्तनं तस्मिन् 'सार्वविभक्तिकस्तसिल् वृत्तं वर्तमानम्। हि निश्चयेन तस्य वृत्तं चरितं वृत्तं परमार्थचरितमस्ति। सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसहितमेव वृत्तं परमार्थतो वृत्तं भवतीत्यर्थः। इतीत्थम् अत्र जगति संदर्भे वा इद वृत्तं छन्द कथयति निवेदयति। 'त्रिषु वृत्तं तु चरिते वृत्त छन्दसि वर्तते' इति। 'प्रत्ययः प्रेमविश्रम्भप्रश्रयप्रसरेऽर्चने' इति च विश्वलोचनः।।४५।।**

अर्थ- जिसका जिनेन्द्र भगवान् मे विश्वास है और आत्मचितन मे जिसका मन लगा हुआ है उसी का चारित्र वास्तव मे चारित्र है ऐसा रहस्य यहा यह छन्द हमे वता रहा है ।।४५।।

[४६]

रुचिमेति कुधी के न परवस्तुदत्तचित्तो युतोऽकेन ।
स्वस्थो जीवति केन सह मुनिस्तं नमामि केन ।।

अकेन युत परवस्तुदत्तचित्त कुधी के न रुचिम् एति। स्वस्थ मुनि केन सह जीवति, त केन नमामि।

रुचिमिति- **अकेन दुखेन पापेन वा 'अक दुःखाघयो' इति विश्वलोचनः। युत सहित परवस्तुदत्तचित्त परवस्तुषु आत्मेतरपदार्थेषु दत्तं योजितं चित्तं येन सः परचिन्तनपर इति यावत्। कुधी कुत्सिता धी र्यस्य स कुबुद्धिः के आत्मनि 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु' इति विश्वलोचन। रुचिं प्रीतिं प्रतीतिं वा न एति न प्राप्नोति। य स्वस्थ स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थ आत्मचिन्तनतत्पर। मुनि केन सुखेन जीवति त केन शिरसा 'शिरोमूर्धोत्तमाङ्गं कम्' इति धनञ्जयः, 'कं सुखे वारि शीर्षे च' इति विश्वलोचन ।।४६।।**

अर्थ- जो अक–दुख या पाप से सहित है तथा जिसका चित्त परपदार्थों मे लग रहा है, ऐमा कुवुद्धि–अज्ञानी मानव क–आत्मा मे रुचि–प्रीति अथवा प्रतीति को प्राप्त नहीं होता । इसके विपरीत जो मुनि स्वस्थ–आत्मस्थ होता हुआ क–सुख से जीवित रहता है उसे मैं क–शिर से नमस्कार करता हूँ ।।४६।।

[४७]

क्व सा दाहकता विना तिष्ठतु कथं, स च तया विनाऽविना ।
वस्तुतोऽस्तु यच्च विना ज्ञानमात्मना किन्तु न विना ।।

सा दाहकता अविना विना क्व कथञ्च तिष्ठतु ? स (अग्नि) तया विना च (कथं तिष्ठतु ?) वस्तुत यत् ज्ञान विना विना-अस्तु, किन्तु आत्मना (विना) न (अस्तु)। (भवतीत्यर्थ.)।

क्वेति- **सा प्रसिद्धा दाहकता दाहकस्य भावो दाहकता दहनशीलता अविना–अग्निना विना क्व कुत्र कथ केन प्रकारेण तिष्ठतु? स चाविश्च अग्निश्च तया दाहकतया विना क्व कथं तिष्ठतु? वस्तुत परमार्थत । यत् ज्ञानं विना आकाशेन विना अस्तु तयो र्गुणगुणिसम्बन्धाभावात् किन्तु आत्मना विना नास्तु। यथा दाहकता ह्यग्निना विना न तिष्ठति, अग्निश्च दाहकतां विना न तिष्ठति गुणगुणिभावात्। एवं ज्ञान ह्यात्मना विना न तिष्ठति, आत्मा च ज्ञानं विना न तिष्ठति। ज्ञानमाकाशेन विना वरं तिष्ठतु तयोर्गुणगुणिसम्बन्धाभावादिति भाव । 'वि खगाकाशयोः पुमान्' इति विश्वलोचन। अत्र 'विना' इति विशब्दस्य तृतीयान्तप्रयोग ।।४७।।**

अर्थ- वह दाहकता अग्नि के विना कहाँ और कैसे रह सकती है और अग्नि दाहकता के बिना कैसे रह सकती है? वास्तव मे ज्ञान वि–आकाश के विना तो रह सकता है पर आत्मा के विना नहीं रह सकता।

भावार्थ- जिसप्रकार गुणगुणी सम्बन्ध होने से दाहकता और अग्नि पृथक्-पृथक् अस्तित्व नहीं रखते उसी प्रकार ज्ञान और आत्मा गुणगुणी सम्बन्ध होने से पृथक्-पृथक् अस्तित्व नहीं रखते । आकाश के साथ ज्ञान का गुणगुणी सम्बन्ध नहीं है। अत. दोनों का अस्तित्व पृथक्-पृथक् सिद्ध है ।।४७।।

[४८]

न निश्चयेन नयेन किन्त्वलङ्कृतस्तद्विषयेण येन ।
यस्तं व्रजेन्नयेन मुक्तिरसयमिनस्तान् ये न ।।

य निश्चयेन नयेन न अलकृत , किन्तु तद् (तस्य निश्चयनयस्य) विषयेण येन (अलकृत) त (नर) मुक्ति नयेन व्रजेत्। (परञ्च) ये असयमिन तान् न (व्रजेत्)।

नेति- **यो मुनि निश्चयेन नयेन शुद्धवस्तुस्वरूपप्ररूपकेण नयेन नालङ्कृतो न विशोभितः किन्तु तद्विषयेण तस्य निश्चयस्य विषयेण निश्चयानुरूपप्रवर्तनेन येन कारणेन अलङ्कृतस्तेन तं नरं मुक्तिर्नयेन परम्परया व्रजेत् प्राप्नुयात्। किन्तु ये असयमिनो व्यवहारचारित्रेणापि शून्या सन्ति तान् न व्रजेत् न प्राप्नुयात्। ये श्रद्धा सहितं निर्दोषं व्यवहारचारित्रं धरन्ति ते परम्परया मुक्तिं प्राप्नुवन्ति परन्तु ये सर्वथाऽसंयमिनः सन्ति तेषा मुक्तिप्राप्तिर्दुर्लभास्तीति भाव ।।४८।।**

अर्थ- जो निश्चयनय से अलङ्कृत नहीं है किन्तु उसके विषयभूत संयमाचरण से अलङ्कृत है उस मनुष्य को मुक्ति नय–परम्परा से प्राप्त हो सकती है। परन्तु जो असंयमी है उन्हें मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती ।।४८।।

[४९]

त्वं त्याज्यं त्यज मानं विस्मर यममलमात्मानं मा नम् ।
भवन्नमानी मानं गतः स जिनोऽनन्यसमानम् ।।

त्व त्याज्यंमान त्यज, यम् अमलम् आत्मान नं मा विस्मर । स जिनः अमानी भवन् अनन्यसमान मान गत ।

त्वमिति- **ऐ श्रमण! त्वं त्याज्यं त्यक्तुं योग्यं मानं गर्वं त्यज मुञ्च। यं प्रशस्तं अमल निर्मल आत्मान नं जिनं मा विस्मर विस्मृतं नो कुरु। स जिनः अमानी मानरहितो भवन् अनन्यसमान अनुपम मानं ज्ञानं समादरं वा गत प्राप्तः। 'नकारो जिनपूज्ययोः' इति विश्वलोचन ।।४९।।**

अर्थ- हे मुने! तू छोडने योग्य मान को छोड़। प्रशस्त निर्मल आत्मा तथा जिनदेव को मत भूल। वह जिनदेव मान–गर्व रहित होते हुए अनुपम–अद्वितीय मान–ज्ञान अथवा आदर को प्राप्त हुये है।

भावार्थ- यतश्च मानरहित जिनदेव सर्वाधिक मान–समादर अथवा ज्ञान को प्राप्त हुए,अत मान–गर्व को छोडना श्रेयस्कर है ।।४९।।

[५०]

यदि भवभीतोऽसि भवं भज भक्त्याऽभवमिच्छसि भव्य भवम्।
दृशावस्य मनोभवं त्वङ्कुरु शुच्या निजानुभवम् ।।

भव्य! यदि भवभीत असि, अभव भवम् (च) इच्छसि चेत् शुच्या दृशा मनोभवम् आवस्य त्व भक्त्या भव भज, निजानुभव (च) कुरु।

यदीति- **-हे भव्य! यदि भवभीतो भवात् संसाराद् भीतस्त्रस्तोऽसि। अभवं नास्ति भवो जन्म यस्मिंस्त भव पर्याय चेच्छसि तर्हि शुच्या पवित्रया दृशा दृष्ट्या विचारेणेति यावत् मनो-भवं मदन काममित्यर्थ। आवस्य समाप्य नष्ट कृत्वेति यावत्। त्वं भक्त्या समादरेण भव जिनेन्द्रं भज सेवस्व निजानुभवं च स्वसंवेदन च कुरु विधेहि ।।५०।।**

अर्थ- हे भव्य! यदि तू ससार से भयभीत है और अभव–जन्मरहित भव–सिद्धपर्याय को चाहता है तो निर्मलदृष्टि–सम्यक्त्व अथवा विवेक से मनोभव–काम को नष्ट कर भक्तिपूर्वक भव–जिनेन्द्रदेव की आराधना कर तथा शुद्ध आत्मा का अनुभव कर ।।५०।।

[५१]

सन्त. समालसन्त सन्तु सन्तत स्वे स्वक भजन्त ।
अन्तेऽनन्ततामत प्रयान्तु शिवालये वसन्त ।।

सन्त स्वक भजन्त (अतएव) समालसन्त स्वे सन्तत सन्तु। अत अन्ते शिवालये वसन्त अनन्तता प्र तु।

सन्त इति **सन्त साधव स्वक स्वस्य क आत्मा त भजन्त सेवमाना। अत एव समालसन्त सम्यगासमन्ताच्च शोभमाना सन्तत निरन्तर स्वे आत्मनि सन्तु तद्ध्यानपरा भवन्तु अत आत्मरमणाद् अन्ते च शिवालये मोक्षे वसन्त । अनन्तता नास्ति अन्तो यस्य सोऽनन्तस्तस्य भावस्तामविनश्वरता प्रयान्तु प्राप्नुवन्तु ।।५१।।**

अर्थ साधुजन स्वकीय आत्मा का भजन करते हुये एव सम्यक प्रकार से सुशोभित होते हुए निरन्तर आत्मा मे रहे—उसी का चिन्तन—मनन करे। इससे अन्त मे मुक्तिधाम मे रहते हुए अनन्तता— अविनश्वरता को प्राप्त हों ।।५१।।

[५२]

सुकृतैनोभ्या मौनमिति व्रज मत्वाह देहमौ । न ।
ध्रुवौ धर्मावमौ न रागद्वेषौ च ममेमौ न।।।

औ न अह देह न मम इमौ रागद्वेषौ अमौ ध्रुवौ धर्मौ न इति मत्वा सुकृतैनोभ्या मौन व्रज।

सुकृतेनोभ्यामिति **औ न। हे मानव। न इति नृशब्दस्य सम्बुद्धौ रूपम। अह देह शरीर न। शरीराद् भिन्नोऽस्मीति भाव। मम इमावेतौ रागद्वेषौ अमौ रोगौ ध्रुवौ स्थायिनौ धर्मौ स्वभावौ न स्त। इति मत्वा सुकृतैनोभ्या सुकृत च एनश्चेति सुकृतैनसी ताभ्या पुण्यपापाभ्या मौन वाच यमत्व मुनित्व वा व्रज गच्छ। पुण्यपापविकल्पातीतो भवेति भाव ।।५२।।**

अर्थ **हे मानव। मै देह—शरीर नहीं हू और मेरे ये रागद्वेषरूपी रोग स्थायी धर्म नहीं है ऐसा मानकर पुण्यपाप से मौन को प्राप्तकर अर्थात् इनका विकल्प छोड़ शुद्धात्म का अनुभव कर ।**

भावार्थ **जब कर्म नोकर्म और भावकर्म तेरे नहीं हैंतब पुण्य—पाप की चर्चा क्या? वे भी तेरे नही है अत इनमे तू आत्मबुद्धि का त्याग कर।।५२।।**

[५३]

भावना चेद्धि भवत कदा निवृत्तिरियमिति भवेद् भवत ।
निक्षिपतु मनोऽभवत पदयोर्दूर मनोभवत ।।

"भवत इय निवृत्ति कदा भवेत्" - इति हि भवत. भावना चेत् (अ) भवत. पदयोः मन निक्षिपतु, मनोभवतः (मन) दूर निक्षिपतु।

भावनेति- **'भवत संसारात् इयं निवृत्तिर्विमुक्तिः कदा कर्हि भवेत्' इति हि भवतस्तव भावना विचारसन्ततिश्चेत्? तर्हि अभवतः भवतीति भवन् न भवन् अभवन् तस्य भवमगृह्णतो जिनस्येति यावत् पदयोश्चरणयोः मनो मानसं निक्षिपतु निदधातु। मनोभवतः मनसि भवो जन्म यस्य स मनोभवः कामस्तस्मात् मनो दूरं निक्षिपतु। जिनचरणार्चन मनोभवपरिहरणं च भवतो निवृत्तिसाधनमस्तीति भावः ।।५३।।**

अर्थ- 'ससार से यह निवृत्ति कब होगी' ऐसी निश्चय से यदि तेरी भावना है तो तू अभवत --जन्म ग्रहण न करने वाले अरहन्त के चरणों मे मन लगा और काम से मन को दूर रख ।।५३।।

[५४]

स ना नैति नालीक स्वं तेनेतोऽर्थोऽतो नालीकः ।
य समाननालीक शिवश्रियेऽप्यस्तु नालीक ?।।

स ना नालीक , य स्व न एति। अत हे न ! तेन अलीक अर्थ इत. य (च) समाननालीक (वर्तते), स शिवश्रिये अपि अलीक न अस्तु ? (अस्तु एव-इत्यर्थ)।

स इति- **स ना पुमान् नालीकोऽज्ञोऽस्ति 'नालीकः पिण्डजेऽप्यज्ञे' इति विश्वलोचन। य स्व आत्मान नैति न प्राप्नोति न जानीते वा। अत हे न! हे जिन! 'नकारो जिनपूज्ययो' इति विश्वलोचन। तेन पुंसा अलीको मिथ्या अर्थ इतः प्राप्त य समाननालीकः मानेन गर्वेण सहित समान, समानश्चासौ नालीकश्चेति समाननालीकः सगर्वाज्ञ अहङ्कारी मूर्खश्चेति यावत् वर्तते। स शिवश्रिये मोक्षलक्ष्म्यै अपि अलीकोऽप्रियो नास्तु न भवतु? अपि तु भवत्वेव। 'अलीकं त्रिदिवे क्लीब मिथ्यायामप्रिये त्रिषु' इति विश्वलोचन ।।५४।।**

अर्थ- वह मनुष्य नालीक--मूर्ख है जो आत्मा को नहीं प्राप्त होता--नहीं जानता। अत. हे जिन! उसने अलीक--मिथ्या अर्थ को प्राप्त किया है--जान रखा है जो समाननालीक--अहङ्कारी एवं अज्ञानी है। ऐसा मनुष्य शिवश्री--कल्याणकारी लक्ष्मी अथवा मोक्षलक्ष्मी के लिए भी अलीक--अप्रिय क्यों न हो ? अवश्य हो।।५४।।

[५५]

तेनाऽऽप्यसे साऽऽशु चिदेकमूर्तिश्च गतार्थैकाऽशुचिः ।
धृतदशधर्मैकशुचिर्यो निजं श्रमणः श्रयति शुचिः ।।

गतार्थैकाऽशुचि चिदेकमूर्ति. च सा आशु तेन आप्यते, य. श्रमण. धृतदशधर्मशुचि. शुचि. निज श्रयति ।

तेनेति- **तेन श्रमणेन गतार्थैकाशुचिः गता विनष्टा अर्थस्यार्थपुरुषार्थस्यैका प्रमुखा अशुचिरपवित्रता यस्यां सा। सा प्रसिद्धा ज्ञानिजनसुलभेति यावत्। चिदेकमूर्तिः चितश्चैतन्यस्यैका अद्वितीया मूर्तिः ज्ञानैकमूर्तिरिति यावत् । आशु शीघ्रम् आप्यते प्राप्यते यः धृतदशधर्मशुचिः धृतो दशधर्माणां क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणां शुचिः पवित्रता येन तथाभूतः। शुचिरुज्ज्वलहृदयः श्रमणः साधुः निजं स्वात्मानं श्रयति सेवते। यो विगतार्थरुचिः क्षमाप्रभृतिदशधर्मालङ्कृतश्च भवति स एव ज्ञानैकमूर्तिं निजात्मानं ध्यातुमर्हतीति भावः। 'शुचि पुस्युपधाशुद्धमन्त्रिण्याषाढबर्हिषोः' इति विश्वलोचनः । च समुच्चयार्थः।।५५।।**

अर्थ- उस श्रमण–साधु के द्वारा वह प्रसिद्ध–ज्ञानिजन सुलभ अर्थपुरुषार्थ सम्बन्धी अपवित्रता से रहित चैतन्य की अद्वितीयमूर्ति प्राप्त की जाती है, जो दशधर्म सम्बन्धी पवित्रता को धारण करने वाला उज्ज्वलहृदय श्रमण निज आत्मा का आश्रय लेता है ।।५५।।

[५६]

परिणतो दृशा साकं यदि नैति विधेरुदयात् सहसाऽकम् ।
कं मुक्तिरेतु साकं कश्चामितं तदाञ्जसा कम् ।।

यदि ना दृशा साकं परिणत विधे उदयात् सहसा अकम् एति तदा सा मुक्ति क क अञ्जसा एतु ? क (च) अमित कम् (एतु) ?

परिणत इति- **यदि चेत् ना नरो दृशा सम्यग्दर्शनेन साकं सार्धं परिणतस्तद्रूपं प्राप्तः। विधेः कर्मणा उदयात् चारित्रमोहोदयस्य प्राबल्यात् सहसा झटिति अकं पापं 'अकं दुःखाघयोः' इति विश्वलोचन। ऐति प्राप्नोति। सम्यग्दृष्टिर्भूत्वापि कर्मोदयवशात् पाप करोति। तदा सा प्रसिद्धा रत्नत्रयलभ्या मुक्ति कं किन्नामधेयं क आत्मानं अञ्जसा परमार्थत एतु प्राप्नोतु? किमपि नेत्यर्थ। कश्च क आत्मा च अमितमनन्त क सुखं एतु प्राप्नोतु? अपि तु न कोऽपीत्यर्थ ।।५६।।**

अर्थ- यदि सम्यग्दर्शन के साथ तद्रूपता को प्राप्त हुआ मनुष्य कर्म के उदय से सहसा पाप को प्राप्त होता है अर्थात् चारित्र से पतित होता है, तो रत्नत्रय की एकता से प्राप्त होने वाली मुक्ति किस आत्मा को यथार्थरूप से प्राप्त होगी ? अर्थात् किसी को नहीं। इसी प्रकार चारित्र से पतित कौन मनुष्य अनन्तसुख को प्राप्त होता है ? अर्थात् कोई नहीं ।

भावार्थ- मात्र सम्यग्दर्शन से मोक्ष प्राप्त होने वाला नहीं है। उसके साथ सम्यग्ज्ञान और पाप के परिहाररूप सम्यक्चारित्र का होना भी अनिवार्य आवश्यक है। ।।५६।।

[५७]

निजीयं ननु नरायं श्रयन्तु मुनयो जडमयं न रायम् ।
चेन्न ते (किं) (वा) नरा यं वाञ्छन्ति न विज्ञा नरा यम् ।।

ननु मुनय निजीय नराय श्रयन्तु, जडमय राय न। चेत् न, ते किन्नरा. (वानरा.) विज्ञा नरा. यं य न वाञ्छन्ति ।

निजीयमिति-**ननु निश्चयेन मुनयः श्रमणा निजीयं निजस्येदं निजीयं स्वात्मीयं न रायं नश्चासौ राश्चेति नरायस्तं पूज्यधनं श्रयन्तु समवलम्बन्ताम्। जडमयमचेतनात्मकं राय धनं न श्रयन्तु। चेत् न, यद्येव न कुर्वन्ति तदा ते किन्नराः कुत्सिता नराः किन्नरा वानरा मर्कटाः भवन्ति। विज्ञाः सविवेका नराः यं यं यशोधनं न वाञ्छन्ति नेच्छन्ति। अज्ञा जना एव जड धन गृह्णन्ति तेन च यशो वाञ्छन्ति, ज्ञानिनो मुनयस्तु स्वात्मोत्थं धनं स्वीकुर्वन्ति यशसश्च निरुत्सुका भवन्तीति भावः ।।५७।।**

अर्थ- मुनि आत्मसम्बन्धी पूज्यधन का अवलम्बन लेवे, अचेतनधन का नहीं। यदि ऐसा नहीं करते है तो वे किन्नर है—खोटे मनुष्य है अथवा वानर है। ज्ञानी मनुष्य यश की इच्छा नहीं करते।

भावार्थ- अज्ञानी मनुष्य जड–अचेतन धन का सग्रह कर उससे यश की इच्छा करते है । परन्तु ज्ञानी मनुष्य आत्मा के ज्ञानादिगुणरूप प्रशस्तधन का सग्रह करते है और उससे यथार्थ यश को स्वयमेव प्राप्त होते है ।।५७।।

[५८]

अत्र सुखं न वै भवे स्वीये कथमपि कुरु रुचिं वैभवे।
माने वचसि वैभवे मा भ्रम मुधा मुने! वै भवे ।।

वै अत्र भवे सुख न। वै मुने! कथमपि स्वीये वैभवे ऐभवे माने वचसि (वा) रुचि कुरु। भवे मुधा मा भ्रम।

अत्रेति- **ए मुने! हे श्रमण! वै निश्चयेन अत्र भवे संसारे सुखं न शातं नास्तीति शेषः। कथमपि केनापि प्रकारेण स्वीये स्वस्येदं स्वीयं तस्मिन् ऐभवे मोक्षभवे 'स्मृतिसम्बोधनाह्वनेऽव्ययमैस्तु शिवे पुमान्' इति विश्वलोचनः। वा समुच्चये 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवार्थे च समुच्चये' इत्यमरः। वैभवे विभोर्भगवन दुर्दामति वैभव**

तस्मिन् भगवत्सम्बन्धिनि माने ज्ञाने वचसि सिद्धान्ते च रुचिं प्रीतिं श्रद्धां वा कुरु विधेहि। वाऽथवा भवे संसारे श्रेयसि वा मुधा व्यर्थं मा भ्रम भ्रमं संदेहं भ्रमण वा नो कुरु। 'भवः श्रीकण्ठसंसारश्रेयःसन्ततिजन्मसु' इति विश्वलोचनः ।।५८।।

अर्थ- हे मुने! निश्चय मे इस ससार मे मुख नहीं है। तू किसी तरह अपने मोक्षरूप भव मे अथवा वैभव–भगवत्सम्बन्धी ज्ञान और मिद्धान्त मे रुचिकर, व्यर्थ ही ससार में मत भटक, अथवा भव –कल्याण के विषय मे भ्रम – सदेह मत कर ।।५८।।

[५९]

ते यान्ति सुखं समये समावसन्ति हि सदाधिगतसम! ये।
दुःखं हि गते समये कार्यमपि च कृतं तदसमये ।।

(हे) अधिगतमम! ये समये मदा समावसन्ति, हि, ते सुख यान्ति। हि समये गते दु खम्, असमये कृत तत् कार्यम् अपि च (दु खम्) ।

त इति- **हे अधिगतसम! अधिगतं प्राप्तं समं श्रेष्ठं येन तत्सम्बुद्धौ 'समावर्षे सदृक्सर्वमान्येषु च समं त्रिषु' इति विश्वलोचन। ये जना सदा सर्वदा समये स्वात्मनि सिद्धान्ते वा समावसन्ति सम्यक्प्रकारेण निवसन्ति तद्ध्यान विदधतीति भाव। ते हि निश्चयेन सुख शर्म यान्ति प्राप्नुवन्ति। हि यत समये काले सिद्धान्ते गते सति दुखं भवति। असमये अकाले कृतं तत्कार्यमपि दुख दुःखरूपं भवतीत्यर्थः । 'समया शपथाचारकालसिद्धान्तसविद' इत्यमर ।।५९।।**

अर्थ- हे अधिगतमम! हे श्रेष्ठ पदार्थो को प्राप्त करने वाले श्रमण! जो मुनि सदा ममय--शुद्धात्मा मे वास करते है– उमका ध्यान करते है वे निश्चय मे सुख को प्राप्त होने है। क्योंकि ममय – सिद्धान्त अथवा योग्यकाल के निकल जाने पर दु ख होता है, इमके सिवाय जो कार्य अममय – अयोग्यकाल मे किया जाता है वह भी दु खरूप होता है।।५९।।

[६०]

' स्वं सुदृशाऽमागच्छममितगुणानां सदा समागच्छ ।
मा कमपि च मागच्छ वदात्रेति शीघ्रमागच्छ ।।

अमितगुणाना गच्छ स्व सुदृशा अमा सदा समागच्छ। ''अत्र शीघ्रम् आगच्छ, (तत्र) मा गच्छ'' - इति कम् अपि मा वद।

स्वमिति- **हे मुने! त्वं अमितगुणानां अपरिमितगुणानां गच्छं समूहरूपं स्वं शुद्धात्मानं सुदृशा सम्यग्दर्शनेन अमा साकं सदा सर्वदा समागच्छ प्राप्तं कुरु। 'अत्र शीघ्र**

आगच्छ, तत्र मा गच्छ' इति कमपि जनं मा वद नो कथय। स्वचिन्तने परकीयो विकल्पो बाधको भवतीत्यर्थः ।।६०।।

अर्थ- हे मुने! अपरिमित गुणों के समूह स्वरूप स्वशुद्धात्मा को सम्यग्दर्शन के साथ प्राप्त करो। 'तुम यहाँ आओ, वहाँ मत जाओ' ऐसा किसी से मत कहो।

भावार्थ- स्वचिन्तन मे पर-विकल्प बाधक होता है। अत उस ओर से दृष्टि हटाना श्रेयस्कर है ।।६०।।

[६१]

खविषयो यो नागतः समादृतश्च येन गतोऽनागत ।
सत्यं यश्च नागत किं बिभेति यते! स नागतः ।।

(हे) यते! य आगत गत अनागत खविषय येन च न समादृत. य (च) ना सत्य गत, स कि नागत बिभेति ? (न इति)

खविषय इति- **हे यते! मुने! य आगत प्राप्तो वर्तमान इत्यर्थ। यो गतो व्यतीतो भूत इत्यर्थ। यश्च अनागत अप्राप्तो भविष्यन्नित्यर्थ । खविषय खानां स्पर्शनादीन्द्रियाणा विषयो भोग्यपदार्थ। येन च साधुना न समादृतः समादरेण गृहीत। यश्च ना नर सत्यं सते हितं सत्य साधुहितकरं तत्त्वमिति शेष। स कि नागत सर्पतः किं बिभेति भीतो भविष्यति? अपि तु न। इन्द्रियविषयेभ्यो विरक्त सम्यक् तत्त्व च गतो नरो मृत्युसाधनेभ्यो न बिभेति सदा निशङ्को निर्भयो भवतीति भावः ।।६१।।**

अर्थ- हे मुने! जा वर्तमान मे प्राप्त है, पहले प्राप्त थे और आगे प्राप्त होंगे – ऐसे तीन काल सम्बन्धी इन्द्रियविषय जिसके द्वारा आदर को प्राप्त नही हुए है। साथ ही, जो मनुष्य सत्य—यथार्थवस्तुस्वरूप को जान चुका है वह क्या नाग—सर्प से भयभीत होगा? अर्थात् नहीं।।६१।।

[६२]

ते मुनिजनका नत्वा स्वरसं कलयन्ति कजनका न! त्वा ।
जना (नराः) पयः कि न त्वाऽऽस्वाद्यं पक्वपौड्कानत्त्वा।।

हे न! ते मुनिजनका कजनका (ये) त्वा नत्वा स्वरस कलयन्ति। जना (नरा) पक्वपौडकान् अत्त्वा आस्वाद्यं पय कि न (कलयन्ति) ? (तु पादपूर्त्यै)।

त इति- **हे न! हे जिन! ते मुनिजनका मुनयश्च ते जनाश्च मुनिजनाः, मुनिजना एव मुनिजनकाः स्वार्थे क प्रत्ययः। कजनकाः कस्य सुखस्य जनका उत्पादकाः सन्तीति शेषः। ये त्वा भवन्तं नत्वा नमस्कृत्य स्वरसं आत्मरसं शुद्धात्मानुभवानन्दं कलयन्ति प्राप्नुवन्ति।**

जनाः नराः पक्वपौण्ड्रकान् पक्वानिक्षून् अत्त्वा खादित्वा किं आस्वाद्यं आस्वादनीयं पयो दुग्धं न कलयन्ति नो गृह्णन्ति? अपि तु कलयन्त्येव। जिननमनमात्मानुभवस्य कारणमस्तीति भावः। तु पादपूर्तौ ।।६२।।

अर्थ- हे जिनदेव! वे मुनिजन सुख के जनक है, जो आपको नमनकर आत्मरस–आत्मानुभव को प्राप्त होते हैं। पका हुआ गन्ना खाकर क्या मनुष्य मधुर दूध को ग्रहण नहीं करते? ।।६२।।

[६३]

जिनपदपद्मयमस्य नुमञ्चति स यश्चादरं यमस्य ।
वाणीरितीयमस्य सन्मतेश्च गुरोर्जितयमस्य ।।

'य जिनपदपद्मयम स्य नुम् अञ्चति -स (च) यमस्य आदरम् अञ्चति' इति सन्मते गुरो अस्य जितयमस्य च इय वाणी (वर्तते) ।

जिनेति- **यो जिनपदपद्मयमस्य जिनेन्द्रचरणारविन्दद्वितयस्य नुं स्तुतिं 'नु स्तोतरि नुतौ स्त्री च' इति विश्वलोचनः। अञ्चति गच्छति पूजयति वा स च यमस्य चारित्रस्य आदर अञ्चति। इति इयमेषा वाणी भारती अस्य सन्मते पश्चिमतीर्थकरस्य। जितयमस्य जितो यमो मृत्युर्येन तस्य गुरोश्च। अस्तीति शेषः। जिनचरणकमलयुगलविनतो जन एव सम्यक्चारित्र सादरं बिभर्तीति भावः। 'संयमे यमजे धर्मराजे ध्वाङ्क्षे युगे यमः' इति विश्वलोचनः ।।६३।।**

अर्थ- जो जिनेन्द्रदेव के चरणकमलयुगल की स्तुति को प्राप्त होता है वह चारित्र के आदर को प्राप्त होता है, ऐसी महावीर तथा मृत्युञ्जयी गुरु की वाणी है। ।।६३।।

[६४]

योऽस्ति न सदाहारं रत्नत्रयं च कलयति न सदा हारम् ।
गतमानसदाहाऽरं तमेतु स त्रासदं हा! रम् ।।

य. सत् आहार न अत्ति, रत्नत्रय हार च सदा न कलयति, हे गतमानसदाह! स (जन) त्रासद त कम् अरं हा! एतु।

य इति- **यो जनः सदाहारं संश्चासावाहारश्चेति सदाहारस्तं शुद्धसात्त्विकं भोजनम्। न अत्ति न भक्षयति। रत्नत्रयं सम्यग्दर्शनादित्रिकरूपं हारं ग्रैवेयकं सदा सर्वदा न कलयति न दधाति स जनः हे गतमानसदाह! गतो विनष्टो मानसस्य हृदयस्य दाहस्तापो यस्य तत्सम्बुद्धौ। त्रासदं दुःखप्रदं तं प्रसिद्धं रं कामाग्निम्। अरं शीघ्रं एतु**

प्राप्नोतु। हा खेदे। विशुद्धाहारी रत्नत्रयधारी च यमी मदनाग्निना न दह्यत इति भावः। 'रस्तु कामानले वह्नौ तीक्ष्णे' इति विश्वलोचनः। 'लघुक्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः ।।६४।।

अर्थ- जो मनुष्य शुद्ध सात्त्विक आहार को ग्रहण नहीं करता और न सदा रत्नत्रयरूपी हार को धारण करता है। हे कामाग्नि सम्बन्धी मानसिक दाह से रहित मुने! वह, खेद है दुःखदायक कामाग्नि को शीघ्र ही प्राप्त होवे ।।६४।।

[६५]

सुखिनः सुखे सखे न मरुत्सखाः खेचरोऽयुतः सखेन ।
नरो जिनदास! खे न ह्यार्तस्ततः स्वे वस खे न ।।

सखे, जिनदास! मरुत्सखा सुखे सुखिन न स खेचरः खेन अयुत., नरः खेन आर्त., ततः स्वे वस, खे न (वस)।

सुखिन इति- हे सखे जिनदास! मित्रजिनभक्त! मरुत्सखाः मरुतां देवानां सखायो, मरुत्सखाः। 'राजाहस्सखिभ्यष्टच्' इति टच् समासान्तः। इन्द्राः सुखे स्वर्गे 'सुखं शर्मण्यपि स्वर्गे' इति विश्वलोचनः। सुखिनः सुखसहिताः न सन्तीति शेषः। स प्रसिद्ध खेचरो विद्याधरः खेन सुखेन 'खमाकाशे दिवि सुखे शुद्धौ संवेदने पुरे' इति विश्वलोचनः। अयुतो रहितोऽस्तीति शेषः। नरो मनुजो खेन पीडया हि यतः आर्तः पीडितः। ततः स्वे स्वस्मिन् शुद्धात्मस्वरूपे वस। खे इन्द्रिये जातित्वादेकवचनप्रयोगः। इन्द्रियेषु मा रमस्वेति भावः ।।६५।।

अर्थ- हे मित्र! जिनदास! इन्द्र स्वर्ग मे सुखी नहीं है, वह खेचर–विद्याधर सुख से रहित है और मनुष्य वेदना से पीड़ित है। अतः तू अपने आप मे –शुद्धात्मस्वरूप में निवास कर, इन्द्रियों मे नहीं ।।६५।।

[६६]

तप्त ! मनोभववसुना भव्य चिदनुभवसवेन भव वसुना ।
तृप्तोऽलं भववसु ना स्यात् सुखीत्वा विद्भववसुना ।।

भव्य! मनोभववसुना तप्त ! चिदनुभव सवेन वसुना तृप्त. भव, भववसुना अलम् ना विद्भववसु ईत्वा सुखी स्यात् ।

तप्तेति- मनोभववसुना मनोभवः काम एव वसुः अग्निस्तेन। 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति विश्वप्रकाशः । तप्त! संतप्त! हे भव्य! चिदनुभवसवेन चितोऽनुभव एव सवं जलं तेन 'सवं जलाह्वयवोः स्नाने' इति विश्वलोचनः। तृप्तो भव

संतुष्ट एधि। भववसुना भवस्य संसारस्य वसु धनं स्वर्णादिकं माणिक्यादिकं वा तेन। 'वसु तोये धने मणौ' इति विश्वः। अलं पर्याप्तं निषेधार्थकोऽव्ययः। ना पुमान् विद्भववसु विद् ज्ञानमात्मा वा तद्भवं तदुत्पन्नं वसु धनं ईत्वा लब्ध्वा सुखी सौख्योपेतः स्यात् ।।६६।।

अर्थ- हे कामाग्नि से संतप्त भव्य! तू आत्मानुभवरूप जल से संतुष्ट हो जा, ससार के धन से बाज आओ। क्योंकि मनुष्य आत्मोत्थधन को पाकर सुखी हो सकता है ।।६६।।

[६७]

जडजेन माऽक्षरेण कुरु किन्तु सम्बन्धममाऽक्षरेण ।
कलयतु विना क्षरेण न दवेन कुस्तप्ताऽक्ष ! रेण ।।

जडजेन अक्षरेण सम्बन्ध मा कुरु, किन्तु हे अक्ष! अक्षरेण अमा (सम्बन्ध कुरु) । रेण दवेन तप्ता कु क्षरेण विना न कलयतु।

जडजेनेति- **हे अक्ष! अक्ष्णोति व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा तत्सम्बुद्धौ हे आत्मन्! त्व जडजेन पौद्गलिकेन अक्षरेण द्रव्यश्रुतवर्णेन सम्बन्ध मा कुरु नो विधेहि। किन्तु अक्षरेण ब्रह्मरूपेणात्मना सम्बन्धं कुरु। 'अक्षरं न द्वयोर्मोक्षे ब्रह्मणि व्योमवर्णयोः' इति विश्वलोचनः। अमा साकं सम्बन्धं कुरु । रेण तीक्ष्णेन दवेन वनाग्निना तप्ता कुः पृथिवी क्षरेण मेघेन जलेन वा विना न कलयतु प्राप्नोतु शान्तिमिति योज्यम्। ' रस्तु कामानले वह्नौ तीक्ष्णे' इति 'क्षरो मेघे क्षरं नीरे' इति विश्वलोचनः । 'वने च वनवह्नौ च दवो दाव इहेष्यते' इत्यमरः । नवपूर्वाधिकैकादशाङ्गद्रव्यश्रुतपाठी न तरति संसारसागरादिति भावश्रुतेन सम्बन्धं विधेहीति भावः ।।६७।।**

अर्थ- हे आत्मन्! पौद्गलिक अक्षररूप द्रव्यश्रुत से सम्बन्ध मत करो, किन्तु अक्षर—ब्रह्मरूप आत्मा से सम्बन्ध करो अर्थात् भावश्रुत से सम्बन्ध जोड़ो, क्योंकि तीक्ष्ण दावानल से सतप्तभूमि जल अथवा मेघ के बिना शान्ति को प्राप्त नहीं हो सकती ।

भावार्थ- जिस प्रकार सतप्त पृथिवी को शान्त करने के लिए जल की आवश्यकता है। उसी प्रकार विषयानलसंतप्त आत्मा को शान्त करने के लिए भावश्रुत की आवश्यकता है ।।६७।।

[६८]

असावभावो भावः पर्यायस्य न भावस्य च भावः ।
त्रैकालिकस्तु भावः परमेष्ठिमतस्येति भावः ।।

असौ भाव अभाव. च पर्यायस्य, भावस्य भावः न। भावः तु त्रैकालिकः- इति परमेष्ठिमतस्य भावः।

असाविति- असौ अनुभवगोचरो भाव उत्पादः, अभावो व्ययश्च पर्यायस्य भवति। भावस्य द्रव्यस्य भाव उत्पादो नास्ति। भावस्तु द्रव्यं तु त्रैकालिकस्त्रिकालवर्ती नित्य इत्यर्थः। इतीत्थं परमेष्ठिमतस्य जैनदर्शनस्य भावोऽभिप्रायोऽस्तीति शेषः। 'भावोऽभिप्राय आशयः' इत्यमरः। जैनदर्शने तत्त्वं नित्यानित्यात्मकं प्रतिपादितं तच्च द्रव्यदृष्ट्या नित्यं पर्यायदृष्ट्या चानित्यं वर्तते। इत्थमुत्पादव्ययौ पर्यायस्य भवतो द्रव्यं तु त्रैकालिकत्वाद् भावरूपं विद्यत इति भावः ।।६८।।

अर्थ- यह उत्पाद और व्यय पर्याय का है, द्रव्य का नहीं। भाव-द्रव्य तो त्रैकालिक है–नित्य है, यह जैनमत का भाव—आशय है। ।।६८।।

[६९]

यत्र रागाय वीचिर्मरीचेश्चेतसि चेन्मदो-वीचिः ।
तत्र न चकास्तु वीचिः किं न स दुःखपूर्णोऽवीचिः ।।

यत्र मरीचे चेतसि रागाय वीचि च मद वीचि (स्यातां) चेत्, तत्र वीचि न-चकास्तु। सः किं दु खपूर्ण अवीचि न? (अस्त्येव)

यत्रेति–मरीचेर्मुनेः यत्र चेतसि हृदये रागाय रतिपरिणामाय वीचिरवकाशः, वीचिस्तरङ्गरूपः सन्ततिबद्धः स्वल्पो वा मदोऽहङ्कारश्च विद्यते चेत् तत्र मुनिहृदये वीचिः सुखं न चकास्तु न शोभताम्। एवंभूतः स मरीचिर्मुनिः किं दुःखपूर्णः संकटापन्नोऽवीचिर्नरको न वर्तते? अपि तु वर्तत एव । 'वीचिर्द्वयोः स्वल्पतरङ्गयोः। अवकाशे सुखे चाथ' इति ' मरीचिर्ना द्वयोर्दीप्तौ मुनौ ना कृपणेऽपि च' इति 'अवीचिर्नरके घूर्मि विरहे घूर्मिवर्जिते' इति च सर्वत्र विश्वलोचनः ।।६९।।

अर्थ- मुनि के जिस हृदय मे राग के लिये अवकाश है तथा अल्प अथवा सन्ततिबद्ध अभिमान है, उसमें सुख सुशोभित नहीं हो सकता। ऐसा मुनि क्या दु:खों से भरा हुआ नरक नहीं है? अर्थात् नरक ही है।

भावार्थ- रागद्वेष के रहते यथार्थ सुख की अनुभूति नहीं हो सकती ।।६९।।

[७०]

यो भुवि मुनिलिङ्गमितस्तेनाप्यत इति को जिनवागमितः ।
येन मदोन्तंगमितश्चात्मा ह्यविनश्वरो गमितः ।।

''य भुवि मुनिलिङ्गम् इत येन मद. अन्तगमित., आत्मा च गमितः तेन अमित. कः आप्यते'' - इति जिनवाक् ।

य इति- यो जनः, भुवि वसुधायां मुनिलिङ्गं निर्ग्रन्थमुद्रां इतः प्राप्तः । येन जनेन मदो गर्वं अन्तंगमितो विनाशं प्रापितः । अविनश्वरो नित्य आत्मा च गमितो ज्ञातः तेन जनेन, अमितः सीमातीतः कः सुखम् आप्यते इतीत्थं जिनवाग् जिनेन्द्रभारती विद्यते इति शेषः ।।७०।।

अर्थ- पृथिवी पर जो मुनिलिङ्ग — निर्ग्रन्थवेष को प्राप्त हुआ है, जिसने अभिमान को नष्ट किया है और जिसने अविनाशी आत्मा को जान लिया है, उसके द्वारा अपरिमित सुख प्राप्त किया जाता है,ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का वचन है ।।७०।।

[७१]

तदस्त्यसुमतामहित-मकं ततो दूरीभव त्वमहितः ।
यो प्राणिग्रामहितः स वदतीति मुनिसमितिमहितः ।।

'तत् अकम् असुमताम् अहितम् अस्ति। ततः अहितः त्वम् दूरीभव'' इति- यः मुनिसमितिमहित प्राणिग्रामहितः—स वदति ।

तदिति- तत् प्रसिद्धम्। अकं पापम्। असुमतां प्राणिनाम् अहितमकल्याणकरमस्ति। ततः अहितः सर्परूपात् पापात् त्वं दूरीभव तत्समीपं न गच्छेत्यर्थः । इतीत्थं यः मुनिसमितिमहितः मुनीनां साधूनां समितिः समूहस्तया महितः पूजितः प्राणिग्रामहितः प्राणिनां ग्रामः समूहस्तस्य हितं यस्मात् सः। स एवं भूतो वदति कथयति। 'ग्रामः स्वरे संवसथे वृन्दे शब्दादिपूर्वकः' इति, 'अकं दुःखाघयोः', 'समितिः सङ्गरे साम्ये सभायां सङ्गमेऽपि च' इति च विश्वलोचनः ।।७१।।

अर्थ- 'वह पाप प्राणियों का अहितकारी—शत्रु है—सर्परूप उस पाप से तू दूर रह' ऐसा मुनियों के समूह से पूजित और प्राणिसमूह के लिये हितकारी जिनेन्द्र कहते हैं।।७१।।

[७२]

स मुदमेति वासन्तः समुत्सवो वने यदा वासन्तः ।
नेत्वा निजवासन्त आशु शं शिष्या वा सन्तः ।।

यदा वासन्तः समुत्सवः वने एति (तदा) स वासन्तः मुदम् एति। हे न ! ते शिष्या सन्त वा निजवास शम् इत्वा आशु (मुदं यन्ति) ।

स इति- यदा यस्मिन् काले वासन्तः वसन्ते भवः समुत्सवः समुल्लासः । वने विपिने एति समागच्छति तदा तस्मिन् काले वासन्तः कोकिलः। 'वासन्तः कोकिले मुद्गे' इति विश्वलोचनः। मुदं हर्षं 'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसंमदाः' इत्यमरः। एति

प्राप्नोति। हे न! हे जिन! ते तव शिष्याः सन्तो वा निजवासं निजे स्वात्मनि वासो यस्य तं शं शर्म। ईत्वा प्राप्य मुदं यन्तीति योजनीयम् ।।७२।।

अर्थ- जब वन मे वसन्त का उत्सव आता है, तब कोयल हर्ष को प्राप्त होती है। इसी तरह हे जिन! आपके शिष्य और सत्पुरुष आत्मस्थ—आत्मसम्बन्धी सुख को प्राप्त कर मोद को प्राप्त होते हैं। ।।७२।।

[७३]

कुधीः सुखी नाके न ततो युतो भव केन नो नाऽकेन ।
दुःखिनो विना के न दृशा किं नरकेण नाकेन ।।

हे न ! नाके कुधी. सुखी न, तत· केन युत भव, अकेन युत. न भव। (अत) नरकेण (च) नाकेन च किम् ? दृशा विना के (जना) दु खिन. न ?।

कुधीरिति- **हे नः । हे मनुज!नाके स्वर्गे 'स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः' इत्यमरः। कुधीः कुत्सितबुद्धियुक्तो जनः सुखी न। ततस्तस्मात् केन आत्मना युतो भव। अकेन पापेन युतो न भव। अतः नरकेण श्वभ्रेण नाकेन स्वर्गेण च किं? दृशा सम्यग्दर्शनेन विना के जनाः दुःखिनो न सन्तीति शेषः। सम्यग्दर्शनमेव सुखस्य समीचीनं साधनमस्ति। तच्च स्वात्माश्रयेण जायतेऽतस्तत्रैव प्रयत्नः कार्यः ।।७३।।**

अर्थ- हे मनुज! स्वर्ग मे अज्ञानी — मिथ्यादृष्टि जीव सुखी नहीं है। अत· तू क — आत्मा से युक्त हो, अक—पाप से युक्त मत हो। इसलिये नरक और स्वर्ग से क्या ? सम्यग्दर्शन के बिना कौन मनुष्य दु.खी नहीं है ?।।७३।।

[७४]

प्रतापी ह्यपि रोहितः पवनपथि यथा पयोदतिरोहितः ।
आत्माप्याह रोहितः कर्मरजसेति नृवरो हितः ।।

पवनपथि प्रतापी अपि रोहित. यथा पयोदतिरोहित. (भवति) (तथैव) रोहितः आत्मा अपि कर्मरजसा (तिरोहित भवति) इति नृवरः हितः आह

प्रतापीति- **यथा येन प्रकारेण पवनपथि गगने प्रतापी प्रतपनशीलोऽपि रोहितः सूर्यः पयोदतिरोहितो मेघान्तरितो भवति, तथा रोहितः सूर्यस्वरूप आत्मापि कर्मरजसा कर्मपांशुना तिरोहितो भवति। इतीत्थं हितः कल्याणकारी नृवरो नरोत्तमो जिन इति यावत्। आह जगाद ।।७४।।**

अर्थ- जिस प्रकार आकाश में प्रतापी होने पर भी सूर्य मेघों से छिप जाता है, उसी प्रकार सूर्यरूपी आत्मा भी कर्मरूपी धूलि से तिरोहित हो रहा है — छिप रहा है, ऐसा कल्याणकारी नरोत्तम — जिनेदव ने कहा है ।।७४।।

[७५]

नो सुखं सदाशातो जन्माप्राक्तो रवेः कदाऽऽशांतः ?।
तथापि निजदाशातो दूरोऽस्तोऽज्ञः सदा शातः ।।

अशात. सत् सुख न। अप्राक्त. आशात रवे· जन्म कदा (भवति) ? तथापि निजदाशात. अज्ञ. सदा दूर. (वसति), अत: शात. (भवति) ।

नो इति- **आशातः आशायाः तृष्णात इति यावत् तसिलन्तप्रयोगः। सत् समीचीनं सुखं शर्म नो न भवतीति शेषः। अप्राक्तः पूर्वेतरतः आशाया दिशायाः। रवेः सूर्यस्य, जन्म उदयः कदा भवति? न कदापीत्यर्थः। तथापि अज्ञो जनः निजदाशातः निजं ददातीति निजदा सा चासौ आशा चेति निजदाशा तस्या स्वात्मावबोधाशायाः अथवा दशा एव दाशा निजस्य दाशा तस्याः स्वात्मदाशातः सदा दूरो वसति। अतः अशातः नास्ति शातं सुखं यस्य तथाभूतः दुःखीत्यर्थः भवति। 'शातं शर्मणि' इति विश्वलोचनः ।।७५।।**

अर्थ- आशा – तृष्णा से समीचीन सुख नहीं होता। पूर्वेतर – पश्चिमादि दिशा से सूर्य का उदय कब होता है? फिर भी अज्ञानी मनुष्य निज दशा से दूर रहता है इसीलिये वह सदा अशात – सुखरहित अर्थात् दु:खी रहता है। ।।७५।।

[७६]

स्वे वस मुदाऽमा यते! निजानुभवं कुरु चिन्तां माऽऽयतेः ।
नास्तु हीहामाय ते श्रयमुरसि भयमेहि माऽऽयतेः ।।

यते! मुदा अमा स्वे वस। निजानुभवं कुरु, आयतेः चिन्तां मा (कुरु)। आयते भय मा एहि। हि ते उरसि ईहामाय श्रयं न अस्तु ।

स्व इति- हे यते! भो श्रमण! मुदा हर्षेण अमा सह स्वे स्वात्मनि वस निवासं कुरु। निजानुभवं स्वसंवेदनं कुरु। आयतेः भविष्यतः चिन्तां मा कुरु। आयतेः यमस्य 'आयतिस्तु यमे दैर्घ्ये प्रभावोत्तरकालयोः' इति विश्वलोचनः। भयं भीतिं मा एहि नो गच्छ। हि निश्चयेन ते उरसि हृदये । ईहामाय ईहा इच्छैव अमो रोगस्तस्मै भोगाकांक्षारूपरोगाय। श्रयं स्थानं मास्तु नो भवतु ।।७६।।

अर्थ- हे श्रमण! हर्ष के साथ अपने आत्मस्वरूप मे निवास करो। निज का अनुभव करो। भविष्य की चिन्ता मत करो। मृत्यु के भय को प्राप्त मत होओ–मृत्यु से डरो नहीं और तुम्हारे हृदय मे इच्छारूपी रोग के लिए स्थान नहीं हो ।।७६।।

[७७]

क्षारतः संसारतः पारावारतो दुःखमसारतः ।
निजे भवाब्जसारतः सुखं सत् स्यात् स्वतः सारतः ।।

असारत क्षारत पारावारत ससारत दुःखं (हिं प्राप्यते)। अतः निजे अञ्जसा रतः भव। स्वत. सारतः सत् सुखं स्यात्।

क्षारत इति- असारतो नास्ति सारो यस्मिंस्तस्मात् साररहितात्। क्षारतः लवणस्वभावात्, पारावारतः सागरात् संसारतः पञ्चपरावर्तनमयसंसारात् दुःखं कष्टं हि प्राप्यते। अतो निजे स्वशुद्धात्मनि अञ्जसा यथार्थतो रतो लीनो भव। स्वतः स्वस्मात् सारतो यथार्थतः सत् समीचीनं सुखं सातं स्यात् भवेत्।।७७।

अर्थ- सारहीन, खारे, सागरस्वरूप संसार से दुःख ही प्राप्त होता है। इसलिये निजस्वरूप मे यथार्थत. लीन हो, सारभूत निज से सच्चा सुख होता है।।७७।।

[७८]

न हि कैवल्यसाधनं केवलं यथाजात- प्रसाधनम्।
चेन्न, पशुरपि साधनं व्रजेदव्ययमञ्जसा धनम्।।

केवल यथाजात-प्रसाधन न हि (इत्थम्) चेत् न, (तर्हि) पशु अपि अञ्जसा अव्ययं साधन धन व्रजेत्।

नहीति- केवलं मात्रं यथाजातप्रसाधनं यथाजातस्येव सद्योजाततनयस्येव प्रसाधनं वेषो 'वेशे प्रसाधनम्' इति विश्वलोचन। कैवल्यसाधनं मोक्षोपायो न हि नैव विद्यते इति शेष.। न चेत्? एवं न स्यात्तर्हि पशुरपि गोगजाश्वमहिषीप्रभृतितिर्यगपि अञ्जसा यथार्थतया अव्ययमविनश्वरं साधनं गति मोक्षगतिरूपं धनं व्रजेत् प्राप्नुयात्। यदि नाग्न्यमेव मोक्षस्य साधनं तर्हि पशुरपि नग्नत्वान्मोक्षं लभेत। परमार्थतो रत्नत्रयमेव मोक्षस्य मार्गो विद्यते। तत्पूर्तिश्च निर्ग्रन्थमुद्रायामेव जायते तस्मात्तदप्युपादेयमेव। 'साधनं मेहने सैन्ये निवृत्तिगतिसिद्धिषु' इति विश्वलोचनः।।७८।।

अर्थ- मात्र नग्नवेष ही मोक्ष का उपाय नहीं है। यदि ऐसा न हो तो, पशु भी यथार्थ मे अविनश्वर गति—मोक्षरूपी धन को प्राप्त हों।

भावार्थ- मोक्ष का साक्षात् कारण रत्नत्रय की पूर्णता है और वह पूर्णता निर्ग्रन्थवेष मे ही होती है। अतः उसे भी बाह्य साधन स्वीकृत किया गया है।।७८।।

[७९]

स्वीयतो भुवि भावतः शिवं भवेद् भववृद्धिर्विभावतः।
विरतो भव विभावत इति वाग्घि विवेकविभावतः।।

''स्वीयत भावत. भुवि शिवं भवेत्, भववृद्धिः विभावतः (भवेत्) अतः विभौ विरत. भव''- इति हि विवेकविभावत वाग्।

स्वीयत इति- **स्वीयतः स्वकीयात् भावतो वीतरागपरिणामात् भुवि पृथिव्यां शिवं श्रेयो मोक्षो वा भवेत्। विभावतः विरुद्धो भावो विभावस्तस्मात् सरागपरिणामात् भववृद्धिः संसारवृद्धिः भवेत्। अतोऽस्मात् कारणात् विभौ प्रभौ जिन इति यावत्। विरतो विशेषेण रतो लीनो भव। अथवा विभावतो विभावपरिणामात् विरतो निवृत्तो भव। इति हि विवेकविभावतः विवेकस्य ज्ञानस्य विभा दीप्तिर्विद्यते यस्य तस्य केवलज्ञानिनो वाग् वाणी। अस्तीति शेषः ।।७९।।**

अर्थ- 'स्वकीय स्वभाव से पृथिवी पर शिव – कल्याण अथवा मोक्ष होता है और विभाव–रागादि परिणाम से संसार की वृद्धि होती है। अतः हे श्रमण! तू वीतराग सर्वज्ञ प्रभु मे विलीन हो जा' ऐसी विवेकविभावान्– केवलज्ञान की प्रभा से युक्त जिनेन्द्र की वाणी है।।७९।।

[८०]

चरणमुकुटः शिरसि त आभवतो न सुदृगसितमणिरसितः ।
धृतोऽतो यो न रसित-गोचरः कोऽसौ शुचिरसितः ।।

आभवत ते शिरसि सुदृगसित-मणिरसित चरणमुकुट न धृत. । अत य रसितगोचर न, असौ शुचि. क असित ?

चरणेति-**आभवतः अनादिसंसारात् अद्यावधिरिति यावत्।ते भवतः सुदृगसितमणिरसित. सुदृक् सम्यग्दर्शनमेव असितमणिर्नीलमणिस्तेन रसितः खचितः 'स्वर्णादिखचिते तु स्यात्त्रिष्वेव रसितं मतं' इति विश्वलोचनः।अथवा रलोरभेदात् लसितः शोभितः।चरणमुकुटः पादमौलिः शिरसि मूर्ध्नि स्वस्येति शेषः।न धृतो नो स्थापितः।अतोऽस्मात्कारणात् यो रसितगोचरो न शब्दगोचरो न, असौ सः। शुचिरुज्ज्वलः क आत्मा असितोऽज्ञातो वर्तते ममेति यावत्। भवच्चरणसरोजवन्दनप्रभावादेव चारित्रं भवति चारित्राच्चात्मोपलब्धिर्भवतीति भावः ।।८०।।**

अर्थ- हे भगवन्! मैने अनादिसंसार से आज तक सम्यक्त्वरूपी नीलमणि से खचित आपका चारित्ररूपी मुकुट अपने मस्तक पर नहीं चढ़ाया, इसीलिये जो शब्द का विषय नहीं वह निर्मल आत्मा मेरे लिये अज्ञात रही ।।८०।।

[८१]

यस्त्रियोगैरञ्जनं रागमयं विहाय जगद्-रञ्जनम् ।
भजति जिनं निरञ्जनं तमेति मुक्तिः साऽरं जनम् ।।

यः त्रियोगैः रागमयम् अंजनं विहाय, जगद्रञ्जनं निरञ्जनं जिनं भजति, तं जनं सा मुक्तिः अरम् एति।

य इति- यो जनः त्रियोगैः मनोवाक्कायाभिधानैः। रागमयं रागप्रचुरं अञ्जनं नयनकज्जलं विहाय त्यक्त्वा जगद्रञ्जनं जगदानन्ददायनं निरञ्जनं निष्कलङ्कं जिनमर्हन्तं भजति सेवते तं जनं पुरुषं सा प्रसिद्धा मुक्तिः शिवरमा। अरं शीघ्रम्। एति प्राप्नोति। जिनभजनं मुक्त्यासज्जनमिति भावः ।।८१।।

अर्थ- जो मन-वचन-काय से रागरूप काजल को छोड़कर जगत् को आनन्द देने वाले, कर्मकालिमा से रहित जिनेन्द्र की सेवा करता है, उस पुरुष को वह मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही प्राप्त होती है ।।८१।।

[८२]

त्यजेत्वा सङ्गमेन आश्वलमनेन च दुःसङ्गमेन।
भज नमसङ्गमेनमनात्मनि विश्वासं गमे न ।।

सङ्ग एन ईत्वा आशु त्यज। अनेन दुस्सङ्गमेन च अलम्। असङ्गम् एन नं भज। अनात्मनि गमे विश्वासं न (कुरु)।

त्यजेति- सङ्गं परिग्रहं एनः पापं ईत्वा ज्ञात्वा आशु शीघ्रं त्यज। अनेन सङ्गेन दुःसङ्गमेन च कुसंगत्या च अलं पर्याप्त ततो विरमेति यावत्। असङ्गं निर्ग्रन्थं, एनं एतं न जिनं भज सेवस्व अनात्मनि स्वात्मेतरे गमे मार्गे विश्वासं विस्रम्भं न कुर्विति शेषः।।८२।।

अर्थ–परिग्रह को पाप जानकर शीघ्र छोडो। इस परिग्रह और कुसंगति से बाज आओ, दूर रहो। इन निर्ग्रन्थ जिनेन्द्र की सेवा करो, पर पथ मे विश्वास मत करो।।८२।।

[८३]

तथा जितेन्द्रियोऽङ्गत्तो निस्स्पृहोऽभवं योगी च योगतः।
पक्वपर्णोपचयोऽगतो यथा पतन् मा चल योगतः ।।

य जितेन्द्रिय योगी अभवगत., अङ्गत च तथा निःस्पृह. यथा अगत पतन् पक्वपर्णपचयः(निःस्पृहो भवति) अत. योगत मा चल।

तथेति– यो जितेन्द्रियः जितानि वशीकृतानि इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि येन सः। योगी साधुः अभवं गतः संसाराभावं गतः प्राप्तः। अङ्गत्तो देहाच्च तथा तेन प्रकारेण निस्पृहो निरभिलाषो जातो यथा। अगतः पादपात् 'पादपोऽगो वनस्पतिः' इति धनञ्जयः। पतन् पक्वपर्णोपचयः पक्वानां गलितरसानां पर्णानां पत्राणामुपचयः समूहो निस्पृहो भवति। अतो हेतोः योगतो ध्यानात् मा चल विचलितो नो भव। यो योगी जितेन्द्रियः पादपात्पतन् पक्वपत्रप्रचय इवाङ्गत्तोऽपि निस्पृहो भवति स एव भवोच्छेदं कर्तुं पारयति तस्मादुत्पातोपनिपातेऽपि गृहीतयोगाद्विचलितो न भवेति भावः ।।८३।।

अर्थ– जो जितेन्द्रिय साधु अभव–संसाराभाव को प्राप्त हुआ है, वह शरीर से उस प्रकार निस्पृह रहता है, जिस प्रकार वृक्ष से पड़ता हुआ सूखे पत्तो का समूह। अतः हे योगिन्! तू (शारीरिक उत्पात आने पर) योग से विचलित न हो।।८३।।

[८४]

यो धत्ते सुदृशा समं मुनिर्वाङ्मनोभ्यां च वपुषा समम्।
विपश्यति सहसा स मं ह्यनन्तविषयं न तृषा समम्।।

य मुनि सुदृशा वाड्मनोभ्या च वपुषा सम समं धत्ते, स हि अनन्तविषय म सहसा सम विपश्यति, तृषा (सम) न (पश्यति)।

य इति–**यो मुनि सुदृशा सम्यग्दर्शनेन समं सार्धं वाङ्मनोभ्यां वचोमानसाभ्यां वपुषा च शरीरेण च सम साम्यपरिणामं धत्ते स मुनिः सहसा झटिति समं मया ज्ञानलक्ष्म्या सहित अनन्तविषय सर्वगोचरं सर्वज्ञमिति यावत्। मं विधिं ब्रह्माणं आत्मानमिति यावत् विपश्यति विशेषेण पश्यति समवलोकते। तृषा तृष्णया अनन्तभोगाकांक्षया न विपश्यति हि निश्चयत 'मश्चन्द्रे मो विधौ' इति विश्वलोचन।।८४।।**

अर्थ- जो मुनि सम्यग्दर्शन के साथ मन-वचन-काय से साम्यभाव को धारण करता है, निश्चय से वह अनन्तपदार्थो के ज्ञाता ब्रह्मा–आत्मा को शीघ्र ही देखने लगता है– उसका अनुभव करने लगता है, किन्तु तृष्णा के साथ नहीं।।८४।।

[८५]

करणकुञ्जरकन्दरं स्वरससेवन - संसेवित - कन्दरम्।
त्वा स्तुवे मेऽकं दरं कलय गुरो! दृक्कृषिकंद! रम्।।

(हे) गुरो! दृक्कृषिकन्द! स्वरससेवन- ससेवितकन्दर करणकुञ्जरकन्दर त्वा स्तुवे। मे अक दर कलय।

करणेति- **हे गुरो! हे दृक्कृषिकंद! दृगेव सम्यग्दर्शनमेव कृषि तस्यै कं जलं ददाति, तत्सम्बुद्धौ। करणकुञ्जरकन्दरं करणानीन्द्रियाण्येव कुञ्जरा गजास्तेषां कन्दरोऽङ्कुशस्तम्।स्वरससेवनसंसेवितकन्दरं स्वरसस्य स्वात्मानुभवस्य सेवनाय संसेविता निवासीकृता कन्दरा गुहा येन त। त्वा भवन्तं स्तुवे स्तवनं करोमि। मे स्तोतुः। रं तीक्ष्ण तीव्रमिति यावत् अकं दुखं दरं ईषत् कलय कुरु। 'वा स्त्री तु कन्दरो दर्यामङ्कुशे पुसिकन्दर' इति 'रस्तु कामानले वह्नौ तीक्ष्णे' इति च विश्वलोचन।।८५।।**

अर्थ- हे गुरो! हे सम्यक्त्वरूपी खेती को जल देने वाले! जो इन्द्रियरूपी हाथियों को वश करने के लिये अकुश है तथा आत्मानुभव का सेवन करने के लिये जो कन्दराओं – गुफाओं में निवास करते है, ऐसे आपकी मै स्तुति करता हू आप मेरे तीव्र दु.ख को लघु – हल्का कर दे।।८५।।

[८६]

स हि मुनिर्मयाऽरमितः प्रणतिं यो क्षमारामया रमितः।
गदितमिति जिनैरमितश्चाप्यते कोऽनया नर! मितः।।

य' क्षमारामया रमितः, स हि मुनि म्या अरं प्रणतिम् इत (हे) नर! अनया अमित. मित. च क. आप्यते–इति जिनै गदितम्।

स इति- **यः क्षमारामया क्षमैका रामा रमणी तया रमितः रमणं प्राप्तः स हि मुनिः मया स्तोत्रा अरं शीघ्रं प्रणतिं प्रणमनं इतः प्राप्तः । हे नर! अये मानव! अनया क्षमया अमितः मितातीतो मोक्षभव इति यावत्। मितश्च सीमन्सहितश्च स्वर्गादिसमुद्भव इत्यर्थः कः सुखं आप्यते लभ्यते। इत्येवं जिनैरर्हद्भिः। गदितं कथितम् ।।८६।।**

अर्थ- जो क्षमारूपी रमणी से रमा गया है-- उसमें निरन्तर लीन है वह मुनि मेरे द्वारा शीघ्र ही प्रणाम को प्राप्त होता है- मैं उसे सहसा प्रणाम करता हूं। हे मानव! 'इस क्षमा से मोक्ष का अपरिमित और स्वर्गादि का परिमित सुख प्राप्त होता है' ऐसा जिनेन्द्र भगवन्तो ने कहा है ।।८६।।

[८७]

ननु निश्चयो यो नय शिवदो न वन्द्यो न न च नयोऽनयः ।
नम पयोजयोनय आशु नाश्यन्ते कुयोनयः ।।

ननु य. निश्चय नय (स) शिवद न, वन्द्य. (च) न, नय अनय च न। पयोजयोनये नम (यस्मात्) कुयोनय आशु नाश्यन्ते।

नन्विति- **ननु परमार्थतो यो निश्चयो नय स्वाश्रितो नयः शुद्धवस्तुस्वरूपप्रतिपादको नय स शिवदो न मोक्षप्रदो न वन्द्यो वन्दनीयश्च न। नयेन मोक्षो न प्राप्यते, नयस्तु नयनवत्पथप्रदर्शक एव ततोऽसौ वन्दनीयो नास्ति। एवं चेद् नयो व्यर्थ इति शङ्का न विधेया। नयोनिश्चयव्यवहारभेदभिन्नो नयः अनयो न, न विद्यतेऽय शुभावहो विधिर्यत्र सोऽनयः शुभावहविधिरहितो न, किन्तु प्रारम्भदशायां पथप्रदर्शकत्वेन कल्याणकृद् भवति। अथवाऽयं नय सुनय अयं च कुनय इति विकल्पो न श्रेयान्, नयातीत एव नरः स्वात्मस्वरूपं लब्धुं शक्नोति। अतो नयानयविचारं मुक्त्वा पद्मयोनिं जिनेन्द्रं नमस्करोमि यस्मात् कुयोनयो नरकादियोनयः आशु शीघ्रं नाश्यन्ते दूरीक्रियन्ते ।।८७।।**

अर्थ- परमार्थ से जो निश्चयनय है वह मोक्ष को देने वाला नहीं है इसलिये वन्दनीय भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि निश्चयनय मात्र मोक्षपथ का प्रदर्शक है मोक्षप्रदायक नहीं, मोक्ष के लिये पुरुषार्थ आत्मा को ही करना होता है। निश्चयनय मोक्ष का देने वाला नहीं है तथा वन्दनीय भी नहीं है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नय व्यर्थ है।प्रारम्भिक दशा में नय अनय नहीं है कल्याणकारी विधि से रहित नहीं है, अतः सार्थक है। अथवा मै नय और कुनय के पक्ष मे न पड़कर पद्मयोनि -- ब्रह्मस्वरूप आत्मा को नमस्कार करता हूँ, जिससे सब नरकादि कुयोनियाँ नष्ट होती हैं ।।८७।।

[८८]

तदाऽऽत्मा मेऽजायते मयि यदैव सच्चेतना जायते।
त्वमतस्तां भजाऽऽयतेर्न भयं या स्वभावजा यते ! ।।

यदा एव मयि सच्चेतना जायते, तदा (एव) मे आत्मा अजायते। (हे) यते! स्वभावजा या (सच्चेतना) ता भज। आयते भयं न (भज)।

तदेति- **यदैव यस्मिन्नेव समये मयि स्तोतरि सच्चेतना सती चासौ चेतनेति सच्चेतना रागादिरहिता ज्ञानपरिणतिः जायते तदैव तस्मिन्नेव काले मे मम आत्मा अजायते अज इवाचरतीत्यजायते जिनेन्द्रायते। दशमगुणस्थाने रागपरिणतेरभावे सति क्षीणमोहाभिधानद्वादशगुणस्थानेऽवशिष्टघातित्रिकं विनाश्यान्तर्मुहूर्ते सैवायमात्मार्हन् भवतीति प्रसिद्धेः। हे यते! अये श्रमण! स्वभावजा स्वाभाविकी या सच्चेतना तां भज। आयतेरुत्तरकालस्य भविष्यत इति यावत् भयं भीतिं त्यज। अग्रे कोऽहं भविष्यामीति विकल्पो न कार्य ।।८८।।**

अर्थ- जिस समय मुझमे सच्चेतना प्रकट होती है—मेरी ज्ञानपरिणति रागादिक विभावभावों से रहित होती है, उसी समय मेरी आत्मा अज—भगवान् जैसी हो जाती है। हे श्रमण! जो स्वाभाविक सच्चेतना है उसी की तू सेवाकर — आराधन-मनन-चिन्तन कर, भविष्यत् का भय न कर ।।८८।।

[८९]

निजस्य गतमदा नवः समावहन्तस्तं समं दानवः।
क एति कामदा नवस्तानाह नुतयमदानवः ।।

"(ये) गतमदा निजस्य नव त सम समावहन्त दानव, तान् कामदा नव क. एति" -इति नुतयमदानव आह।

निजस्येति- **ये गतमदा गतो नष्टो मदोऽहङ्कारो येषां ते निरभिमानाः निजस्य स्वात्मनः नवः स्तोतारः सन्ति। समं साम्यभावसहितं तं निजात्मानं समावहन्तो दधतः। यद्वा समं सार्धं त समावहन्तो दानवो विक्रान्ता वीरा इति यावत् । सन्तीति शेषः। तान् कामदा कामं ददातीति कामदा क्विबन्तप्रयोगः। नवो नूतनः कः प्रकाशः । एति प्राप्नोति। इतीत्थं नुतयमदानवः यमदानवैर्नुत इति नुतयमदानवः सुरासुरैः नुतो जिनेन्द्रदेव आह जगाद। 'नुः स्तोतरि नुतौ स्त्री च' । 'विक्रान्ते वाच्यवद्दानुर्दानदातरि वाच्यवत्'। 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्म द्योतबर्हिषु' इति च विश्वलोचनः ।।८९।।**

अर्थ- जो निरभिमान हो निज शुद्धात्मा की स्तुति करते है तथा उसी को सदा साथ धारण करते है वे वीर है।उन वीरों को मनोरथो का पूरक नूतन प्रकाश

(केवलज्ञान) प्राप्त होता है– ऐसा सुर–असुरों से स्तुतजिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।।८९।।

[९०]

शुचिर्विवेकदृशा न आत्मा दृश्यतेऽनया च दृशा न ।
ना बिना को दृशा न ते विदुरादर्श- सदृशा नः! ।।

(हे) नः ! विवेकदृशानः शुचिः आत्मा अनया दृशा च न दृश्यते। दृशा बिना कः न (आप्यते)- (एवं) ते आदर्श- सदृशा. नाः विदुः ।

शुचिरिति- हे नः ! अये मानव! विवेकदृशा भेदज्ञानदृष्ट्या शुचिरुज्ज्वलः नःपूज्य आत्मा दृश्यतेऽनुभूयते। अनया चर्ममय्या दृशा दृष्ट्या च न दृश्यते नावलोक्यते। दृशा भेदविज्ञान–दृष्ट्या बिना क आत्मा न आप्यते न लभ्यते। एवं ते आदर्शसदृशाः दर्पणतुल्या नाः जिनाः विदुर्जानन्ति ।।९०।।

अर्थ- हे मानव ! पूज्य निर्मल आत्मा भेदविज्ञानरूप दृष्टि से दिखाई देता है– अनुभव मे आता है, इस चर्ममयी दृष्टि से नहीं । दृष्टि के बिना क– आत्मा, सूर्य, प्रकाशादि प्राप्त नहीं होते–ऐसा दर्पण के समान वे जिनराज जानते है ।।९०।।

[९१]

दृशा विना चरणस्य भारं वहता च मदं च चरणस्य ।
नुमञ्चताऽऽचरणस्य नाप्तिर्नुतनृनभश्चर ! णस्य ।।

(हे) नुतनृनभश्चर ! दृशा विना चरणस्य भार, चरणस्य मद च वहता, आचरणस्य नुम् अञ्चता णस्य आप्तिः न (भवतीति) ।

दृशेति- हे नुतनृनभश्चर! नृनभश्चरै र्नरविद्याधरै-स्तुत! दृशा विना सम्यग्दर्शनमन्तरेण चरणस्य चारित्रस्य भारं बाह्यचरणस्य चारित्रस्य गोत्रस्य वा मदं गर्वं च वहता दधता, आचरणस्य नुं स्तुतिं च अञ्चता प्राप्तवता जनेन। णस्य ज्ञानस्य आप्तिः प्राप्तिर्न भवतीति शेषः। यः सम्यग्दर्शनेन रहितं चारित्रं बिभर्ति, तेन चारित्रेण गर्वं चावहति, चारित्रस्य नित्यं प्रशंसां च विदधाति तेन प्रकाशो निर्णयो वा नैव लभ्यत इति भावः ।।९१।।

अर्थ- हे मनुष्य एवं विद्याधरों से स्तुत जिनदेव! जो सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र का भार ढोता है, उस चारित्र से अपने उच्चगोत्र का गर्व करता है और स्वकीय आचरण की स्तुति – प्रशंसा करता है वह मनुष्य निर्णय अथवा ज्ञान को प्राप्त नहीं होता ।।९१।।

[९२]

सङ्गेऽङ्गेऽङ्गेरतः शिवाङ्गच्युतो योऽङ्ग ! स सङ्गरतः ।
किं दूरःसङ्गरतस्त्वमतोऽकाद्विरम सङ्गरतः ।।

(हे) असङ्ग ! अङ्ग ! य शिवाङ्गच्युत, सङ्गे अङ्गे रत स. कि सङ्गरत दूर. ? अत त्व सङ्गरत सङ्गरत अकात् विरम।

सङ्ग इति- **अङ्ग असङ्ग ! हे निर्ग्रन्थ ! य शिवाङ्गच्युतः शिवस्य मोक्षस्याङ्गानि निमित्तानि सम्यग्दर्शनादीनि तेभ्यः च्युतः पतितः सन्,सङ्गे परिग्रहे अङ्गे शरीरे च रतो लीनः स किं सङ्गरतः आपदः दूरो दूरवर्ती अस्तीति शेषः । अतः त्वं सङ्गरतो विपत्तिरूपात्, सङ्गरतः सम्यग्गरलरूपात् अकात् अघात् पापात् विरम विरतो भव। 'सङ्गरस्तु प्रतिज्ञाजिक्रियाकारे विषापदोः' इति विश्वलोचनः ।।९३।।**

अर्थ- हे निर्ग्रन्थ! जो मोक्ष के निमित्तभूत सम्यग्दर्शनादि से च्युत हो परिग्रह और शरीर की सभाल में लीन है, वह सगर – आपत्ति से दूर है क्या ? अत तू विपत्तिरूप एव विषरूप पाप से विरत हो ।।९२।।

[९३]

सत समयसारसतः सन्त्वलयोऽदूराः सहसा रसतः ।
परान्न दृक्साऽरसतः स्वतः सुधा स्रवति सारसतः ।।

सत अलय समयसारमत अदूरा सन्तु, रसत (च) सहसा (दूरा) (सन्तु)। सा दृक् परात् न (लभ्यते)। अरसत स्वत सारसत. (सा दृक्) सुधा स्रवति।

सत इति- **अलयो भ्रमरा गुणग्राहिणो जना इति यावत् सतः श्रेष्ठात् समयसारसतः समय आत्मैव सारसं कमलं तस्मात् अदूरा निकटस्था सन्तु भवन्तु। रसतः शरीराच्च सहसा दूरा सन्तु। सा प्रसिद्धा भव्यजनलभ्या दृक् सद्दृष्टिः परात् आत्मभिन्नाच्छरीरादेर्न लभ्यत इति शेषः। किन्तु अरसतः न विद्यते रसो रसनेन्द्रियविषयो यस्य सः अरसस्तस्मात् रसरहितात् स्वतः स्वस्मात् तसिलन्तप्रयोगः।लभ्यते। यथा सुधा पीयूषं सारसतश्चन्द्रात् स्रवति तथा दृक् स्वतः स्रवति प्रकटीभवति। 'सारसं सरसीरुहं' इत्यमरः। 'सारसं पङ्कजे क्लीबे सारसः पक्षिचन्द्रयोः' इति विश्वलोचनः ।।९३।।**

अर्थ- भ्रमर (गुणग्राहीजन) समीचीन, समय–आत्मारूपी सारस कमल से अदूर रहे – निकटस्थ रहे और रस – शरीर से दूर रहे। वह सम्यग्दर्शन पर से नहीं प्राप्त होता, रस – पौद्गलिक गुण से रहित स्वत स्वकीय आत्मा से प्राप्त होता है। जैसे कि सुधा –अमृत सारस – चन्द्रमा से झरती है, अन्य पाषाणादि से नहीं ।।९३।।

[९४]

पुण्यमुदयागतमदश्चाकमितरद भयं भवाद् गतमदः ।
न गतोऽखिलं गतमद इति वेद्मि विदन्तर्गतमदः ।।

भवात् भयगत ! अद. उदयागतं पुण्यम् अक च मत् इतरत्, अखिल गत गतमद. अः मत् इतर न - इति विदन्तर्गतमद. (अहं) वेद्मि ।

पुण्यमिति- **भवात् संसारात् भयंगत ! भयप्राप्त ! अदस्तत् उदयागतं पुण्यं सुकृतं अकं च पापं च मत् ज्ञानस्वरूपान्मत्तः इतरद् भिन्नं पुण्यपापे आत्मस्वरूपे न स्त इति भावः। अखिलं गतः ज्ञानापेक्षया सर्वगतः सर्वज्ञ इति यावत्। गतमदो गर्वरहितः अः परमेश्वरः मत् अस्मत्तः इतरो भिन्नो न। स्वभावदृष्ट्या मयि परमात्मनि च भेदो नास्तीति यावत्। इतीत्थं विदन्तर्गतमदः विदो ज्ञानस्यान्तर्गतो मदो हर्षो गर्वो वा यस्य सः । ज्ञानाभिन्नानन्दयुक्तः अहं वेद्मि जानामि। 'मदो मृगमदे मद्ये दानमुद्गर्वरेतसि' इति विश्वलोचनः ।।९४।।**

अर्थ- हे ससार से भयभीत! श्रमण! उदय मे आया हुआ वह पुण्य और पाप मुझसे भिन्न है। सर्वत्र व्यापक (सबको जानने वाला) एव गतमद — गर्वरहित अ — परमेश्वर मुझसे भिन्न नहीं है। जिसका गर्व या हर्ष ज्ञान मे विलीन हो गया है, ऐसा मै जानता हूँ ।।९४।।

[९५]

यते सन्मतेऽमल! य ऋषयस्तत्पदपद्मयुग्ममलयः ।
भजन्ति गतो यो मलयः समदृष्टिं कृतमदाऽमलयः ।।

यते ! सन्मते ! अमल ! कृतमदाऽमलय य. मलय. समदृष्टि गत ,तत् पदपद्मयुगम ये ऋषय अलय. भजन्ति ।

यत इति- **हे यते! हे सन्मते! सती मतिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ, हे अमल! हे मलरहित! कृतमदामलयः मदो गर्व एव अमो रोगो मदामः कृतो विहितो मदामस्य लयो विनाशो येन तथाभूत। मलयः मे शिवस्वरूपे आत्मनि लयो लीनता यस्य सः। एवंभूतो यः समदृष्टिं माध्यस्थ्यभावं गतः प्राप्तः । तत्पदपद्मयुग्मं तच्चरणारविन्दयुगलं ये ऋषयो मुनयोऽलयो भ्रमरास्ते भजन्ति सेवन्ते। तयोक्तगुणगणमण्डितस्य चरणसरसिज युगलं मुनयोऽलयोऽपि सेवन्त इति भावः ।।९५।।**

अर्थ- हे यते! हे सन्मते! हे अमल! जिसने मद—गर्वरूपी रोग का नाश कर दिया है, जो शिवरूप आत्मा मे लीन है एव समदृष्टि को प्राप्त है, उसके चरणकमलयुगल को ऋषिरूपी भ्रमर भजते है—नमन करते है ।।९५।।

[९६]

चाप्ता ह्यसावसुरताऽसति तपसि रतैस्तपस्विभिः सुरता ।
संस्तुत - नृसुरासुरांताः श्रियस्तु न स्वजा भासुरताः ।।

हि असौ असुरता सुरता च असति तपसि रतै. तपस्विभिः. आप्ता । (हे) संस्तुतनृसुरासुर ! ताः स्वजाः भासुरता. श्रिय. तु न (प्राप्ता) ।

चाप्ता इति- **हि निश्चयेन, असौ एषा, असुरता असुराणां भावोऽसुरता भवनत्रिकदेवपरिणतिः, सुरता सुराणां भावः सुरता वैमानिकदेवपरिणतिः, असति तपसि कुतपसि रतैर्लीनैः तपस्विभिः तपोधनैः आप्ता लब्धा। हे संस्तुत नृसुरासुर!नराश्च सुराश्च असुराश्चेति नृसुरासुरास्तैः संस्तुतस्तत्सम्बुद्धौ। ताः प्रसिद्धा दुर्लभतमा इति यावत्। स्वजाः स्वस्मिन् जायन्ते इति स्वजाः आत्मोत्पन्नाः। भासुरताः भायां दीप्तौ सुरताः सुलीनाः श्रियस्तु केवलज्ञानादिलक्ष्म्यस्तु न आप्ताः इति योजनीयम् ।।९६।।**

अर्थ- निश्चय से यह असुरों और सुरों की पर्याय कुतप मे लीन तपस्वियों के द्वारा प्राप्त की गई है, परन्तु हे नर और देवदानवों से संस्तुत भगवन्! वे आत्मोत्थ एवं देदीप्यमान केवलज्ञनादि लक्ष्मियाँ उनके द्वारा प्राप्त नहीं की गईं ।।९६।।

[९७]

किं जितानङ्ग ! ते न ! मते मतं मतं वितानं गतेन ।
श्रीरिता नं गतेन नेति कमभजताऽनङ्ग ! तेन ।।

जितानङ्ग! अनङ्ग! न! न गतेन तेन कम् अभजता श्री न इता मतं वितान गते ते मते किम् इति न मतम् ?

किमिति- **हे जितानङ्ग! हे जितकाम! हे अनङ्ग! हे अशरीर! हे न! हे जिन! नं जिनं गतेन प्राप्तेन तेन कं आत्मानं अभजता अनाराधयता श्रीः ज्ञानादिलक्ष्मीः न इता न प्राप्ता। जिनं भजमानोऽपि य आत्मानं न ध्यायति, स केवलज्ञानलक्ष्मीं न लभत इति भावः।मतं समादृतं वितानं विस्तारं गतेते मते धर्मे किं इति न मतं न स्वीकृतं? अपि तु स्वीकृतमेव ।।९७।।**

अर्थ– हे मदनविजयी! हे अशरीर! (शरीर सम्बन्धी राग से रहित) हे जिन! जिनदेव को प्राप्त होकर भी जो आत्मा की आराधना नहीं करता है–आत्मा के ज्ञायक स्वभाव की ओर दृष्टि नहीं देता है उसे केवलज्ञानरूप लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती । इस प्रकार समादृत विस्तार को प्राप्त हुए आपके मत में क्या नहीं माना गया है? ।।९७।।

[९८]

मोहतमःसमुदायवृतमानस ! के कुरु वास मुदायः।
यदिति भवेत् स मुदा यः प्राह च परो यतिसमुदायः।।

मोहतम– समुदायवृतमानस ! के वास कुरु। यत् उदाय भवेत् इति य पर. च सः यतिसमुदायः मुदा प्राह।

मोहेति- **हे मोहतमः समुदायवृतमानस! मोहा एवं तमांसि तिमिराणि तेषां समुदायेन समूहेनावृत परिरुद्ध मानस मनो यस्य तत्सम्बुद्धौ। के आत्मनि प्रकाशे वा वासमवस्थानं कुरु। यत् यस्मात् कारणात्। उदाय ऊर्ध्वगमनं मोक्षं प्रतिगमनं भवेत्। इत्येव य पर श्रेष्ठ स यतिसमुदाय मुनिसमूहः मुदा हर्षेण प्राह प्रजगाद ।।९८।।**

अर्थ- मोहरूपी अन्धकार के समूह से जिसका मन घिरा है, ऐसे हे श्रमण! 'तू आत्मारूपी प्रकाश मे निवास कर जिससे तेरा ऊर्ध्वगमन–मोक्षप्राप्ति के लिये प्रयत्न हो सके' ऐसा जो श्रेष्ठ मुनिसमूह है, उसने हर्ष से कहा है ।।९८।।

[९९]

न मनोऽन्यत् सदा नय दृशा सह तत्त्वसप्तकं सदानय ।
यदि न त्रासदाऽनय पन्थास्ते स्वरसदा न यः ।।

मन सदा अन्यत् न नय। सत् तत्त्वसप्तक दृशा सह आनय। यदि (एव) न, (तर्हि) ते य पन्था. (स) त्रासदा, अनय स्वरसदा (अपि) न।

नेति- **हे श्रमण! मन स्वचेतः सदा सर्वदा अन्यत् अन्यस्थानं न नय नो प्रापय। सत् समीचीन तत्त्वसप्तकं जीवादिसप्ततत्त्वसमूह दृशा सम्यग्दर्शनेन सह आनय आनीतं कुरु। यदि न, एव न चेत्? तर्हि ते य पन्था विषयसरणिः स त्रासदा त्रास दुःखं ददातीति तथा दुःखप्रद । अनयो नास्ति अय शुभावहविधिर्यस्मिन् तथाभूत स्यात्। स्वरसदा स्वस्य रसमनुभव ददातीति तथा स्वानुभवप्रद। न भवेदिति शेष ।।९९।।**

अर्थ- हे श्रमण! मन सदा अन्यत्र न ले जा, सम्यग्दर्शन के साथ श्रेष्ठ साततत्त्वों मे ला। यदि ऐसा नहीं करता है तो तेरा मार्ग दु खदायक तथा कल्याणकारक विधि से रहित होगा एव आत्मानुभव को देने वाला नहीं होगा ।।९९।।

[१००]

अतिलघौ लघुधियि मयि त्यक्तकरणविषयेऽये समतामयि !
कुरु कृपा करुणामयि! विशुद्धचेतने! सुधामयि ! ।।

अये! सुधामयि! करुणामयि! समतामयि! विशुद्धचेतने! लघुधियि त्यक्तकरणविषये अतिलघौ मयि कृपा कुरु।

अतीति- **अये! समतामयि! हे करुणामयि! हे सुधामयि! हे विशुद्धचेतने! सर्वसम्बुद्धीनां स्पष्टोऽर्थः। अतिलघौ अतिशयेन लघुस्तस्मिन्, त्यक्तकरणविषये त्यक्ताः करणानामिन्द्रियाणां विषयाः स्पर्शादयो येन तस्मिन्, लघुधियि लघ्वी धीर्यस्य तस्मिन् अल्पबुद्धौ मयि कृपामनुकम्पां कुरु ।।१००।।**

अर्थ- हे समतामयि! हे करुणामयि! हे सुधामयि! हे विशुद्धचेतने! मुझ अल्पबुद्धि संयमी पर दया करो। मुझे विशुद्ध चेतनामय बनाओ ।।१००।।

[१०१]

वै विषमयीमविद्यां विहाय 'ज्ञानसागरजां' विद्याम् ।
सुधामेम्यात्मविद्यां नेच्छामि सुकृतजां भुवि द्याम् ।

आत्मवित् (अहम्) वै विषमयीम् अविद्या विहाय ज्ञानसागरजा सुधा विद्याम् एमि। सुकृतजा या द्या भुवि न इच्छामि।

वै इति- **आत्मविद् आत्मानं वेत्ति जानातीति आत्मविद् आत्मज्ञोऽहं वै निश्चयेन विषमयीं गरलमयीं दुःखप्रदत्वात् अविद्यां विहाय त्यक्त्वा, 'ज्ञानसागरजा' ज्ञानमेवसागरस्तस्मिन् जाता ज्ञानपयोधिसमुत्पन्ना पक्षे 'ज्ञानसागर' इति स्वगुरोर्नाम तस्माज्जाता प्राप्तां सुधा पीयूषरूपा आत्मविद्या एमि प्राप्नोमि। सुकृतजा पुण्योद्भूतां या द्या स्वर्गं भुवि नेच्छामि न कामये।।१०१।।**

अर्थ- मै आत्मज्ञ, निश्चय से विषमयी अविद्या को छोडकर ज्ञानरूप सागर मे उत्पन्न (गुरु ज्ञानसागरजी से प्राप्त) आत्मविद्या को प्राप्त होता हूँ। पुण्य से प्राप्त होने वाला जो द्यौ – स्वर्ग है, उसे नहीं चाहता हूँ ।।१०१।।

विभावतः सुदूराणां, सन्ततिर्जयतात् तराम् ।
द्यामेत्य पुनरागत्य, स्वानुभूतेः शिवं व्रजेत् ।।१।।

अर्थ– विभावभावो से अत्यन्त दूर रहने वाले साधुओ की वह सन्तति–परम्परा जयवन्त रहे, जो स्वर्ग जाकर तथा वहाँ से आकर स्वानुभूति से मोक्ष प्राप्त कर सके।।१।।

साधुता सा पदं ध्येतु, भूपतौ च जने-जने ।
गुवि सर्वत्र शान्तिः स्यात्, मदीया भावना सदा।।२।।

अर्थ– वह साधुता–सज्जनता राजाओ तथा प्रत्येक मनुष्य मे स्थान को प्राप्त हो, जिससे पृथिवी मे सर्वत्र शान्ति रहे, यह मेरी भावना है।।२।।

रैपवृत्तिं परित्यज्य,   ना नवनीत मार्दवम् ।
णलाभाय   भजेद् भव्यो, भक्त्या साकं भृशं सदा ।।३।।

अर्थ– क्रूरवृत्ति को छोड़कर भव्य मनुष्य ज्ञानलाभ के लिये भक्ति के साथ सदा मक्खन जैसी मृदुता को अत्यधिक प्राप्त करे।।३।।

विद्याब्धिना सुशिष्येण, ज्ञानोदधेरलङ्कृतम् ।
रसेनाध्यात्मपूर्णेन, शतकं शिवदं शिवदं शुभम् ।।४।।

अर्थ– ज्ञानसागर जी के शिष्य विद्यासागर ने अध्यात्मपूर्ण रस से अलङ्कृत इस कल्याणदायक शुभ 'श्रमणशतक' की रचना की है।।४।।

चित्ताकर्षि तथापि ज्ञैः, पठनीयं विशोध्य तैः ।
तं मन्ये पण्डितं योऽत्र, गुणान्वेषी भवेद् भवे ।।५।।

अर्थ– यद्यपि शतक चित्ताकर्षक है तथापि ज्ञानी जनो को शुद्धकर पढ़ना चाहिये। इस जगत् मे मै उसे पण्डित मानता हूँ, जो गुणान्वेषी हो– गुणो की खोज करने वाला हो।।५।।

क-गुप्ति-खोपयोगेऽदः, सवत्सरे च विक्रमे ।
वैशाखपूर्णिमामीत्वेतीमामितिमिति गतम् ।।६।।

अर्थ– –यह शतक विक्रम सवत् २०३१ मे वैशाखपूर्णिमा को प्राप्त हुआ।।

यह शतक के आत्मा 1 गुप्ति 3 ख - आकाश 0 उपयोग ज्ञान-दर्शनोपयोग 2 इस तरह विक्रम सवत 2031 मे वैशाख पूर्णिमा तिथि को पूर्ण हुआ।

योगी करे स्तवन भाव-भरे स्वरों से,
जो है सुसस्तुन नरो, असुरो, सुरो से ।
वे वर्धमान गतमान मुझे बचावे,
काटे कुकर्म मम मोक्ष विभो ! दिलावे ।।१।।

जो चन्द्रगुप्त मुनि के गुरु हैं, बली हैं,
वे भद्रबाहु समधी श्रुत-केवली है ।
वंदू उन्हे द्रुत भवोदधि पार जाऊं ।
ससार मे फिर कदापि न लौट आऊ ।।२।।

हे 'कुन्दकुन्द' मुनि ! भव्य-सरोज-बन्धु,
मै बार-बार तव पाद-सरोज वंदू ।
सम्यक्त्व के सदन हो, समता सुधाम ।
है धर्म-चक्र शुभ धार लिया ललाम ।।३।।

जो 'ज्ञानसागर' सुधी गुरु है हितैषी,
शुद्धात्म मे निरत, नित्य हितोपदेशी ।
वे पाप-ग्रीष्म ऋतु मे जल है सयाने,
पूजू उन्हे सतत केवल—ज्ञान पाने ।।४।।

हे शारदे! अब कृपा कर दे जरा तो,
तेरा उपासक खरा, भव से डरा जो !
माता ! विलम्ब करना मत, मै पुजारी,
आशीष दो, बन सकू, बस निर्विकारी ।।५।।

रे ! साधु का निहित है हित साधुता मे
धारूँ उसे तज असार असाधुता मै ।
भाई!अत श्रमण के हित मै लिखूगा,
शुद्धात्म को सहज से फलत लखूँगा ।।६।।

विद्वान मान मन मे मुनि जो न धारे,
वे 'वीर' के वचन से मन को सुधारे ।
जाके रहे विपिन मे मन मोद पाते,
है स्नान आत्म-सर मे करते सुहाते ।।७।।

जो कर्म को यति यदा करता नहीं है,
आत्मा उसे वह तदा दिखता सही है ।
ऐसा सदैव कहती जिन देव बाणी,
होते सुखी सुन जिसे, सब भव्य प्राणी ।।८।।

तू छोड़ के बिषमयी उस वासना को,
निश्चिन्त हो, कर निजीय उपासना को ।
निर्भ्रान्त ही शिवरमा तुझको वरेगी,
योगी कहे, परम प्रेम सदा करेगी ।।९।।

हैं पुण्य-पाप पर, पुद्गल रूप जानूं,
सम्यक्त्व भाव इनसे किस भांति मानूं ।
ना नीर के मथन से, नवनीत पाना,
अक्षुण्ण कार्य करके थक मात्र जीना ।।१०।।

नाना प्रकार तप से तन को तपाया,
है छोड़ वस्त्र जिनने अघ को हटाया ।
पाया निजानुभव को निज को दिपाया,
मैंने उन्हें विनय से उर बीच पाया ।।११।।

कम्पायमन मन को जिसने न रोका,
आत्मा उसे न दिखता जड़ से अनोखा ।
आकाश मे अरुण शोभित हो रहा है,
क्या अन्ध को नयनगोचर हो रहा है ?।।१२।।

जो जीतता सब क्षुधादि परीषहों को,
संहार रागमय-भाव स्ववैरियों को ।
है वीतराग बनता वह शीघ्रता से,
शुद्धात्म को निरखता, बचता व्यथा से ।।१३।।

है वन्द्य दिव्य निज आतम द्रव्य न्यारा,
जो शुद्ध निश्चय नयाश्रित मात्र प्यारा ।
योगी गृही सम उसे न कभी निहारें,
जो त्याग के पुनि परिग्रह-भार धारें ।।१४।।

सद्बोध रूप सर शोभित है विशाल,
ना हैं जहां वह विकल्प तरंग-जाल ।
शोभे तथा परम धर्म पयोज प्यारे,
तू छोड़ के मनमराल ! उसे न जा रे! ।।१५।।

जीतीं जिनेश ! जिसने निज इन्द्रियां हैं,
माना गया यति वही, जग में यहां है ।
श्रद्धा - समेत उसको सिर मैं नमाता,
शुद्धात्म को निरख, शीघ्र बनूँ प्रमाता ।।१६।।

सद्बोध से परम शोभित जो यहां है,
पीयूष पी स्वपद में रमता रहा है ।
क्या संयमी विषय-पान कदापि चाहे ?
जो जीव को विष समान सदैव दाहे ।।१७।।

विज्ञान से स्वपद को जिसने पिछाना,
त्यागा सभी तरह से पर को सुजाना ।
वो दुःखरूप उस आस्रव को नशाता,
स्वामी ! सही सुखद सवर तत्त्व पाता ।।१८।।

मायादि शल्य-त्रय को मुनि नित्य त्यागे,
ज्ञानादि रत्नत्रय धार सदैव जागें ।
वे शुद्धतत्त्व फलत पल में लखेंगे,
संसार में परम सार, उसे गहेगे ।।१९।।

आदेय-हेय जिनने सहसा पिछाने,
लाये स्वचिन्तनतया मन को ठिकाने ।
ज्ञानी वशी परम धीर मुमुक्षु ऐसे,
स्वामी ! रखें कुपथ में निजपाद कैसे ?।।२०।।

ससार से बहुत यद्यपि जो डरा है,
जाना जिनागम सभी जिसने खरा है ।
आत्मा उसे न दिखता, यदि है प्रमादी,
ऐसा सदैव कहते गुरु सत्यवादी ।।२१।।

है ज्ञान जो सघन पावन पूर्ण प्यारा,
सद्ज्ञान रूप जल की झरती सुधारा।
शोभामयी अतुलनीय सुखैक डेरा,
नीचे उसे निरख मानस-मोर मेरा ।।२२।।

होते घनिष्ठ जिसके दृग-बोध साथी,
होता वही चरित आतम का सुखार्थी।
देता निजीय सुख, तीरथ भी कहाता,
तू धार मित्र ! उसको दुःख क्यों उठाता ?।।२३।।

पीता निजानुभव पावन पेय प्याला,
डाले गले शिवरमा उसके सुमाला।
जो लोक में अनुपमा शुचि-धारिणी है,
ऐसा जिनेश कहते, सुख-कारिणी है ।।२४।।

रागादि भाव जिसमें न, वही समाधि,
पाके उसे मुदित हो मुनि अप्रमादी।
होती नदी अमित सागर पा यथा है,
किं वा दरिद्र खुश हो निधि पा अथाह ।।२५।।

है देह-नेह भव-कारण तो उसी से,
मोक्षेच्छु मैं, बहुत दूर रहूं, खुशी से।
मैं हो विलीन निज में, निज को भजूंगा,
स्वामी ! अनन्त सुख पा, भव को तजूंगा ।।२६।।

जो भी निजानुभव को जब प्राप्त होते,
वे रागद्वेष लव को न कदापि ढोते।
तो कौन सा फिर पदार्थ रहा अवशेष ?
प्राप्तव्य जो कि उनको न रहा विशेष ।।२७।।

रागादि भाव पर हैं, पर से न नाता,
ज्ञानी-मुनीश रखता पर में न जाता।
धिक्कार मूढ़ पर को करता, कराता,
ना तत्त्व-बोध रखता, अति दुःख पाता ।।२८।।

सम्बन्ध होत विधि से विधि का सदा है,
बोधैकधाम 'जिन' ने जग को कहा है।
ऐसा रहस्य फिर भी मुनि ने गहा है,
जो आत्मभाव करता साहस रहा है ।।२९।।

आत्मानुभूति वर चेतन-मूर्ति प्यारी,
साक्षात् यदा उपजती शिवसौख्यकारी ।
मांगे तथापि मुनि क्या जग-सम्पदा को?
देती सदा जनम जो बहु आपदा को ।।३०।।

संपू भोग मिलने पर भी कदापि,
भोगी नहीं मुनि बने, बनते न पापी ।
पीते तभी सतत है समता सुधा को,
गाली मिले, न फिर भी करते क्रुधा को ।।३१।।

मिथ्यात्व को हृदय में, मत स्थान देना,
है दुष्ट व्याल वह, क्यों दुःख मोल लेना ।
छोड़ो उसे, निकट भी उसके न जाओ,
तो शीघ्र ही अतुल संपत्ति-धाम पाओ ।।३२।।

जैसे कहे जलज जो जल से निराला,
वैसे बना रह सदा जड़ से खुशाला ।
क्यों तू प्रमत्त बनता, बन भोग त्यागी,
रागी नहीं बन कभी, बन वीतरागी ।।३३।।

हूं देह से पृथक चेतन शक्ति वाला,
स्वामी ! सदैव मुझसे तन भी निराला ।
यों जान, मान तन का मद छोड़ता हूं,
मैं मात्र मोक्ष—पथ से मन जोड़ता हूं ।।३४।।

हो काम नष्ट, अघ भी मिटता यदा है,
योगी विहार करता निज में तदा है ।
आकाश में विहग क्या फिर भी उड़ेगा ?
जो जाल में फंस गया, फिर क्या करेगा ? ।।३५।।

सौभाग्य से श्रमण जो कि बना हुआ है,
सच्चा जिसे प्रशमभाव मिला हुआ है।
छोड़े नहीं वह कभी उस निर्जरा को,
जो नाशती जनम-मृत्यु तथा जरा को ।।३६।।

संसार में धन न सार, असार सारा,
स्थायी नहीं, न उनसे सुख हो अपारा।
है सार तो समय-सार अपार प्यारा,
हो प्राप्त शीघ्र जिससे वह मुक्तिदारा ।।३७।।

निस्संग हो विचरते गिरि-गह्वरों में,
वे साधु ज्यों पवन हैं वन कन्दरों में।
कामाग्नि को स्वरस पी झट से बुझा के,
विश्राम पूर्ण करते निज-धाम जाके ।।३८।।

शोभे सरोज-दल से सर ठीक जैसा,
सद्ध्यान रूप जल से मुनि-मीन वैसा।
हो कंज में मृदुपना, न असंयमी में,
'ना शब्द व्योम गुण है' -कहते यमी हैं ।।३९।।

ये आर्तरौद्र मुझको रुचते नहीं हैं,
संसार के प्रमुख कारण पाप वे हैं।
श्री रामचन्द्र फिर भी मृग-भ्रान्ति भूले ?
जो देख काञ्चन-मृगी इस भांति फूले ।।४०।।

योगी निजानुभव से पर को भुलाता,
है वीतरागपन को फलरूप पाता।
वो क्या कभी मरण से मुनि हो डरेगा ?
शुद्धोपयोग धन को फिर क्या तजेगा ?।।४१।।

जो भानु है, दृग-सरोज विकासता है,
योगी सुदूर रहता उससे यदा है।
वो तो तदा नियम से पर भावनायें,
हा ! हा ! करे, सहत है फिर यातनायें ।।४२।।

ये पञ्च पाप इनको बस शीघ्र छोड़ो,
धारो महाव्रत सभी मन को मरोड़ो ।
औ ! राग का तुम समादर ना करो रे !
देवाधिदेव 'जिन' को उर में धरो रे! ।।४३।।

रे ! 'वीर' ने जड़मयी तज के क्षमा को,
है धार ली तदुपरान्त महा क्षमा को ।
जो चाहते जगत में बनना सुखी हैं,
धारें इसे, परम मुक्ति-वधू-सखी है ।।४४।।

आस्था घनिष्ठ निज में जिनकी रही है,
विज्ञान से चपलता मन की रुकी है ।
होता चरित्र उनका वर मोक्ष-दाता,
ऐसा रहस्य यह छन्द हमें बताता ।।४५।।

आत्मा जिसे न रुचता वह तो मुधा है,
मिथ्यात्व से रम रहा पर में वृथा है ।
ज्ञानी निजीय घर में रहते सदा ये,
वन्दू, उन्हें, द्रुत मिले निज सपदायें ।।४६।।

कैसे रहे अनल दाहकता बिना वो,
तो अग्नि से पृथक दाहकला कहा हो ?
आकाश के बिन कहीं रह तो सकेगा,
पै ज्ञान आतम बिना न कहीं रहेगा ।।४७।।

जो मात्र शुद्धनय से न हि शोभता है,
पै वीतरागमय भाव सुधारता है ।
लक्ष्मी उसे वरण है करती खुशी से,
सागार को निरखती तक ना इसी से ।।४८।।

''हैं पूर्व मे मुनि सभी बनते अमानी,
पश्चात जिनेश बनते'' यह 'वीर' वाणी ।
तू भी अभी इसलिये तज मान को रे,
शुद्धात्म को निरख, ले सुख की हिलोरें ।।४९।।

संसार सागर किनार निहारना है,
तो मार मार, दृग को द्रुत धारना है ।
औ ! जातरूप 'जिन' को नित पूजना है,
भाई ! तुझे परम आतम जानना है ।।५०।।

सल्लीन हों स्वपद में सब सन्त साधु,
शुद्धात्म के सुरस के बन जाये स्वादु ।
वे अन्त में सुख अनन्त नितान्त पावें,
सानन्द जीवन शिवालय में बितावें ।।५१।।

' ये रोष-रागमय भाव विकार सारे,
मेरे स्वभाव नहिं हैं ' --- बुध यों विचारें ।
ये पाप पुण्य, इनमे फिर मौन धारे,
औ देह-स्नेह तजके निज को निहारे ।।५२।।

संसार के जलधि से कब तैरना हो,
ऐसी त्वदीय यदि हार्दिक भावना हो ।
आस्वाद ले जिनप-पाद-पयोज का तू,
ना नाम ले अब कभी उस 'काम' का तू ।।५३।।

ससार-बीच बहिरातम वो कहाता,
झूठा पदार्थ गहता, भव को बढ़ाता ।
बेकार मान करता निज को भुलाता,
लक्ष्मी उसे न वरती, अति कष्ट पाता ।।५४।।

जो पाप से रहित चेतन मूर्ति प्यारी,
हो प्राप्त शीघ्र उनको भव-दुःखहारी ।
जो भी महाश्रमण है निज गीत गाते,
सच्चे क्षमादि दश धर्म स्वचित्त लाते ।।५५।।

सम्यक्त्व-लाभ वह है किस काम आता,
है कर्म का उदय ही यदि पाप लाता ।
तो हाय ! मुक्ति-ललना किसको वरेगी ?
वो सम्पदा अतुलनीय किसे मिलेगी ।।५६।।

लेवे निजीय विधि का मुनि वे सहारा,
संसार मूल जड़ वैभव को बिसारा।
ना चाहते विबुध वे यश सम्पदा को,
हा, चाहते जड़ उसे, सहते व्यथा को ।।५७।।

संसार में सुख नहीं, दुःख का न पार,
ले आत्म में रुचि भला, सुख हो अपार।
सिद्धान्त का मनन या कर चाव से तू,
क्यों लोक में भटकता पर भाव से तू ? ।।५८।।

जो भी रहे समय में रत, मौन धारे,
पाते अलौकिक सही सुख शीघ्र सारे।
वो विज्ञ ना समय का, वह कष्ट पाता,
पीड़ार्त हो, समय है जब बीत जाता ।।५९।।

आत्मा अनन्त-गुण-धाम, सदैव जानो,
सम्यक्त्व प्राप्त करके निज को पिछानो।
जाओ वहां, इधर या तुम शीघ्र आओ,
आदेश ईदृश नहीं पर को सुनाओ ।।६०।।

भोगे हुए विषय को मन में न लाता।
औ प्राप्त को पकड़ना न जिसे सुहाता।
कांक्षा नहीं उस अनागत की करेगा,
वो सत्य पाकर कभी अहि से डरेगा ? ।।६१।।

हे वीर देव ! तुमको नमते मुमुक्षु,
पीते तभी स्वरस को सब सन्त भिक्षु।
क्यों बीच मे मनुज तेज कचौड़ि खाते ?
पश्चात् अवश्य फलतः हलुवा उड़ाते ।।६२।।

चारित्र का नित समादर जो करेंगे,
वे ही जिनेन्द्र-पद की स्तुति को करेंगे।
ऐसा सदैव कहती प्रभु भारती है,
नौका-समान भव पार उतारती है ।।६३।।

आहार जो न करते समयानुसार,
औ धारते न रतनत्रय-रूप हार ।
रागाग्नि से सतत वे जलते रहेंगे,
संसार वारिधि महा फिर क्यों तिरेंगे ?।।६४।।

देखो सखे ! अमर लोग सुखी न सारे,
वे भी दुःखी सतत, खेचर जो बिचारे ।
दुःखार्त्त ही दिख रहे नर मेदिनी में,
शुद्धात्म में रम अतः, मन रागिनी में ।।६५।।

कामाग्नि से परम तप्त हुआ सदा से,
तू आत्म को कर सुतृप्त स्व की सुधा से ।
कोई प्रयोजन नहीं जड़ सम्पदा से,
पा बोध, हो नर ! सुखी अति शीघ्रता से ।।६६।।

सम्बन्ध द्रव्य श्रुत से नहिं मात्र रक्खो,
रक्खो स्वभाव श्रुत से, निज स्वाद चक्खो ।
है मेदिनी तप गई रवि ताप से जो,
क्यों शान्त हो जल बिना, जल नाम से वो ।।६७।।

''पर्याय वो जनमती मिटती रही है ।
त्रैकालिकी यह पदार्थ, यही सही है ।''
श्री वीर देव जिन की यह मान्यता है,
पूजूं उसे विनय से यह साधुता है ।।६८।।

समोह राग मद है यदि भासमान,
या विद्यमान मुनि के मन मेंऽभिमान ।
आनन्द हो न उस जीवन मे कदापि,
हा ! हा ! वही नरक कुण्ड बना ऽतिपापी ।।६९।।

श्रद्धाभिभूत जिसने मुनि लिंग धारा,
कंदर्प को सहज से फिर मार डारा ।
अत्यन्त शान्त निजको उसने निहारा,
औ अन्त में बल ज्वलन्त अनन्त धारा ।।७०।।

''रे ! पाप ही अहित है, रिपु है तुम्हारा,
काला कराल अहि है, दुख दे अपारा।
हो दूर शीघ्र उससे, तब शान्ति धारा,''
ऐसा कहें जिनप जो जग का सहारा ।।७१।।

ले रम्य दृश्य ऋतुराज वसन्त आता,
ज्यों देख कोकिल उसे मन मोद पाता।
हे वीर ! त्यों तव सुशिष्य खुशी मनाता,
शुद्धात्म को निरख औ' दुख भूल जाता ।।७२।।

होता कुधी, वह सुखी दिवि में नहीं है,
तू आत्म में रह, अतः सुख तो वही है।
क्या नाक से, नरक से ? इक सार भाया,
सम्यक्त्व के बिन सदा ! दुख ही उठाया ।।७३।।

ज्योत्स्ना लिये, तपन यद्यपि है प्रतापी,
छा जाय बादल, तिरोहित हो तथापि।
आत्मा अनन्त द्युति लेकर जी रहा है,
हो कर्म से अवश, कुन्दित हो रहा है ।।७४।।

कैसे मिले ? नहिं मिले सुख मांगने से,
कैसे उगे अरुण पश्चिम की दिशा से ?
तो भी सुदूर वह मूढ़ निजी दशा से,
होता अशान्त अति पीड़ित ही तृषा से ।।७५।।

लिप्सा कभी विषय की मन मे न लाओ,
चारित्र धारण करो, पर में न जाओ।
चिन्ता कदापि न अनागत की करोगे,
विश्राम स्वीय घर में चिरकाल लोगे ।।७६।।

संसार सागर असार अपार खारा,
है दुख ही, सुख जहां न मिले लगारा।
तो आत्म में रत रहो, सुख चाहते जो,
है सौख्य तो सहज में, नहिं जानते हो! ।।७७।।

'कैवल्य-साधन न केवल नग्न-भेष,''
त्रैलोक्य बन्द्य इस भांति कहें जिनेश।
इत्थम् न हो, पशु दिगम्बर क्या न होते ?
होते सुखी ? दुखित क्यों दिन रात रोते ? ।।७८।।

''संसार की सतत वृद्धि विभाव से है,
तो मोक्ष सम्भव स्वतन्त्र स्वभाव से है।
हो जा अत: अभय, हो विभु में विलीन,''
हैं केवली-वचन ये — ''बन जा प्रवीण'' ।।७९।।

सम्यक्त्व नीलम गया जिसमें जड़ाया,
चारित्र का मुकुट ना सिर पै चढ़ाया।
तू ने तभी परम आतम को न पाया,
पाया अनन्त दुःख ही, सुख को न पाया ।।८०।।

जो काय से वचन से मन से सुचारे,
पा बोध, राग मल धोकर शीघ्र डारे।
ध्याता निरन्तर निरजन जैन को है,
पाता वही नियम से सुख चैन को है ।।८१।।

दुस्संग से प्रथम जीवन शीघ्र मोड़ो,
तो सग को समझ पाप तथैव छोड़ो।
विश्वास भी कु-पथ में न कदापि लाओ,
शुद्धात्म को विनय से तुम शीघ्र पाओ ।।८२।।

पत्ता पका गिर गया तरु से यथा है,
योगी निरीह तन से रहता तथा है।
औ ब्रह्म को हृदय में उसने बिठाया,
तू क्यों उसे विनय से स्मृति मे न लाया?।।८३।।

वाणी, शरीर, मन को जिसने सुधारा,
सानन्द सेवन करे समता-सुधारा।
धर्माभिभूत मुनि है वह भव्य जीव,
शुद्धात्म में निरत है रहता सदैव ।।८४।।

जो साधु जीत इन इन्द्रिय-हाथियों को,
आत्मार्थ जा, वन बसें, तज ग्रन्थियों को ।
पूजूं उन्हें सतत वे मुझको जिलावें,
पानी सदा दृगमयी कृषि को पिलावें ।।८५।।

मैं उत्तमाङ्ग उसके पद में नमाता,
जो है क्षमा—मणि से रमता-रमाता ।
देती क्षमा अमित उत्तम सम्पदा को,
भाई ! अतः तज सभी जड़-संपदा को ।।८६।।

ना वन्द्य है, न नय निश्चय मोक्ष-दाता,
ना है शुभाशुभ, नहीं दुःख को मिटाता ।
मैं तो नमूं इसलिए मम ब्रह्म को ही,
सद्यः टले दुःख, मिले सुख और बोधि ।।८७।।

सत् चेतना हृदय मे जब देख पाता,
आत्मा मदीय भगवान समान भाता ।
तू भी उसे भज जरा, तज चाह-दाह,
क्यों व्यर्थ ही नित व्यथा सहता अथाह ।।८८।।

''गम्भीर-धीर यति जो मद ना धरेंगे,
औ भाव-पूर्ण स्तुतिभी निज की करेंगे ।
वे शीघ्र मुक्ति ललना वरके रहेंगे,''
ऐसा जिनेश कहते - 'सुख को गहेगे ।।८९।।

आत्मावलोकन कदापि न नेत्र से हो,
पूरा भरा परम पावन बोधि से जो ।
आदर्श-रूप अरहन्त हमे बताते,
कोई कभी दृग बिना सुख को न पाते ।।९०।।

जो 'वीर' के चरण मे नमता रहा है,
चारित्र का वहन भी करता रहा है ।
औ गोत्र का,दृग बिना,मद ढो रहा है ।
विज्ञान को न गहता, जड़ सो रहा है ।।९१।।

धिक्कार ! मोक्ष-पथ से च्युत हो रहा है,
तू अंग-संग ममता रखता अहा है ।
भाई ! अतः सह रहा नित दुःख को ही,
ले ले विराम अघ से, तज मोह मोही ! ।।९२।।

जो सन्त हैं, समयसार-सरोज का वे,
आस्वाद ले भ्रमर -से पर में न जावें ।
सम्यक्त्व हो न पर से, निज आत्म से ही,
भाई!सुधा रस झरे शशि बिम्ब से ही ।।९३।।

आया हुआ उदय में यह पुण्य पिण्ड,
औ पाप, भिन्न मुझको जड़ का करण्ड ।
ब्रह्मा न किन्तु पर है, वर बोध भानु,
मैं सर्व गर्व तज के इस भांति जानूं ।।९४।।

साधु सुधार समता, ममता निवार,
जो है सदैव शिव में करता विहार ।
तो अन्य साधु तक भी उसके पदों में,
होते सुलीन अलि-से, फिर क्या पदों मे ?।।९५।।

प्रायः सभी कुतप से सुर भी हुए हैं,
लाखों दफा असुर हो, मर भी चुके हैं ।
दैदीप्यमान नहिं 'केवलज्ञान' पाया,
हे वीर देव ! हमने दुःख ही उठाया ।।९६।।

''सानन्द यद्यपि सदा जिन नाम लेते,
योगी तथापि न निजातम देख लेते ।
तो वे उन्हें शिवरमा मिलती नहीं है, ''
तेरा जिनेश ! मत ईदृश क्या नहीं है?।।९७।।

अत्यन्त मोह-तम मे कुछ ना दिखेगा,
तू आत्म में रह, प्रकाश वहां मिलेगा ।
स्वादिष्ट मोक्ष-फल वो फलतः फलेगा,
उद्दीप्त दीपक सदैव अहो ! जलेगा ।।९८।।

तू चाहता विषय में मन ना भुलाना,
तो सात तत्त्व-अनुचिन्तन में लगा ना !
ऐसा न हो, कुपथ से सुख क्यों मिलेगा ?
आत्मानुभूति झरना फिर क्यों झरेगा ?।।९९।।

हूं बाल, मन्द-मति हूं, लघु हूं, यमी हूं,
मैं राग की कर रहा क्रम से कमी हूं।
हे चेतने ! सुखद-शान्ति-सुधा पिला दे,
माता ! मुझे कर कृपा मुझमें मिला दे ।।१००।।

चाहूं कभी न दिवि को अयि वीर स्वामी !
पीऊं सुधा रस निजीय, बनूं न कामी।
पा 'ज्ञानसागर' सुमन्थन से सुविद्या,
'विद्यादिसागर' बनू, तज दूं अविद्या ।।१०१।।

मंगल कामना

यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोर ।
हरी भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर ।।१।।

विषय कषाय तजो भजो, जरा निर्जरा धार ।
ध्याओ निज को तो मिले, अजरामर पद सार ।।२।।

सागर वो कचरा तजे, समझ उसे निस्सार ।
गलती करता क्यों भला, तू अघ को उर धार ।।३।।

रवि सम पर उपकार में, रहो विलीन सदैव ।
विश्व शान्ति वरना नहीं, यों कहते जिनदेव ।।४।।

रग-रग से करुणा झरे दुखी जनो को देख ।
चिर रिपु लख ना नयन में, चिन्ता रुधिर की रेख ।।५।।

तन-मन-धन से तुम सभी, पर का दुःख निवार ।
शम-दम-यम युत हो सदा, निज में करो विहार ।।६।।

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीष ।।७।।

समय एवं स्थान परिचय

इक त्रि शून्य द्वय वर्ष की, भाद्रपदी सित तीज ।
लिखा गया अजमेर में भुक्ति-मुक्ति का बीज ।।८।।

नमू ज्ञानसागर गुरु, मुझमे कुछ नहिं ज्ञान ।
त्रुटियां होवें यदि यहां, शोध पढें धीमान ।।९।।

[इति शुभं भूयात्]

निरञ्जन शतक

[१]

सविनयं ह्यभिनम्य निरंजनम्, नतिमितं नृसुरैर्मुनिरंजनम्।
भवलयाय करोमि समासतः, स्तुतिमिमां च मुदात्र समा सतः।।

अत्र मुनिरजनम् नृसुरैः नतिम् इतम् निरंजनम् सविनयम् हि (अहं) अभिनम्य मुदा समा सतः (निरजनस्य) इमा स्तुतिम् च समासत भवलयाय करोमि ।

सविनयमिति - **अत्र जगति (अह विद्यासागरः) नृसुरैः नरश्च सुराश्च नृसुरास्तैः मानवामरैः नतिं स्तुति इत प्राप्तं मुनिरञ्जनं यतिजनप्रमोदकारकं निरञ्जनं कर्मकालिमातीतं सिद्धपरमात्मानं सविनयं विनयसहितं हि निश्चयेन अभिनम्य नमस्कृत्य सतो निरञ्जनस्य सिद्धभगवत अर्हत्परमेष्ठिनो वा इमां प्रारभ्यमाणां स्तुति स्तवनं मुदा समा प्रमोदेन सह समासत संक्षेपेण, भवलयाय स्वस्य जन्ममरणात्मक— संसारविनाशाय करोमि विदधामि। द्रुतविलम्बित छन्दः 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात्** ।।१।।

अर्थ - इस जगत् मे (मै विद्यासागर) मनुष्यो और देवो के द्वारा स्तुत तथा मुनियो को प्रमुदित करने वाले, कर्मकालिमा से रहित सिद्ध परमात्मा को विनयपूर्वक नमस्कार कर अपना ससार-परिभ्रमण नष्ट करने के लिए हर्ष सहित उन निरञ्जन - जिनेश्वर अथवा सिद्ध परमेष्ठी की सक्षेप से इस स्तुति को करता हूं ।।१।।

[२]

निजरुचा स्फुरते भवतेऽयते, गुणगणं गणनातिगकं यते!
विदितविश्व! विदा विजितायते! ननु नमस्तत एष जिनायते।।

विदितविश्व! विदा विजितायते! यते! निजरुचा स्फुरते गणनातिगक गुणगण अयते ननु नम तत एष (अहम् स्तुतिकर्त्ता विद्यासागर) जिनायते।

निजरुचेति - **हे विदितविश्व! विदितो ज्ञातो विश्वो लोकालोकौ येन तत्सम्बुद्धौ। विदा ज्ञानेन विजितायते विजिता आयतिरुत्तरकालो येन तत्सम्बुद्धौ। यते! महामुने! निजरुचा स्वकीयदेहदीप्त्या ज्ञस्वभावस्यात्मनो रुक् श्रद्धा तया वा। स्फुरते शोभमानाय गणनातिगकं गणना सख्यामतीत्य गच्छतीति गणनातिगः स एव स्वार्थे कः त गणनातीतं गुणगणं गुणसमूहं अयते प्राप्नुवते ते ननु निश्चयेन नमः नमस्करोमि त्वामिति यावत्। तत तव स्तवनात् एषोऽहं विद्यासागरो जिनायते जिन इवाचरति। भवत्स्तवनप्रभावेणाहमपि जिनो भविष्यामीति भावः** ।।२।।

अर्थ - जिन्होने समस्त पदार्थो को जान लिया है, जिन्होने ज्ञान के द्वारा अपने

भविष्य को विजित किया है तथा जो महामुनीन्द्र है, ऐसे हे जिनेन्द्र! अपरिमित गुण समूह को प्राप्त करने वाले आपके लिये मेरा निश्चय से नमस्कार है। इस नमस्कार से मै ऐसा अनुभव करता हूँ कि मे जिन के समान हो गया हूँ– आपके स्तवन से मै जिन बनूँगा, इसमे संशय नहीं है।।२।।

[३]

परपदं ह्यपदं विपदास्पदं, निजपदं नि पदं च निरापदम् ।
इति जगाद जनाब्जरविर्भवान्, ह्यनुभवन् स्वभवान् भववैभवान् ।।

विपदास्पदम् अपदम् हि परपदम् । निरापदम् निजपदम् नि (निश्चयेन) पदम् च । इति स्वभवान् भववैभवान् हि अनुभजन् जना ब्जरवि भवान् जगाद ।

परपदमिति - **हि निश्चयेन परपद ज्ञातृस्वभावादात्मनो भिन्नं पदं विपदास्पदम् विपदामापत्तीनां आस्पदं स्थानं, अत एव अपद अत्राण अरक्षकं 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्म्यङ्घ्रिवस्तुपु' इत्यमर । च समुच्चये, निजपद ज्ञातृस्वभावमात्मतत्त्व नि निश्चयेन निरापद आपदाभ्यो निर्गत अत एव पदं विश्रामस्थानं अस्तीति शेप। इतीत्थ स्वभवान् स्वस्माद् भवन्तीति स्वभवास्तान् भववैभवान् भवस्य जगतो वैभवा ऐश्वर्याणि तान् अनुभवन् जनाब्जरवि जना एवाब्जानि पद्मानि तेषा रविर्दिनकर भवान् अर्हन् हि निश्चयत जगाद स्पष्टं कथयामास। स्वपदमादेय परपद च हेयमिति भवान् अब्रवीत् इति भाव ।।३।।**

अर्थ - निश्चयत आत्मस्वभाव से भिन्न – अन्यपद विपदाओ के स्थान है, अतएव अपद–अरक्षक हैं और आत्मस्वभावरूप निजपद विपदाओ से रहित तथा आत्मरमण का स्थान है। परमार्थ से स्वोत्पन्न सासारिक वैभवो का अनुभव करते तथा जनरूपी कमलो को विकसित – प्रफुल्लित करने के लिये सूर्यस्वरूप आपने, ऐसा स्पष्ट कहा है ।।३।।

[४]

पदयुगं शिवदं नु शमीह ते, श्रयतु चेत्स्वपदं स समीहते।
ऽधनिनो धनिनं हि धनाप्तये, किमु भजंति न लब्धधनाप्त! ये ।।

हे लब्धधन! आप्त! चेत् शमी स्वपदम् समीहते (तर्हि) न नु ते शिवदम् पदयुग श्रयतु। इह(जगति)ये अधनिन धनाप्तये किमु धनिनम् न भजन्ति ? (भजन्त्येवेति) ।

पदयुगमिति - **हे लब्धधन! लब्धं प्राप्तं धनमनन्तचतुष्टयरूपं येन तत्सम्बुद्धौ। हे आप्त! अर्हन्! चेत् यदि स प्रसिद्ध शमी शाम्यतीति शमी शान्तिस्वभावो जन इह**

जगति शं सुखस्वरूपं स्वपदं स्वकीयचैतन्यवैभवं ईहते समिच्छति तर्हि नु निश्चयेन ते भवत., शिवद मोक्षप्रदं पदयुगं चरणयुगल श्रयतु सेवता। भवच्चरणाराधनामन्तरेण स्वपदानुभूतिर्दुर्लभास्तीति भाव। हि यत. ये अधनिनो धनरहिता. सन्ति ते धनाप्तये वित्तप्राप्तये किमु धनिनं वित्तेश्वरं न भजन्ति न सेवते? अपि तु सेवन्त एव ।।४।।

अर्थ - हे आत्मधन को प्राप्त करने वाले अरहन्तदेव! इस जगत् मे यदि शान्त स्वभाव वाला जन सुखस्वरूप स्वपद शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहता है तो वह मोक्षदायक अथवा कल्याणप्रदाता आपके चरणयुगल की सेवा करे। क्योंकि इस जगत् मे जो निर्धन मनुष्य है, वे धन प्राप्ति के लिये क्या धनिकपुरुष की सेवा नहीं करते? अर्थात् अवश्य करते है ।।४।।

[५]

यदसि सत्यशिवोऽसि सदा हित, तव मदो महसा हि स दाहितः।
गतगति सगतिर्गतसंमतिः, ममसते सुगतिर्भुवि सन्मतिः ।।

हे विभो! तव महसा हि स मद. दाहित यत् सत्यशिव असि। (अत) भुवि सदा हित असि। गतगति सगति गतसमति सन्मति (अपि असि) (तत) मम मते सुगतिः(त्वमेव असि)।

यदसीति - **हे भगवन्! तव भवत. महसा तेजसा स प्रसिद्धो मदो गर्वो मदनो वा हि निश्चयेन दाहितो भस्मसात्कारित यत् यस्मात् कारणात् तेन त्वं सत्यशिव: सच्चिदानन्दरूपोऽसि, किञ्च सदा सर्वदा हितो हितरूपोऽसि। अत. गतगति गता नष्टा गतयो नरकाद्यवस्था यस्य स.। चतुर्गतिभ्रमणरहित सगति मोक्षाऽभिधानया गत्या सहित, गतसमति गता प्राप्ता समतिर्यस्य स। सन्मति समीचीना मतिर्यस्य तथाभूत त्वमसि। अतो भुवि पृथिव्या मम स्तोतु मते. धिय। सुगति शोभनाश्रयदातासि ।।५।।**

अर्थ - यतश्च आपके तेज के द्वारा वह मद-गर्व अथवा मदन दग्धकर दिया गया। अत तुम्हीं सत्यशिवरूप हो और तुम्ही सदा हितरूप हो यतश्च आप गतगति चतुर्गति रूप परिभ्रमण से रहित हो, सगति - मोक्षरूप गति से सहित और गतसमति समीचीन मति से सहित है ।।५।।

[६]

नयनयुग्मनिभेन नयद्वयम्, समयनिश्चयहेतु न! यद्वयम्।
कलयतीति तदाशयवेदका, निजमयाम इव व्यपवेदकाः ।।

हे न! (तव) नयद्वयम् नयनयुग्म निभेन समय निश्चय हेतु इति कलयति। यत् वयम् तत् आशयवेदका निजम् व्यपवेदका. इव अयाम ।

नयनेति - हे न! हे जिन! 'नकारो जिनपूज्ययो' इति विश्वलोचनः। (तव) नयद्वयं नययोर्द्वय नयद्वयं निश्चयव्यवहाराभिधाननययुगलं नयनयुग्मनिभेन नेत्रयुगलसादृश्येन समयनिश्चयहेतु समस्यागमस्य पदार्थस्य वा यो निश्चयो निर्णयस्तस्य हेतु हेतुरूप इतीत्थ कलयति प्रकटयति यद् यस्मात्कारणात् तदाशयवेदकाः तदभिप्रायज्ञातार., वयं व्यपवेदका इव व्यपगतो नष्टो वेदो येषां तथाभूता इव निजं स्वस्वरूप अयाम प्राप्नुम.। हे जिन! भवत्प्रणीतं नययुगलं नेत्रयुगलमिव शास्त्रस्य पदार्थमात्रस्य वा निर्णयकारण वर्तते, इति निश्चित्य वय वेदातीतजना इव स्वस्वरूपे स्थिरा भवाम इति भाव। 'अयाम' इति परस्मैपद कथमिति चेत्? इटकिटकटी गतौ' इत्यत्र प्रश्लिष्टस्य इधातोः परस्मैपदप्रयोग ।।६।।

अर्थ - हे जिनेन्द्र! आपके निश्चय व्यवहारनयो का युगल, नेत्रयुगल के समान समय– आगम अथवा द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ के निश्चय का कारण है, ऐसा जान उसके अभिप्राय को जानते हुये हम वेद रहित पुरुष-अखण्डब्रह्मचारी के समान स्वकीय स्वभाव को प्राप्त होते हैं ।।६।।

[७]

अधिपतौ निजचिद् विमलक्षितेः, व्यय-भव-ध्रुव-लक्षण-लक्षिते।
मयि निरामयक सहसा गरेऽवतरतीव शशी किल सागरे ।।

निजचिद् विमलक्षिते अधिपतौ व्ययभवध्रुव लक्षणलक्षिते मयि गरे निरामयक भवान् किल सहसा सागरे शशी इव अवतरति।

अधिपताविति - निजस्य स्वस्य या विमलचिद् शुद्धचेतना सैव विमलक्षिति निर्मलभूमिस्तस्या, अधिपतौ स्वामिनि शुद्धचेतनायुक्ते इति यावत्। व्यय पूर्वपर्यायविगम भवो नूतनपर्यायोत्पाद, ध्रुव पूर्वोत्तरपर्याययोर्विद्यमान सामान्यधर्म एषां द्वन्द व्ययभवध्रुवा त एव लक्षणं तेन लक्षिते सहिते व्ययोत्पादध्रुवात्मके, मयि स्तावके, गरे विषे निरामयको नीरोग इव भवान् सागरे समुद्रे शशीव मृगाङ्क इव सहसा झगिति अवतरति अवतीर्णो भवति। यथा विषमध्ये पतितो विषवैद्यो निरामयो भवति तथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वेन भङ्गुरात्मनि मयि ध्येयरूपेण प्रविष्टो भवान् सुस्थिरो भवति। यथा च सागरेऽवतीर्ण शशी सागराद् भिन्नो भवति तथा च मय्यवतीर्णो भवान् मदीय रागादिद्वेषैर्दूषितो न भवतीति भाव। किलेति वाक्यालङ्कारे ।।७।।

अर्थ - जो स्वकीय चेतनारूपी निर्मलभूमि का स्वामी है तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप लक्षण से सहित है ऐसे मुझमें, विष के बीच नीरोग रहने वाले आप समुद्र मे चन्द्रमा के समान सहसा अवतीर्ण हुए है।

भावार्थ - जिस प्रकार विष के मध्य रहता हुआ भी विषवैद्य विषजन्य विकार से रहित होता है और जिस प्रकार लहराते हुए जलमय समुद्र मे प्रतिबिम्बरूप से प्रविष्ट चन्द्रमा उससे निर्लिप्त रहता है। उसी प्रकार ध्येयरूप से मुझमे प्रविष्ट हुए आप मेरे विकारो से रहित है ।।७।।

[८]

स्तुतिरियं तव येन विधीयते, तमुभयावयतो न विधी यते!।
गजगणोऽपि गुरुर्गजवैरिणम्,नखबलैः किमटेद् विभवैरिनम्।।

हे यते।येन (धीमता मुनिना) तव इयम् स्तुति विधीयते तं उभयौ विधी (द्रव्यभावमयौ) न अयत नखबलै विभवै इनम् गजवैरिणम् गुरु गजगण अपि किम् अटेत्? (नकदापि इति ;)।

स्तुतिरिति -**हे यते! हे मुनीन्द्र! येन धीमता मुनिना तव भवत इयं स्तुतिर्नुति-गुणगानमिति यावत्। विधीयते क्रियते त स्तोतार, उभयौ द्रव्यभावभेदेन द्विप्रकारौ विधी कर्मणी न अयत नो प्राप्नुत। 'उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्तीति कैयट अस्तीति हरदत्त' इति हरदत्तमतेन द्विवचनान्तप्रयोग। एतदेव काकुप्रयोगेण समर्थयति - गुरु स्थूलाकारोऽपि गजगणो हस्तिसमूह नखबलैर्विभवैर्नखबलसामर्थ्येन कि इन वनस्वामिनं गजवैरिणं सिहं अटेत् गच्छेत्? पुरस्तात् गन्तुं किं शक्नुयात्? अपि तु न शक्नुयात् ।।८।।**

अर्थ - हे यतीन्द्र! जिस बुद्धिमान् के द्वारा आपकी यह स्तुति की जाती है, उसके पास दोनो प्रकार के कर्म नहीं जाते है। क्या हाथियो का समूह स्थूल होने पर भी अपने नख बल के वैभव से वनराज सिह के सामने जाता है? अर्थात् नहीं जाता ।।८।।

[९]

निगदितुं महिमा ननु पार्यते, सुगत।केन मनो।मुनिपार्य! ते।
वदति विश्वनुता भुवि शारदा, गणधरा अपि तत्र विशारदा ।।

हे आर्य! मुनिप! मनो! ते महिमा ननु केन निगदितुं पार्यते(इति) भुवि विश्वनुता शारदा वदति तत्र विशारदा गणधरा अपि (वदन्ति)।

निगदितुमिति - **हे सुगत! सुष्ठु गतं ज्ञानं यस्य तत्सम्बुद्धौ, हे मनो! हे मनुरूप! हे मुनिप! हे मुनिश्रेष्ठ! हे आर्य! हे पूज्य! ननु यथार्थतः। ते भवतो महिमा माहात्म्यं केन जनेन निगदितुं कथयितुं पार्यते शक्यते? अपि तु न केनापि। वागगोचरं तव माहात्म्यमस्तीति भावः। इति भुवि पृथिव्यां विश्वनुता विश्वैर्नुता स्तुता सर्वस्तुतेति यावत्। शारदा सरस्वती बदति। किञ्च तत्र स्तुतौ विशारदा निपुणतरा गणधरा अपि**

वदन्तीति योज्यम् ।।९।।

अर्थ - हे बुद्ध! हे मनुरूप! हे मुनिपालक--मुनिश्रेष्ठ! हे आर्य! हे पूज्य! निश्चय से आपकी महिमा किसके द्वारा कही जा सकती है? अर्थात् किसी के द्वारा नहीं। पृथिवी पर सब के द्वारा स्तुत सरस्वती ऐसा कहती है और स्तुतिविद्या मे निपुण गणधर भी ऐसा ही कहते है।

भावार्थ - आपकी सर्वथा निर्दोष-पूर्वापर विरोध से रहित वाणी ही इस बात को प्रकट करती है कि आपकी महिमा का वर्णन करने के लिये कोई समर्थ नहीं है ।।९।।

[१०]

निजनिधेर्निलयेन सताऽतनो; र्मतिमता वमता ममता तनो ।
कनकता फलतो ह्युदिता तनौ, यदसि मोहतम सविताऽतनो! ।।

हे अतनो! अतनो निजनिधे निलयेन मतिमता सता तनो ममता वमता। फलत तनौ कनकता हि उदिता। यत् (यस्मात्) मोहतम सविता असि।

निजनिधेरिति - **हे अतनो! अविद्यमाना तनु शरीर यस्य तत्सम्बुद्धौ। अतनो न तनु स्वल्पा अतनु विशाला तस्य निजनिधे आत्मगुणभाण्डारस्य निलयेन स्थानेन, मतिमता बुद्धिमता, तनो शरीरस्य 'स्त्रिया मूर्तिस्तनुस्तनू' इति धनञ्जय। ममता ममत्वबुद्धी वमता उद्गिरता सता भवता तनौ शरीरे हि यत फलत फलस्वरूपेण कनकता कनकस्य भाव कनकता सुवर्णता उदिता प्रकटिता यद् यस्मात् कारणात् तेन त्व मोहतम सविता मोह एव तमो ध्वान्त तस्य विनाशने सविता सूर्य। असि वर्तते। यतश्च त्व विशालात्मसम्पद स्वामी वर्तसे, यतश्च स्वपरभेदविज्ञानवता त्वया शरीरे ममता बुद्धयो निरस्ता, यतश्च तव शरीरे सुवर्णरूपता प्रकटिता तेन त्व मोहतिमिरविदलने दिवाकरोऽसीति भाव ।।१०।।**

अर्थ - हे अतनो! हे अशरीर! यतश्च आप विशाल आत्मसम्पदा के आधार है, यतश्च स्वपरभेदविज्ञानी होकर आपने शरीर सम्बन्धी ममताओ को दूर किया है और यतश्च आपके शरीर मे सुवर्ण जैसी आभा प्रकट हुई है अत आप मोहरूपी तिमिर को नष्ट करने के लिये सूर्यतुल्य है ।।१०।।

[११]

जिनपदौ शरणौ त्वपि कौ कलौ, कमलकोमल कौ विमलौ कलौ ।
जनजलोद्भवरात्र्यहितौ हितौ, मयि मयाद्य हितौ महितौ हि तौ ।।

हे (जिन!) तौ जनजलोद्भव--रात्र्यहितौ विमलौ कलौ कमलकोमलकौ मया महितौ हि मयि हितौ अद्य

अपि कौ कलौ जिनपदौ शरणौ (इति आनन्दसूचिका) ।

जिनपदाविति— (हे जिन!) तौ वक्ष्यमाणवैशिष्ट्यसहितौ जनजलोद्भवराश्यहितौ जना एव जलोद्भवानि कमलानि तेषां राश्यहितौ सूर्यौ, कमलकोमलकौ कमलमृदुलौ स्वार्थे क। विमलौ निर्मलौ, कलौ मनोहरौ, हितौ हितकारकौ, जिनपदौ जिनपादौ, अद्य मया स्तुतिकर्त्ता, मयि निजात्मनि हितौ धृतौ 'दधातेर्हि' इत्यनेन निष्ठायां दधातेः हि आदेश। हि निश्चयेन महितौ पूजितौ। तौ कौ पृथिव्यां कलौ पञ्चमकाले शरणौ शरणभूतौ रक्षकौ स्त इति शेषः ।।११।।

अर्थ - हे जिन! जो भव्यजनरूपी कमलो को विकसित करने के लिये सूर्य स्वरूप है, कमल के समान कोमल है, निर्मल है, मनोहर है, हितकारी है और मेरे द्वारा पूजित होकर अपने हृदय मे विराजमान किये गये है, ऐसे जिनेन्द्रचरण ही पंचमकाल मे पृथिवी पर परमार्थ से शरणभूत है - रक्षक है ।।११।।

[१२]

सुरसयोगमित यदयोगतं, कनकतां शिवमेष अयोगतः ।
इति भवान् क्व रस क्व मनो चिता, तदुपमा सहसा सह नोचिता ।।

मन !सुरसयोगम् इतम् यत् अय कनकताम् गतम्। एष (स्तुतिकर्त्ता तु)अयोगत शिवम् (गत.) तत भवान् क्व रस क्व इति (मत्वा) चिता सह (भवतासह) तदुपमा सहसा न उचिता।

सुरसेति - हे मनो! हे मनुस्वरूप! यद् यस्मात्कारणात्, अयो लोहः सुरसयोगतः सुष्ठुरसस्य शोभनरसस्य योग सम्बन्धं, इत प्राप्तं, सत् कनकता स्वर्णता गतं प्राप्तं, एषोऽयं स्तुतिकर्त्ता तु हि निश्चयेन अयोगतो लोहरूपोऽपि शिवं कल्याणं मोक्षं वा प्राप्तः। पक्षे अयोगत. योगाभावत। इतीत्थं भवान् क्व? रसः क्व? द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयत। चिता चैतन्यरूपेण भवता सह सहसा अविचार्य तदुपमा तस्य रसस्योपमा सदृशता उचिता योग्या नास्ति ।।१२।।

अर्थ - यतश्च लोहा समीचीन रसायन का सयोग पाकर सुवर्णता को प्राप्त हो गया परन्तु यह स्तुतिकर्त्ता आपके प्रभाव से रसायन के सम्बन्ध के बिना ही (पक्ष मे - योगरहित अवस्था से) शिव कल्याणरूपता स्वर्णरूपता (पक्ष मे मोक्ष) को प्राप्त हो गया। इस तरह आप कहाँ? और रसायन कहाँ? दोनों मे बडा अन्तर है। आप चैतन्यरूप है और रसायन जड़रूप है। अत· चैतन्यरूप के साथ अचेतन रस की उपमा बिना विचार किये देना उचित नहीं ।।१२।।

[१ ३]

जिनगतस्त्वयि योऽपि मुदालयं, स्वमयते सह स स्वविदालयम् ।
गुणकुलैरतुलैर्ननु संकुलम्, कलकलं विकलय्य भृशं कुलम् ।।

हे अयि जिन! त्वयि यो मुदा लयम् गत ननु स स्वविदा सह कुलम् भृशम् विकलय्य अतुलैः गुणकुलैः संकुलम् कलकलम् स्वम् आलयम् अयते।

जिनेति - **अयि जिन! हे जिन! योऽपि यः कश्चन जन, मुदा हर्षेण त्वयि भवति लयं लीनता गत प्राप्त., स पुरुष ननु निश्चयेन स्वविदा आत्मज्ञानेन सह कुलं शरीरं भृशमत्यन्त विकलय्य पृथक्कृत्य तत्स्नेहं त्यक्त्वेत्यर्थ। अतुलैरनुपमै गुणकुलै र्गुणसमूहै ज्ञानदर्शनादिगुणसमूहैरिति यावत्। संकुलं व्याप्तं कलकलं कला मधुरा कला यस्य त स्वं निज आलय गृह आत्मस्वभावं अयते प्राप्नोति। जिनवर ध्यानेन ध्यातुरात्मज्ञानं जायते तेन च स शरीराद्विरज्यानन्तगुणगणैर्निभृतं ज्ञानानन्द स्वभावमात्मानं श्रयत इति भाव ।।१३।।**

अर्थ - हे जिन! जो भी पुरुष हर्ष से आप मे लीनता को प्राप्त होता है वह आत्मज्ञान के साथ शरीर को अत्यन्त पृथक् कर अनुपम गुणसमूहो से व्याप्त एव मनोहर कलाओ से युक्त स्वकीय गृह को प्राप्त होता है।

भावार्थ - वीतराग जिनेन्द्रदेव के ध्यान से आत्मज्ञान होता है। आत्मज्ञान के द्वारा शरीर को पृथक् अनुभव करता हुआ ध्याता अनेक गुणसमूह से व्याप्त आत्मगृह–स्वकीयशुद्धस्वभाव को प्राप्त करता है ।।१३।।

[१ ४]

असितकोटिमिता अमिताः तके, नहि कचा अलिभास्तव तात! के ।
वरतपोऽनलतो बहिरागता, सघनधूम्रमिषेण हि रागता ।।

हे तात! तव के (मस्तके) तके (ते एव तके) अमिताः असितकोटिम् इता अलिभा कचा नहि (सन्ति) (किन्तु) वरतपोऽनलत सघनधूम्रमिषेण रागता हि बहि आगता (इति मन्ये)।

असितेति - **हे तात! हे पूज्य! तव भवतः के शिरसि 'शिरोमूर्धोत्तमाङ्गं कं' इति धनञ्जय। तके त एव तके स्वार्थेऽकच् प्रत्यय। असितकोटिं न सिता असिताः शुक्लेतरपदार्थास्तेषा कोटिं कोटिसख्यां बाहुल्यमिति यावत्। इता प्राप्ता. अमिताः अपरिमिता अलिभा भ्रमरवत्कृष्णा कचाः केशा न हि वर्तन्ते किन्तु वरतपोऽनलत वरतप उत्कृष्टतप एवानलोऽग्निस्तस्मात् सघनधूम्रमिषेण सघनश्चासौ धूम्रश्च सघनधूम्रः सान्द्रधूम्रस्तस्य मिषेण व्याजेन रागता रागस्य भावो रागता रागपरिणतिः हि निश्चयेन बहिः आगता समायाता। अपह्नवालङ्कार। शिरसि दृश्यमाना एते कृष्णाः कचा न किन्तु ध्यानानलत समुत्थितधूम्रमिषेण रागादयो विकृतयो बहिरागताः इति भावः ।।१४।।**

अर्थ– हे पूज्य! आपके शिर पर वे अपरिमित काले केश नहीं है किन्तु उत्कृष्ट ध्यानरूप अग्नि से उठे हुए धूम के बहाने भीतर की रागपरिणति बाहर आयी है।।१४।।

[१५]

अयशसां रजसां वपुषाकरः, तव जितो महसा स निशाकरः ।
जिन!रतोऽत्र ततोऽप्यमहानये, नखमिषेण पदे ह्यघहानये ।।

अये! जिन! अयशसा रजसा वपुषा आकर स निशाकर. तव महसा जित तत (स) अमहान् (तव) पदे अत्र नखमिषेण हि अघहानये रत ।

अयशसामिति - **अये जिन! हे अर्हन्! वपुषा शरीरेण अयशसामकीर्तीनां रजसां मलिनरेणूनाम्। आकर खनि स प्रसिद्धो निशाकरश्चन्द्र, तव महसा तेजसा जित पराभूत। ततोऽपि स निशाकर अमहान् हीनः सन् तव पदे चरणे अत्र जगति नखमिषेण अघहानये पापहानये हि निश्चयेन रतो लीन। अस्तीति। चन्द्रमसि य श्यामप्रदेशो दृश्यते सोऽपयशसा कृष्णरजसा खनिरस्ति। तथाभूतश्चन्द्रमा तव तेजसा पराभूत। पराभवात् स निकृष्टो जात। ततश्च स्वकीयपापदूरीकरणाय नखव्याजेन तव चरणे लीन इति मन्ये। उत्प्रेक्षा ।।१५।।**

अर्थ - हे जिनदेव! वह चन्द्रमा, जो कि शरीर के द्वारा अपयशरूपी मलिन धूलि की खान हो रहा है, आपके तेज से पराजित हो अमहान् - तुच्छ बन गया, इसीलिये वह इस जगत् मे पापो को नष्ट करने के लिये नखो के बहाने (सपरिवार) आपके चरणो मे आ पडा है।।१५।।

[१६]

विधिनिशा किल संव्रियतेऽनया, कवितया विभयाभय तेऽनया ।
किमुदितेऽप्यरुणे ह्यरुणे यते!,स्थितिरितिं तमसो न मुनेऽयते ।।

हे मुने!अभय! यते! ते अनया कवितया विभया किल अनया विधिनिशा सव्रियते। (उचितमेव) अरुणे अपि अरुणे उदिते हि तमस स्थिति इतिम् कि न अयते (अवश्यमेवेति)।

विधिनिशेति - **हे मुने! हे अभय! हे यते! ते तव, अनया एतया, कवितया विभया कवितारूपप्रभया किलेति वाक्यालङ्कारे, अनया न विद्यन्ते नया यस्यां सा नयरहिता विधिनिशा विधिरेव दुष्कर्मैव निशा रात्रि संव्रियते संवृता भवति। यथा प्रभया रजन्या विलय उचितस्तथा तव कवितया दुष्कर्मसन्ततेर्विलय उचित एव। एतदेव दृष्टान्तेन समर्थयति। अरुणे रक्तवर्णे अरुणे प्रातकालिक लालिम्नि उदिते प्रकटितेऽपि**

कि तमसो ध्वान्तस्य स्थिति इति गति विनाशमिति यावत्। न अयते न प्राप्नोति। अपि तु प्राप्नोति ।।१६।।

अर्थ - हे मुने! हे निर्भय! हे यते! आपकी इस कवितारूपी विभा– प्रभा से अनय -नयरहित दुष्कर्म रूपी रात्रि संवृत हो जाती है-समाप्त हो जाती है, यह उचित ही है क्योंकि प्रात काल की लाल-लाल लाली के प्रकट होने पर क्या अन्धकार की स्थिति विनाश को प्राप्त नहीं होती ? अवश्य होती है ।।१६।।

[१७]

असुषमां सुषमाममितां मनो., ममपिबत् तृषितं हि मितान्मनो।
स्वरससेवनमेव वरं भवे; दिति समीक्ष्य जगाद विभुर्भवे ।।

(हे जिन!)मनो अमिता असुषमां सुषमा मम मन पिबत् (अपि) हि मितात् तृषितम्। इति समीक्ष्य विभु भवे स्वरससेवन एव वरम् भवेत् इति जगाद।

असुषमामिति - **(हे जिन!)** मनो मनुरूपस्य तव असुषमा नास्ति सुषमान्यस्य यस्यास्ता लोकोत्तरशोभासंपन्नामिति यावत्। अमिता अपरिमितां सुषमां परमशोभां 'सुषमा परमा शोभा' इत्यमरः। पिबत् पानं कुर्वदपि मम स्तोतु मनश्चित्तं मितात् परिमितात् हेतो तृषित तृषायुक्तं हि निश्चयेन वर्तत इति शेषः। इतीत्थं समीक्ष्य विचार्य विभु प्रभुर्भवान्, भवे संसारे स्वरससेवनमेव स्वस्य चेतनस्य यो रसो ज्ञानादिस्वभावस्तस्य सेवनं पानमेव वरं श्रेष्ठं भवेदिति जगाद कथयतिस्म। लोकोत्तरसौन्दर्यं दृष्ट्वापि दर्शकस्य मन सतृष्णं भवति, अतस्तदुपेक्ष्य स्वकीयस्वभावस्याराधनमेव श्रेष्ठं वर्तत इति भावः।।१७।।

अर्थ - हे जिन! मनुस्वरूप आपकी लोकोत्तर–सर्वश्रेष्ठ एवं अपरिमित शोभा का पान करता हुआ भी मेरा मन सीमित होने के कारण तृषित – प्यासा – असंतुष्ट रहा है। अर्थात् बाह्य शोभा को देखकर मन संतुष्ट नहीं होता। ऐसा विचार कर आपने कहा कि जगत् मे आत्मरस-स्वस्वभाव की आराधना करना ही श्रेष्ठ है।।१७।।

[१८]

त्वदधरस्मितवीचिसुलीलया, विदितमेव सतां सह लीलया ।
त्वयि मुदम्बुनिधिर्हि नटायते, अहमिति प्रणतोऽप्यपटायते ।।

(हे विभो!)त्वयि मुदम्बुनिधिः हि नटायते। (यत.) त्वदधरस्मितवीचिसुलीलया सतां सह लीलया विदितम् एव (अत:)ते अपटाय अहम् अपि प्रणत (अस्मि) इति।

त्वदधरेति - **हे विभो!** त्वदधरस्मितवीचिसुलीलया तव अधरस्याधरोष्ठस्य

स्मितवीचीनां मन्दहसितसन्ततीनां सुलीला सुन्दरशोभा तया सतां सत्पुरुषाणां लीलया सह अनायासेनैव विदितं ज्ञात यत् त्वयि हि निश्चयेन मुदम्बुधिः प्रमोदपारावारः। नटायते नट इवाचरति कल्लोलितो विद्यत इति भावः। इति हेतोः अहमपि स्तुतिकारोऽपि अपटाय वस्त्ररहिताय निर्ग्रन्थायेति यावत्। ते तुभ्यं प्रणतो नम्रीभूतोऽस्मीति भाव ।।१८।।

अर्थ - हे भगवन्! आपके अधरोष्ठ सम्बन्धी मन्द मुस्कानो की सुन्दर लीला से ही सत्पुरुषो को यह अनायास विदित हो गया है कि आप मे आनन्द का सागर लहरा रहा है इसलिये मै भी निर्ग्रन्थमुद्रा का धारक आपके लिये प्रणत हूँ —नमस्कार करता हूँ।।।१८।।

[१९]

सति तिरस्कृतभास्करलोहिते, महसि ते जिन! विःसकलो हिते ।
अणुरिवात्र विभो! किमु देव!न! वियति भ प्रतिभाति तदेव न ।।

हे जिनदेव! विभो! नः! अत्र तिरस्कृतभास्करलोहिते, हिते सति, महसि सकल वि अणु इव प्रतिभाते भ तदेव वियति (अणु इव) किमु न प्रतिभाति?)।

सतीति - **हे जिनदेव! विभो! न! अत्र भुवि तिरस्कृतभास्करलोहिते तिरस्कृतो न्यक्कृतो भास्करस्य रवेर्लोहित प्रकाशो येन तस्मिन् हिते हितकारिणि सति प्रशस्ते ते तव महसि तेजसि** केवलज्ञानधाम्नि **सकलो वि संपूर्णः आकाशः अणुरिव प्रतिभाति प्रतिभासते। वियति अनन्ताकाशे भ नक्षत्रं किमु तदेव नक्षत्ररूपमेव अल्पमेवेति यावत्। न प्रतिभाति?अपि तु प्रतिभात्येव। यथानन्ताकाशे नक्षत्रमेकं स्वल्पतर प्रतिभाति तथानन्ते तव केवलज्ञाने सकल गगनं स्वल्पतर प्रतिभाति ।।१९।।**

अर्थ - हे जिनदेव! हे विभो! हे पूज्य! इस पृथिवी पर सूर्य के प्रकाश को तिरस्कृत करने वाले आपके केवलज्ञानरूप तेज मे सम्पूर्ण आकाश अणु के समान प्रतिभासित होता है। ठीक ही है क्योकि अनन्त आकाश मे एक नक्षत्र क्या अणु के समान नही जान पडता? ।।१९।।

[२०]

त्वयि जगद् युगपन्मुनिरंजने, लयमुपैति भवं च निरंजने ।
परममानसुमेयतया तया, सरसिवीचिवदेव न वार्तया ।।

(गुरो!)त्वयि मुनिरजने निरजने जगत् युगपत् लय भव च (ध्रुवता च) तया परममानसुमेयतया उपैति। न वार्तया सरसि वीचिवत् एव।

त्वयीति - मुनिरञ्जने यतिजनानन्ददायिनि निरञ्जने कर्मकल्मषरहिते त्वयि सर्वज्ञवीतरागतोपेते त्वयि भवति जगद् त्रिभुवनं युगपदेककालावच्छेदेन लयं व्ययं भवमुत्पाद चकाराद्ध्रुवता च तया प्रसिद्ध्या परममानसुमेयतया मीयतेऽनेनेति मानं ज्ञान, परम च तन्मान चेति परममानं श्रेष्ठज्ञानं तस्य मेयता ज्ञेयता तया, सरसि कासारे वीचिवदेव कल्लोलवदेव। यथा सरसि वीचयः समुत्पद्यन्ते विलीयन्ते जलत्वेन तिष्ठन्ति ध्रुवा भवन्ति तथा भवति त्रिभुवनं समुत्पादं व्यय ध्रौव्यतां च प्राप्नोति। एतत्सर्वं वार्तया वार्तामात्रेण न, किन्तु यथार्थतया जगदेतदुत्पादादित्रितयरूपं विद्यते, तव ज्ञाने च तथैव प्रतिभातीत्यर्थ ।।२०।।

अर्थ - मुनिजनो को आनन्द देने वाले तथा कर्मकालिमा से रहित आप मे यह जगत् एक ही साथ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को उस प्रकार प्राप्त हो रहा है जिस प्रकार कि सरोवर की तरङ्ग। जगत् प्रसिद्ध ज्ञेयज्ञायकभाव की अपेक्षा यह सब यथार्थ मे हो रहा है, कहने मात्र की अपेक्षा नहीं ।।२०।।

[२१]

सुखमज न भजन्नपि दीदिवि- र्भजति तावदहोऽतनुधीर्दिवि ।
मुनिरय तनुधीरपि रागत- स्त्वयि च यावदके गतरागतः ।।

(हे जिन) दिवि अतनुधी दीदिवि अज (त्वाम्) भजन् अपि अहो तावत् सुखम् न भजते। त्वयि रागत तनुधी अपि अयम् मुनि (ग्रन्थकर्ता) अके गतरागत च यावत् (सुखम्) भजति।

सुखमिति - दिवि स्वर्गे अतनुधीर्विशालबुद्धिः दीदिविर्वृहस्पतिः अजं न जायत इत्यजस्त जन्मातीत त्वामिति यावत् भजन्नपि सेवमानोऽपि तावत् प्रमाण सुखं न भजते न प्राप्नोतीत्यहो विस्मय त्वयि रागतो भक्त्यतिशयात् तनुधीरपि तन्वी बुद्धिर्यस्य तथाभूतोऽल्पबुद्धिरपि। अयमेष मुनिर्ग्रन्थकर्ता अके अनात्मनि शुद्धात्मभिन्नपरपदार्थे गतरागतो विनष्टप्रीत्यतिशयात् च यावत् यावत्प्रमाण सुखं भजति। विशालबुद्धिधारकोऽपि बृहस्पति स्वर्गसम्बन्धिरागपरिणामाज्जिनेन्द्रमाराधयन् तावत्सुखं न याति यावत् परवस्तुनि रागपरिणामाभावात् जिनेन्द्र भजमानो मुनिः प्राप्नोतीत्यर्थः ।।२१।।

अर्थ - हे जिनेन्द्र! स्वर्ग मे आपकी आराधना करने वाला विशाल बुद्धि का धारक बृहस्पति उतने सुख को प्राप्त नहीं होता, जितने सुख को पर वस्तुओ मे राग रहित मुनि अल्पबुद्धि होकर भी आप मे राग होने तथा अक—अनात्म पदार्थ मे रागरहित होने मे प्राप्त होता है ।।२१।।

[२२]

स्पृशति ते वदनं च मनोहरं, तव समं मम भाति मनो हर!
समुपयोग पयो ह्यपयोग तन्ननु भवेन्न पयोऽपि पयोगतम् ।।

हे अपयोग।समुपयोग।हर। ते मनोहर वदन च मम मन. (यदा) स्पृशति (तदा) तव समम् हि भाति। तत् पयोगतम् पय. अपि पय ननु न भवेत् (भवेदित्यर्थ.)।

स्पृशतीति - **हे अपयोग! अपगतो योगो मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ। हे समुपयोग! समीचीनौ उपयोगौ ज्ञानदर्शनरूपौ यस्य तत्सम्बुद्धौ। हे हर! जिनेन्द्र! मम स्तोतुः मनः चित्तं यदा ते तव मनोहरं चेतोहरं रमणीयमिति यावत्। वदनं मुखं स्पृशति स्पष्टं करोति ध्यायतीत्यर्थ. तदा तव मम सदृशं मया लक्ष्म्या सहितं वा हि निश्चयेन भाति शोभते। तदेवार्थान्तरेण निर्दिशति–तत् प्रसिद्ध पयोऽपि जलमपि पयोगतं दुग्धप्राप्तं सत् ननु निश्चयेन तत् दुग्धं दुग्धवद् वा न भवेत् अपि तु भवेदेव। 'दुग्धे नीरे वटादीनां क्षीरेऽपि क्षीरवत्पय' इति विश्वलोचनः ।।२२।।**

अर्थ - हे अपयोग। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति से रहित। हे समुपयोग! ज्ञानदर्शन रूप समीचीन उपयोगो से सहित, हे हर। हे जिनेन्द्र! जब मेरा मन आपके मनोहर वदन–मुख का स्पर्श करता है– आपके वैराग्यपूर्ण मुखमुद्रा का ध्यान करता है तब वह आपके समान वैराग्यपूर्ण हो जाता है। ठीक ही है क्योकि दूध मे मिला हुआ पानी क्या दूध या दूध के समान नहीं हो जाता? अवश्य हो जाता है।।२२।।

[२३]

असि शशी सितशीतसुधाकरैः, स्वगतशुद्धगुणैश्च सदा करैः।
यदि न दृक्सलिल समभावि भो! मम मनोमणितो न झरेद्विभो! ।।

भो। विभो। (त्वम्) सितशीतसुधाकरै स्वगतशुद्धगुणै करैः च सदा शशी असि । यदि न (असि तर्हि) मम मनोमणित. समभावि दृक्सलिलं न झरेत्।

असीति-**भो।विभो! हे स्वामिन्! त्वं सितशीतसुधाकरैः सिता समुज्ज्वला शीता शान्तिदायिनी च या सुधा पीयूषं तस्या आकरैः खनिभिः,स्वगतशुद्धगुणैः स्वगता आत्मस्थिता ये शुद्धगुणा निर्दोषगुणास्तै. ।च समुच्चयार्थः। एतद्रूपैः करैः किरणैः सदा शशी चन्द्रोऽसि यदि न यद्येवं न, तर्हि मम स्तोतुः मनोमणितः मन एव मणिश्चंद्रकांतस्तस्मात्, समभावि सद्यः समुत्पद्यमानं दृक्सलिलं दृगेव सलिलमिति दृक्सलिलंसम्यग्दर्शननीरं हर्षाश्रु वा न झरेत् न निःश्च्योतेत् । यथा चंद्ररश्मिभिश्चंद्रकांतमणितो जलं निःश्च्योतति तथा तव दर्शनान्मम मनोमणितः सम्यग्दर्शनसलिलं प्रकटीभवति,त्वां दृष्ट्वा मम हर्षाश्रूणि पतन्तीति वा।।२३।।**

अर्थ-हे विभो! आप उज्ज्वल-शान्तिदायी सुधा के खान स्वकीय शुद्धगुणरूप किरणों से सदा चद्रमारूप है। यदि ऐसा नहीं है तो मेरे मनरूपी चद्रकान्तमणि से तत्काल सम्यग्दर्शनरूप जल न झरता।

भावार्थ-जिस प्रकार चद्रकिरणो का स्पर्श होने पर चद्रकांत मणि से पानी झरने लगता है, उसी प्रकार आपका ध्यान आने से मेरे मन में सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है।।२३।।

[२४]

विमदवञ्चितविश्वमकं पते! सुमन एति न भूभृदकंप! ते।
निजपदं ह्यय एव विभावत-, स्त्यजति नो कनक भुवि भावतः।।

हे पते! भूभृदकप! त सुमन अकम् न एति। विमदवंचितविश्व म् तु (एति) (उचितमेव) अय एव विभावत निजपदम् त्यजति (किन्तु) भुवि कनक (निजपदम्) नो (त्यजति)।

विमदेति- हे **पते!** हे **स्वामिन्!** हे **भूभृदकप! भूभृद इवाकम्पस्तन सम्बुद्धौ सुदृढधैर्यशालिन्!** इति यावत्। **ते तव सुमन शोभनहृदय विषयाशाच्युतचित्त। अक पाप 'अक दुखाघयो' इति विश्वलोचन। न एति न प्राप्नोति। किंतु विमदवञ्चितविश्व विविधैर्मदैर्वञ्चित प्रतारित यद् विश्व जगत् तत् अक पाप एति। हि यत विभावतो विरुद्धपरिणमनात् अय एव लोह एव निजपद स्वस्थान त्यजति मुञ्चति। भुवि पृथिव्या कनक स्वर्णं भावत स्वरूपस्थैर्यात् नो त्यजति नो मुञ्चति। यथा लोह पङ्कपतितो विकार प्राप्नोति तथा स्वर्णं न प्राप्नोति। यथा विषयानुरक्त जगद् विकृति याति तथा भवच्चित्त पर्वतवन्निश्चलत्वाद्विकृति न यातीति भाव।।२४।।**

अर्थ-हे पर्वत के समान अकम्प रहने वाले प्रभो! आपका प्रशस्त हृदय अक - पाप को नहीं प्राप्त होता किंतु विविध प्रकार के मदो से प्रसारित जगत् अक को प्राप्त होता है। यह उचित ही है क्योंकि पृथिवी पर विरुद्ध परिणमन के कारण लोहा ही अपने स्वभाव को छोडता है, स्वर्ण नहीं।

भावार्थ-पृथिवी पर स्पष्ट देखा जाता है कि कीचड के संग से लोहा ही अपने स्वभाव को छोडता है, स्वर्ण नहीं। इसी प्रकार जगत् के अन्य जीवों का मन विकृति को प्राप्त होता है, वैराग्यभाव से सहित आपका मन नहीं। आप सुदृढचित्त जो हैं।।२४।।

असि शुचिश्च शशीव सुकेवली, गमित इत्यपि नो कुधियाऽबली।
असित एव शशी कुदृशा सितः, सदय!यद्यपि यः सुदृशा शितः ।।

हे सदय! शशी इव शुचि सुकेवली च असि (तथापि) कुधिया अपि नो इति गमित (किन्तु) अबली (गमित) यद्यपि य शशी सुदृशा शित. (ज्ञात) (तथापि) कुदृशा असित एव सित.।

असीति- **हे सदय! दयया सहितः सदयस्तत्सम्बुद्धौ, हे सकृप! यद्यपि त्वं शशीव चन्द्र इव शुचिर्निर्मल सुकेवली शोभनकेवलज्ञानयुक्तः। असि वर्तसे। तथापि कुधिया मिथ्याज्ञानयुक्तेन जनेन तथा न गमितो न स्वीकृत.। अपि तु अबली न बली अबली अनन्तबलरहित इति गमित स्वीकृत। तदेवोदाहरति - यद्यपि कुदृशा विकृतदृष्टियुक्तेन जनेन शशी चन्द्रः असितो न सितोऽसितः श्वेतवर्णरहितः सितो ज्ञातः 'सित श्वेतसमाप्तयोः त्रिषु ज्ञातेऽपि बद्धेऽपि' इति विश्वलोचनः। तथापि सुदृशा निर्विकृतिदृष्टियुक्तेन शित शुक्लः एव सितो ज्ञातः 'शित कृष्णे सिते भूर्जे' इति विश्वलोचन। यथा विकृतलोचनो जनश्चन्द्रं विकृतं पश्यति तथा मिथ्यादृष्टिर्जनो भवन्तं विकृत पश्यति, यथा च सुलोचनश्चन्द्रं यथार्थं पश्यति तथा सम्यग्दृष्टिरपि भवन्तं यथार्थं पश्यति श्रद्दधातीति भाव ।।२५।।**

अर्थ - हे कृपालु जिनेन्द्र! यद्यपि आप चन्द्रमा के समान उज्ज्वल और उत्तम केवलज्ञान से युक्त है तथापि कुबुद्धिजन आपको वैसा नहीं मानते। वह आपको अबली –बलहीन मानते है। उचित ही है, क्योकि विकृत नेत्रवाला–पीलिया रोगवाला मनुष्य चन्द्रमा को असित – पीला जानता है, परन्तु निर्विकार नेत्रवाला मनुष्य चन्द्रमा को सित –शुक्ल ही जानता है ।।२५।।

[२६]

मतिरियं भवता मयि भाविता, रुचिमतो भवतीह विभाविता ।
जगदिदं क्षणिकं नहि रोचते, गुरुमुखं प्रविहाय गुरो! च ते ।।

हे गुरो! मयि इय मति भवता अत इह भवति विभौ च रुचिम् (सा) इता (अत) ते गुरुमुखम् प्रविहाय इदम् क्षणिकम् जगत् च नहि रोचते।

मतिरिति - **हे गुरो! हे श्रेष्ठ! मयि स्तोतरि विद्यमाना इयं मतिर्बुद्धिर्यस्मात् कारणात् भवता जगदुद्धारकेण त्वया भाविता सुसंस्कारिता अतोऽस्मात्कारणात् इह जगति विभौ प्रभुत्वगुणसयुक्त्वे त्वयि रुचि श्रद्धां प्रीतिं वा इता प्राप्ता। च किञ्च ते तव गुरुमुख श्रेष्ठमुखं प्रविहाय त्यक्त्वा इदमेतत् क्षणिकं भङ्गुरं जगत् न हि रोचते रुचिकरं नास्ति मह्यमिति शेष। 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्वः ।।२६।।**

अर्थ - हे गुरुदेव! मुझमे विद्यमान यह बुद्धि यतश्च आपके द्वारा सुसंस्कारित है अत इस जगत् मे एक आप मे ही श्रद्धा को प्राप्त हुई है। अब मुझे आपके श्रेष्ठतममुख को छोडकर यह नश्वर संसार अच्छा नहीं लगता।

भावार्थ - ससार के नश्वर भोग तभी तक अच्छे लगते है जब कि आप की श्रद्धा नहीं होती। यतश्च मेरी बुद्धि एक आप मे ही संलग्न है अतः यह नश्वर जगत् मुझे रुचिकर नहीं है ।।२६।।

[२७]

सति हृदि त्वयि मेऽत्र विरागता, समुदिता गुणतामितरा गता ।
पयसि चेत् सुमणौ न पयोऽङ्ग ! तद्रुणतां किमु याति नियोगतः ।।

हे विभो! अत्र मे हृदि त्वयि सति विरागता समुदिता इतरा (रागता) गुणता (इता) गता। चेत् सुमणौ पयसि (तदा) तत् पय. अरुणताम् किमु नियोगत न याति (यात्येव)।

सतीति - **अङ्ग! हे प्रभो! अत्रास्मिन् मे मम स्तोतुः हृदि हृदये 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मन' इत्यमरः। त्वयि भवति सति विद्यमाने विरागता विरक्ति रागाभावतेत्यर्थ समुदिता समुत्पन्ना इतरा सरागता गुणतामप्रधानतां गता प्राप्ता 'गुणो रूपादिसत्त्वादिबिम्बादिहरितादिषु। सूदे ऽ प्रधाने सन्ध्यादौ रज्जौ मौर्व्यां वृकोदरे।' इति विश्वलोचनः। तदेवोदाहरति - चेद्यदि पयसि दुग्धे सुमणौ पद्मरागमणौ सति विद्यमाने तत्पयो दुग्ध उ वितर्के नियोगतो नियमेन किं अरुणतां रक्ततां न याति प्राप्नोति यात्येवेत्यर्थ। पयसि पद्मरागमणौ सत्येवारुणता तिष्ठति तदभावे च पलायते यथा, तथा मम हृदये त्वयि सत्येव विरागता तिष्ठति त्वदभावे च पलायते। त्वद्ध्यानमेव विरागताकारणमित्यर्थ. ।।२७।।**

अर्थ - मेरे इस हृदय मे आपके विद्यमान रहते हुये विरागता – वीतरागता प्रकट रहती है इससे भिन्न सरागता – अप्रधानता को प्राप्त हो नष्ट हो जाती है। ठीक ही है, यदि दूध मे पद्मरागमणि रहता है तो वह दूध क्या नियम से लालिमा को प्राप्त नहीं हो जाता? अवश्य हो जाता है ।।२७।।

[२८]

विगतरागतया स्वमहिंसया, शिवमितोऽसि जगन्नहि हिंसया ।
उचितमेव सदोचितसाधनं, भुवि ददाति शुभं सहसा धनम् ।।

हे जिन! विगतरागतया अहिंसया शिवम् स्वम् इत असि। हिंसया तु जगत् (नहि) (शिवम् इतम्)

उचितमेव सदा भुवि उचितसाधनम् शुभ धन सहसा ददाति।।

विगतेति - **हे भगवन्! त्वं विगतरागतया वीतरागपरिणतिरूपया अहिंसया त्वं स्वकीयं शिवं सुखं मोक्षं वा 'शिवं मोक्षे सुखे जले' इति विश्वलोचनः। 'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसा तु। तेषामेवोत्पत्तेर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।' इत्युक्तेर्विरागपरिणतेरहिंसात्वं सिद्धम्। जगत् लोकस्थितो जनो हिंसया सरागपरिणामेन शिवं मोक्षं सुखं वा नेतं न प्राप्तम्। उचितमेव युक्तमेवैतत् यत् भुवि पृथिव्यां उचितसाधनं योग्यनिमित्तं सदा सर्वदा सहसा झटिति शुभमिष्टं धनं वित्तं ददाति वितरति। वीतरागपरिणतिरेव मोक्षस्य सुखस्य वा कारणं, सरागपरिणतिः संसारस्य दुःखस्य वा कारणमित्यर्थः ।।२८।।**

अर्थ - हे भगवन्! आप वीतरागतारूप अहिंसा से शिव – मोक्ष अथवा सुख को प्राप्त हुए है। इसके विपरीत सरागता रूप हिंसा से जगत् शिव – मोक्ष अथवा सुख को प्राप्त नहीं हो रहा है। यह उचित ही है कि पृथिवी पर योग्य साधन ही सदा इष्ट धन को शीघ्र देता है, अयोग्य साधन नही।

भावार्थ - वीतरागपरिणति सुख का और सरागपरिणति दुःख का कारण है।।२८।।

[२९]

अनुदिनं त्वयि यो रमतेऽञ्जसा, भवति ते स समः समतेजसा ।
वपुरदोऽपि जडं परमं भवेन्ननु तदा चिदियं न भवेद् भवे ।।

हे भगवन्! त्वयि यः अनुदिन रमते स अजसा समतेजसा (साकं) ते सम भवति। भवे अदः जडं अपि वपु परम भवेत् (तदा) इय चित् ननु न भवेत् (भवेदित्यर्थ)।

अनुदिनमिति - **हे भगवन्! यो जनः अनुदिनं प्रत्यहं शश्वदित्यर्थः त्वयि भवति अञ्जसा याथार्थ्येन रमते रमणं करोति त्वत्स्वरूपं ध्यायतीत्यर्थः स जनः समतेजसा मया लक्ष्म्या सहित समं, समं च तत्तेज इति समतेजः तेनानन्तचतुष्टयलक्ष्मीविलसितप्रभावेण ते तव समः सदृशो भवति। उचितमेवैतत् – यदा जडं ज्ञानरहितं अदस्तत् वपुरपि शरीरमपि परमं परमौदारिकत्वेन श्रेष्ठं भवेत् तदा भवे लोके इयमेषा चित् चेतना परमा न भवेत्? अपि तु भवेदेव। काकुप्रयोगः ।।२९।।**

अर्थ - हे भगवन्! जो मनुष्य प्रतिदिन आप मे रमण करता है – आपके ध्यान मे लीन रहता है वह अनन्तचतुष्टयरूपलक्ष्मी से युक्त तेज से आपके समान हो जाता है। उचित ही है, कि जब वह अचेतन शरीर भी आपके सम्पर्क से परम–श्रेष्ठ परमौदारिक बन जाता है तब यह ज्ञानदर्शन सम्पन्न जीव क्या आपके समान नहीं हो सकेगा? अवश्य हो सकेगा ।।२९।।

[३०]

गुणगणैर्गुरुभिश्च समानत, स्वचितये समगोऽसि समानतः ।
स निजमात्र इवावनये नगः,कुसुमपत्रफलैश्च नयेऽनघ ।।

नये अनघ, स नग अवनये निजमात्रे कुसुमपत्रफलै च समानत इव हे! देव! स्वचितये गुरुभि गुणगणै समानत असि। समानत (हेतौ) समग (असि)।

गुणगणैरिति - **नये नीतौ 'नयो द्यूतान्तरे नीतौ' इति विश्वलोचनः। अनघो निर्दोष स प्रसिद्धो नगो वृक्षो। इव यथा। कुसुमपत्रफलै कुसुमानि च पत्राणि च फलानि च तै निजमात्रे स्वजनन्यै अवनये पृथिव्यै समानत सम्यक्प्रकारेण समानतो भवति नम्रो जायते तथा गुरुभिर्दुर्भरै गुणगणै सम्यग्ज्ञानादिगुणसमूहै त्व स्वचितये स्वचितिस्तस्यै स्वकीयचेतनायै समानतोऽसि। इत्थ समानत सदृशत्वात् हेतो समगोऽसि सम सादृश्यं गच्छतीति तथासि। यथा लोकव्यवहारनिपुणो वृक्ष कुसुमपत्रफलनिचयैर्नम्रीभूत सन् स्वजनदात्रीं धरा प्रणमतीव तथा दुर्भरै ज्ञानादिगुणगणै संगतस्त्व गुणगणजन्मदात्रीं स्वकीया चेतना प्रणमसीति भाव ।।३०।।**

अर्थ - हे भगवन्! जिस प्रकार नीति का निर्दोष पालन करने वाला वृक्ष पुष्प, पत्र और फलों से विनत हो अपनी जननी तुल्य पृथिवी के लिए प्रणाम करता है। उसी प्रकार आप भारी गुणसमूह से सगत आप गुणसमूह को उत्पन्न करने वाली स्वकीय चेतना को प्रणाम करते से जान पडते हैं ।।३०।।

[३१]

नहि रुचिस्तव तां प्रति कांचनप्रकृतभूति मितोऽपि च काचन।
गणधरैशमिन स्तव गीयते, न गरिमा ममका तनुगीर्यते! ।।

हे यते! काञ्चनप्रकृतभूतिम् इत अपि तव ताम् प्रति काचन रुचि नहि (अस्ति)। तव शमिन. गरिमा गुणधरै (अपि) न गीयते (तदा) मम तनुगी का।

नहीति - **हे यते! काञ्चनप्रकृतभूति काञ्चनेन स्वर्णेन प्रकृता प्रकर्षेण कृता रचिता या भूति छत्रत्रयसिंहासनादिसपद 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः। इत एति गच्छति प्राप्नोतीति इत् तस्य 'इण्धातो क्विबन्तप्रयोगः प्राप्नुवतोऽपि तव भवतस्तां प्रति काचन कापि रुचि प्रीति नहि वर्तत इति शेष। किञ्च, शमिनः प्रशमगुणोपेतस्य गरिमा गुरोर्भावो गरिमा गुरुता महत्त्वमिति यावत् गणधरैश्चतुर्ज्ञानधारिभि गणेन्द्रैरपि न गीयते न गातु शक्यते यदा, तदा मम स्तोतु तनुगी अल्पबुद्धि का किंनामधेया?।।३१।।**

अर्थ - हे मुनीन्द्र! स्वर्णनिर्मित छत्रत्रयादि वैभव को प्राप्त होने पर भी आपकी उस ओर रुचि – प्रीति नहीं है। तथा अत्यन्त शान्त रहने वाले आपकी गरिमा – महिमा गणधरो द्वारा भी जब नहीं गायी जाती है तब मेरी अल्पवाणी क्या है? कुछ नहीं।।३१।।

[३२]

विशदविद्वनिता त्वयि तेऽज! सा, समनुभाति सदाव्ययतेजसा ।
शशिनि शीतकरैर्निशि वामतः, शशिकलैवमलं व्ययवामतः ।।

हे अज! ते सा विशदविद्वनिता त्वयि सदा अव्ययतेजसा समनुभाति। (किन्तु) शशिनि शीतकरै: निशि वामत व्ययवामत शशिकला एव अलम्?

विशदेत्यादि - **हे अज! न जायत इति अज तत्सम्बुद्धौ। हे जन्मातीत! भगवन्! ते तव सा प्रसिद्धा विशदविद्वनिता विशदा व्यक्ता या विद् ज्ञानं सैव वनिता रमणी केवलज्ञानरमणी त्वयि भवति सदा शश्वत् अव्ययतेजसा अविनश्वरप्रतापेन समनुभाति विशोभते। किन्तु निशि नक्त शीतकरै शीतरश्मिभि उपलक्षिते इति शेष। शशिनि चन्द्रमसि शशिकला चन्द्रकला वामत मेघात् मेघेनाच्छादितत्वादिति यावत् व्ययवामतो व्ययो विनाशस्तेन वामत कौटिल्यात् अथवा विशिष्टोऽय शुभावहो विधिस्तस्य वामत वैपरीत्यात् हेतो एव केवलज्ञानरमणीवत् अलं नह्यस्ति। निषेधार्थेऽव्यय। 'विषदविद्वनिता' इति पाठे विष संसारपरिभ्रमणरूपं गरलं द्यति खण्डयतीति विषदा सा चासौ विच्चेति विषदविद् सैव वनिता रमणी केवलज्ञानलक्ष्मीरित्यर्थो योज्य। 'वाम सव्ये हरे कामे धने वित्ते तु न द्वयो' इति विश्वलोचन। 'अय शुभावहोविधि' इत्यमर।।३२।।**

अर्थ - हे अज! जन्मातीत जिनेन्द्र! आपकी वह प्रसिद्ध केवलज्ञानरूपी रमणी आप मे अपने अविनाशी तेज से सदा सुशोभित रहती है। परन्तु रात्रि के समय शीत रश्मियो से उपलक्षित चन्द्रमा मे चन्द्रकला ऐसी नहीं है, क्योकि वह वाम – मेघ मे आच्छादित हो जाती है और भङ्गुर – नश्वर होने से वाम – कुटिलरूप भी है।।३२।।

[३३]

मुदमुपैमि मुनिर्मुनिभावतो, मुखमुदीक्ष्य विभो! सुविभावत ।
जलभृतं जलदं जलदाध्वनि, किल शिखीव गतं सुगुरुध्वनिम् ।।

हे गुरो! विभो! जलदाध्वनि सुगुरुध्वनिम् गतम् जलभृतम् किल शिखी इव उदीक्ष्य सुविभावत मुखम् (अहम्) मुनि मुनिभावत (उदीक्ष्य) मुदम् उपैमि।

'विषदविद्वनिता' इति पाठ।

मुदमिति - हे विभो! हे स्वामिन्! जलदाध्वनि जलदानां मेघानामध्वा मार्गस्तस्मिन् आकाशे सुगुरुध्वनिं सुगुरुश्चासौ ध्वनिश्च तं विपुलगर्जनं गतं प्राप्तं गर्जन्तमिति यावत् जलभृतं पयपूर्णं जलद मेघम्। उदीक्ष्य उन्मुख सन् वीक्ष्य शिखीव मयूर इव मुनिः स्तोताहमित्यर्थ। मुनिभावतो मुनेरिव भावो मुनिभावस्तस्मात् सुविभावतः शोभना विभा दीप्तिरिति सुविभा सा विद्यते यस्य स सुविभावान् तस्य सुदीप्तिमतस्तव मुखं वदनं उदीक्ष्य विलोक्य मुद हर्षं उपैमि प्राप्नोमि। किलेति वाक्यालङ्कारे ।।३३।।

अर्थ - हे विभो! आकाश मे गरजते जलभरे मेघ को देखकर जिस प्रकार मयूर प्रमोद को प्राप्त होता है उसी प्रकार स्तुति करने वाला मै, मुनि जैसे पवित्रभाव से उत्तमदीप्ति से युक्त आपका मुख देखकर प्रमोद को प्राप्त हो रहा हूँ।।३३।।

[३४]

विभुरसीह सताम् जिनसगत, पृथगसीश सुखीति च संगत ।
ननु तथापि मुनिस्तव संगत, सुखमहं स्मय एष हि सगत ।।

हे ईश! जिन! इह सगत (सर्वगतत्वात्) सताम् विभु असि। सगत पृथक् इति सुखी असि च। तथापि एष स्मय हि अहम् मुनि तव सगत ननु सुखम् सगत ।

विभुरिति - हे ईश! हे जिन! इह जगति सगत. समन्ताद् गत सगतो ज्ञानेन लोकालोकव्यापकत्वात् त्वं सतां सत्पुरुषाणां विभु प्रभु असि वर्तसे। संगत परिग्रहत परजनससर्गाद् वा पृथक् असि। इति हेतो सुखी चासि। तथापि एष स्मय आश्चर्यं यदह मुनि स्तोता तव भवत सगत सगात् सपर्कादिति यावत्। ननु निश्चयेन सुखमात्मोत्थसात सगत सम्यक्प्रकारेण प्राप्त। हि पादपूर्तौ ।।३४।।

अर्थ - हे ईश! हे जिन! इस जगत् मे ज्ञान की अपेक्षा लोकालोक मे व्याप्त होने से आप सत्पुरुषो के स्वामी है। सगत - परिग्रह अथवा परजनसंपर्क से पृथक् है। अत सुखी है। यद्यपि सग से पृथक् होने के कारण आप सुखी है, तथापि आपके सग से मै मुनि आत्मसुख को प्राप्त हुआ हूँ। यह आश्चर्य है ।।३४।।

[३५]

लसति भानुरयं जिनदास! खे, नयति तापमिदं च सदा सखे!
जितरविर्महसा सुखहेतुकम्, उरसि मेऽस्ति तथात्र न हेतुकम् ।।

हे सखे! जिन दास! खे अय भानु. लसति सदा तापम् इदम् (जगति च) नयति। (किन्तु) अत्र मे उरसि महसा जितरवि सुखहेतुक अस्ति। तथा तुकम् (मां बालम्) (तापम्) न नयति।

लसतीति - **स्तोता मुनिरन्यश्रमणं सम्बोधयितुमाह -- हे सखे! अये सुहृद्! जिनदास! जिनसेवक! खे गगने अयं दृश्यमानो भानुरादित्यो लसति शोभते किञ्च, इदमेतत् जगदिति शेषः, तापं संतापं नयति प्रापयति किन्तु अत्र मे ममोरसि मामकीने हृदये महसा तेजसा जितरविं जितो न्यक्कृतो रविरादित्यो येन स आदित्यादपि तेजस्वी जिनो जिनेन्द्रः सुखहेतुकं सुखनिमित्तं यथास्यात्तथा अस्ति विद्यते किन्तु तुकं बालं मां भानुवत् तापकरो नास्ति। भानुस्तापकरो जिनस्तु तथा नेति व्यतिरेकः ।।३५।।**

अर्थ - हे मित्र! हे जिनसेवक! आकाश मे जो यह सूर्य सुशोभित हो रहा है वह इस जगत् को संताप प्राप्त कराता है। परन्तु तेज से सूर्य को जीतने वाले जिनेन्द्र, सुख के हेतु हो मेरे इस हृदय मे विद्यमान है फिर भी सूर्यसदृश आप मुझ बालक को संताप नहीं करते।

भावार्थ - आकाश मे रहने वाला सूर्य दूरवर्ती होकर भी ससार को संतप्त करता है। परन्तु सूर्य से भी अधिक प्रतापी और हृदयनिवासी होने पर भी जिनेन्द्र सतापकारी न होकर सुख के कारण है। इस तरह सूर्य और जिनेन्द्र मे अत्यधिक विशेषता है ।।३५।।

[३६]

सुरनगः सुरगौः सुरवैभवं, सुरपुरे वितनोति च वै भवम् ।
भवविमुक्तिसुखं फलमेव च, स्तवनतस्तव साध्विति मे वचः ।।

हे ईश! सुरपुरे सुरनग सुरगौ च सुरवैभवम् वै भवम् च वितनोति। (किन्तु) तव स्तवनत भवविमुक्तिसुखम् फलम् एव इति मे साधु वच ।

सुरनग इति - **हे ईश! सुरपुरे स्वर्गे सुरनगः कल्पवृक्षः सुरगौः सुरभि कामधेनुरिति यावत् सुरवैभवं च देवैश्वर्यं च यद् विद्यते तत्सर्वं वै निश्चयेन भव संसारं वितनोति विस्तारयति। किन्तु तव भवत स्तवनतः स्तोत्रात् भवविमुक्तिसुखं भवात् संसारात् या विमुक्तिस्तदेव सुखं फलमेवं प्राप्यते। इतीत्थं मे मम स्तोतुः साधु समीचीनं वचः कथनम्। तव स्तवनस्य फलं मोक्ष एवेति भावः ।।३६।।**

अर्थ - हे भगवन्! स्वर्ग मे जो कल्पवृक्ष, कामधेनु और देवो का ऐश्वर्य है वह निश्चय से ससार को विस्तृत करता है। परन्तु आपके स्तवन से मुक्तिसुखरूपी फल ही प्राप्त होता है, ऐसा मेरा कहना है ।।३६।।

[३७]

सरसि ते स्तवने मम साधुता, शुचिमिता स्नपिता सहसा धुता ।
भुवि विभो! यदिदं मम चेतनं, स्तवनभाग्घि सतां द्युतिकेतनम् ।।

हे विभो! ते स्तवने सरसि मम साधुता शुचिम् इता स्नपिता सहसा धुता (च) भुवि यत् (यस्मात्) इदम् मम चेतनम् द्युतिकेतनम् सताम् स्तवनभाक् हि (भूत) ।

सरसीति - **हे विभो! हे नाथ! ते तव स्तवने सरसि स्तवनसरोवर इति यावत् मम स्तोतु साधुता साधोर्भाव साधुता श्रमणता शुचि पवित्रता इता प्राप्ता, स्नपिता कृतस्नाना सहसा झटिति धुता प्रक्षालिता। भवत्स्तवनं विधाय मे श्रमणता पवित्रता जातेति भाव। भुवि पृथिव्या यत् यस्मात्कारणात् इद मम स्तोतु चेतन द्युति–केतन केवलज्ञानाधारभूत तस्मात् हि निश्चयेन सता साधूना स्तवनभाग् स्तुतिपात्र भूत जात वा ।।३७।।**

अर्थ - हे प्रभो! आपके स्तवनरूप सरोवर मे मेरी श्रमणता – मेरी साधुवृत्ति पवित्रता को प्राप्त है, नहलायी गई है और शीघ्र ही धुल चुकी है– उज्ज्वल हो चुकी है। यतश्च मेरा यह चैतन्यभाव केवलज्ञानरूप ज्योति का घर है, अत निश्चय से सत्पुरुषो के स्तवन को प्राप्त हुआ है।

भावार्थ - वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र के स्तवन से ज्ञान मे इतनी पवित्रता आती है– वीतरागता आती है कि वह ज्ञान केवलज्ञान रूप हो जाता है और तब वह गणधरादि सत्पुरुषो के स्तवन का आधार बन जाता है ।।३७।।

[३८]

असि सदात्मनि वेति मुनीरत, परम शीतलको हिमनीरत ।
अनलतो निजता प्रविहायतद्दहति नाज विधेर्विधिहा यत ।।

हे अज! (त्वम्) सदा आत्मनि रत असि वा (निश्चयेन) इति मुनि (असि) हिमनीरत परम शीतलक (असि) तत् (नीरम्) अनलत निजतां प्रविहाय दहति (किन्तु त्वं) यत विधिहा विधे (कर्मण) न (दहसि)।

असीति - **हे अज! जन्मातीत! त्व सदा शश्वत् आत्मनि स्वस्वरूपे रतो लीन।असि वाथवा इति हेतोरात्मनिरतत्वादित्यर्थ मुनिरसि ज्ञानविज्ञानसंपन्नोऽसि हिमनीरत: तुहिनजलात् परमशीतलोऽतिशीतलोऽसि स्वार्थे क। अथवा परमशीतल क आत्मा यस्य तथाभूतोऽसि। तद जल अनलतोऽग्ने निजता स्वकीयशीतलस्वभावता प्रविहाय त्यक्त्वा दहति दाह करोति। यत. कारणात् त्वं विधिहा विधि कर्म हन्तीति विधिहा असि अतस्त्व विधे कर्मणो न दहसि ।।३८।।**

अर्थ - हे अज! हे जन्मातीतजिनेन्द्र! आप सदा आत्मस्वरूप मे रत–लीन हो अथवा निश्चय से मुनि हो। बर्फ के पानी से अत्यधिक शीतल हो। वह पानी अग्नि से

स्वस्वरूप को – निजीशीतलता को छोड़कर जलाने लगता है, परन्तु आप विधिहा–कर्म को नष्ट करने वाले होने से कर्म से जलते-जलाते नहीं हो।

भावार्थ - कर्मरूप पुद्गल, अपना प्रभाव रागी-द्वेषी जीवो पर ही डालते है, वीतराग पर नहीं ।।३८।।

[३९]

सुरमणी प्रथमा प्रगुणावलिः, तव परा च शुचिः सुगुणावलिः ।
विरमतीव रतिश्च सति त्वयि, त्रिभुवनप्रगताऽपि सती त्वयि! ।।

अयि देव! तव प्रथमा प्रगुणावलि सुरमणी परा च शुचि सुगुणावलि (किन्तु) त्वयि सति रति इव (प्रथमा) विरमति (परन्तु) त्रिभुवनप्रगता अपि सती (विरोध.) ।

सुरमणीति - **अयि देव! प्रगुणावलि प्रकृष्टगुणानां श्रेष्ठगुणानामावलिः पङ्क्तिस्तव भवत प्रथमैका सुरमणी शोभना रमणी सुरूपणी श्रेष्ठभार्या। अस्तीति शेष। शुचि समुज्ज्वला सुगुणावलि कीर्तिश्च तव परा द्वितीया भार्यास्ति। अनयोराद्या रतिरिव सति प्रशस्ते त्वयि भवति विरमति विशेषेण रमते तु किन्तु द्वितीया त्रिभुवनप्रगतापि जगत्त्रयगामिन्यपि सती पतिव्रतेति विरोध ।।३९।।**

अर्थ - अये देव! उत्तमगुणावली आपकी प्रथम सुभार्या है और उज्ज्वलकीर्ति द्वितीय सुभार्या है। इनमे प्रथम सुभार्या तो रति की तरह एक आप मे ही विशेषरूप से रमती है, परन्तु द्वितीय सुभार्या त्रिभुवन मे जा कर भी सती है। यह कैसा विरोध है? ।।३९।।

[४०]

परिचयात् तव यत्त्वयि मे मनो, विशति शामितवामवमे! मनो!।
सुरनरै र्मुनिभि र्यशसामिते, नदपतौ नदवत् सहसाऽमिते ।।

हे शामितवामवमे! मनो! तव परिचयात् सुरनरै मुनिभि यशसाम् इते त्वयि मे यत् मन सहसा अमिते नदपतौ नदवत् विशति।

परिचयादिति - **हे शामितवामवमे! वाम. काम एव वमिरग्निर्वामवमि शामितो विध्यापितो वामवमिर्येन तत्सम्बुद्धौ। 'वाम सव्ये हरे कामे' 'वमिः स्यात्पावके पुंसि' इति च विश्वलोचन। हे मनो! हे भगवन्! तव परिचयात् परिचयकारणात् सुरनरैर्देवमनुष्यै मुनिभिर्यतिभि यशसा कीर्तीनाम् इते प्रापिते त्वयि मे स्तोतुर्मनो हृदयं सहसा झटिति अमिते सुविस्तृते नदपतौ सागरे नदवत् महानदीव विशति प्रविशति मम मनो यत् त्वयि विशति तत् तव परिचयादेव विशति। सततं तव गुणचिन्तनं हि परिचय.।।४०।।**

अर्थ - हे कामाग्नि को शान्त करने वाले भगवन्! देव, मनुष्य और मुनियो के द्वारा यश को प्राप्त आप मे, असीम समुद्र मे नदी के समान जो मेरा मन प्रविष्ट हो रहा है वह आपके परिचय – सतत गुणचितन से हो रहा है ।।४०।।

[४१]

विकचकंजजयक्षमनेत्रकं, करुणकेसरक भुवनेऽत्र कम् ।
मम सुदृक् सततं सहसेव ते, सरसिजं भ्रमरोऽप्यनुसेवते ।।

हे! भुवनेश्वर! अत्र भुवने ते करुण–केसर–क क विकचकजजयक्षमनेत्रकम् मम सुदृक् अपि सहसा सरसिजम् भ्रमर इव अनुसेवते।

विकचेति - **हे भुवनेश्वर! अत्र भुवने लोकेऽस्मिन् विकचकजजयक्षमनेत्रकं विकचं विकसित यत्कजं कमल तस्य जये क्षमे शक्ते नेत्रे नयने यस्मिन् तत्। करुणकेसरकं करुणस्य वृक्षस्य केसर इव केसरो यस्मिंस्तत्। 'करुणस्तु रसे वृक्षे' इति विश्वलोचनः। ते तव क मस्तक मुखमिति यावत्। मम स्तोतुः सुदृक् सुदृष्टिरपि भ्रमर षट्पद सरसिजमिव कमलमिव सहसा झटिति सतत शाश्वत् अनुसेवते निरन्तर भूयो वा सेवते पश्यतीत्यर्थ. ।।४१।।**

अर्थ - जिसके नेत्र प्रफुल्ल कमल को जीतने मे समर्थ है तथा जिस पर वृक्ष की केसर के समान केशर सुशोभित है, ऐसे आपके मुख को इस जगत् मे मेरी दृष्टि भी निरन्तर सहसा उस तरह सेवित करती है, जिस तरह भ्रमर कमल को सेवित करता है।

भावार्थ - जिस प्रकार भ्रमर कमल की सेवा करता है, बार-बार उस पर बैठता है, उसी प्रकार मेरी दृष्टि भी आपके मुख की सेवा करती है – बार-बार उसे ही निहारती है ।।४१।।

[४२]

विषयसक्तखसामजकन्दरः, कुमदतापितविश्वककन्धरः ।
विधिवनानलकोसि भयकरो, भयवते जगते ह्यभयङ्करः ।।

हे भगवन्! भयवते जगते अभयङ्कर असि। विषयसक्तखसामजकन्दर असि कुमदतापितविश्वककन्धर (असि) भयङ्करःविधिवनानलक (असि)।

विषयेति - **हे भगवन्! त्व विषयसक्तखसामजकन्दरः विषयेषु रूपादिषु सक्तानि यानि खानीन्द्रियाणि तान्येव सामजा गजास्तेषां कन्दरोऽङ्कुशः असि। 'अङ्कुशे पुंसि**

कन्दरः' इति विश्वलोचन। कुमदतापितविश्वककन्धरः कुमदेन कुत्सिताहङ्कारेण तापितं यद् विश्वकं भुवनं तस्य कन्धरो जलदे ऽसि। 'कन्धरः पुंसि जलधरे' इति विश्वलोचन। विधिवनानलकः विधिवनं कर्मारण्यं तस्य अनलको वह्निरसि। कथंभूतः? भयङ्करो भयोत्पादक प्रचण्ड इति यावत्। भयवते भयोपेताय जगते भुवनाय हि निश्चयेन अभयङ्करोऽसि अभयप्रदातासि ।।४२।।

अर्थ - हे भगवन्! आप विषयो मे आसक्त इन्द्रियरूपी हाथियो के लिए अकुश है। खोटे मदो से संतापित जगत् के लिये मेघ है। कर्मरूपवन को भस्म करने के लिए प्रचण्ड दावानल है और भयभीत जगत् के लिये अभय प्रदान करने वाले हैं ।।४२।।

[४३]

गतगति सगतिश्च सदागति, र्मम तपोऽनलदीप्तिसदागतिः ।
भव भवोप्यभवो भवहानये, निजभवो गतमोहमहानये! ।।

हे! अये! भगवन्! गतगति सगति सदागति च असि (अत) मम तपोनलदीप्ति सदागति भव। गतमोहमहान् निजभव भव (अपि असि) (अत) मम भवहानये अभव अपि(भव)।

गतगतिरिति - अये भगवन्! त्वंगतगतिः गता नष्टा गतयो नरनारकाद्यवस्था यस्य तथाभूतोऽसि। त्व सगति गत्या ज्ञानेन सहितः सगति असि। 'गतिर्दशाया गमने ज्ञाने मर्माऽभ्युपाययो' इति विश्वलोचन। किंच सदागति सदीश्वरोऽसि। 'सदागतिर्गन्धवाहे निर्वाणेऽपि सदीश्वरे' इति विश्वलोचन। मम स्तोतुर्मुने तपोऽनलदीप्तिसदागति तप एवानलो वह्निस्तस्य दीप्तौ सदागति समीरणो वायुरिति यावत् भव। भवोऽपि श्रेयोरूपोऽपि अभवो न श्रेयोरूप इति विरोध पक्षे नास्ति भवो जन्म संसारो वा यस्य एवंभूतस्त्वं मम भवहानये भवस्य ससारस्य हानिस्तस्यै भव। अथवा त्व मम भवहानये ससारहानये अभव आसी। लड्मध्यमैकवचने भूधातुप्रयोगः। 'भवः श्रीकण्ठससारश्रेयःसत्ताप्तिजन्मसु' इति विश्वलोचनः। गतमोहमहान् गतो विनष्टो मोहो यस्य गतमोह स चासौ महानिति गतमोहमहान् गतमोहत्वान्महानिति यावत् अथवा गतमोह इति सम्बुद्ध्यन्त पृथक् पदम्। निजभवो स्वयंभूरसि।।४३।।

अर्थ - अये भगवन्! आप नरकादि गतियो से रहित हो, ज्ञान से सहित हो, ईश्वर हो, मेरी तपरूपी अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए वायु हो, कल्याणरूप होकर भी कल्याणरहित (पक्ष मे संसार से रहित) हो। अत आप मेरे संसार को नष्ट करने के लिये हो, मोह के नष्ट हो जाने से आप महान् तथा स्वयंभू हो ।।४३।।

[४४]

अघततिः सघना प्रखरामिता, तव नुतेरितिमीश!तरामिता ।
वियति पूर्णतया ह्यपि वा तत, स लय माशु घनोऽयति वाततः ।।

हे ईश! सघना प्रखरा अमिता अघतति. तव नुते तराम् इतिम् इता। वियति पूर्णतया अपि तत. स घन वातत आशु लय अयति। वा (निश्चयेन)।

अघततिरिति - हे ईश! सघना निविडा, प्रखरातितीक्ष्णा, अमिता अपरिमाणा, अघतति पापपङ्क्ति तव भवत नुतेः स्तवनात् तराम् सातिशयरूपेण इति विनाशं इता गता प्राप्ता। वियति व्योम्नि 'खं विहायो वियद्व्योमगगनाकाशमम्बर' इति धनञ्जयः। पूर्णतयापि सामस्त्येनापि ततो विस्तृत स प्रसिद्धो घनो मेघो वाततो वायो. आशु शीघ्रं वा यथा 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवार्थेऽपि समुच्चये' इत्यमरः। लयं विनाशं। अयति गच्छति। 'इटकिटकटी गतौ' इत्यत्र प्रश्लिष्टस्य भौवादिकस्य 'इ' धातो परस्मैपदप्रयोग ।।४४।।

अर्थ - हे ईश! सघन, अतितीक्ष्ण तथा अपरिमित पापपङ्क्ति आपके स्तवन से नाश को प्राप्त हो गई है। जैसे कि आकाश मे पूर्णरूप मे विस्तृत मेघ भी वायु से शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है ।।४४।।

[४५]

चरणयुग्ममिद तव मानस, सनखमौक्तिक एव विमानस!।
भृशमह विचरामि हि हसक! यदिह तत्तटके मुनिहंसक ।।

हे हंसक! हे विमानस! तव इदम् चरणयुग्मम् सनख–मौक्तिक मानस एव (अस्ति)। यत् (यस्मात्) तत्–तटके इह अह मुनिहसक हि भृश विचरामि।

चरणति- हे विमानस! विगत मानसं भावमनो यस्य तत्सम्बुद्धौ। हे हंसक! हंस एव हंसक तत्सम्बुद्धौ। हे आत्मरूप! 'हंस पक्ष्यात्मसूर्येषु' इत्यमरः। सनखमौक्तिकं नखान्येव मौक्तिकानि नखमौक्तिकानि तै सहित। इदमेतत तव भवत चरणयुग्मं पादयुगलमेव मानसो मानससरोऽस्ति। हि निश्चयेन यद् यस्मात् अह मुनिहंसको मुनिरेव हसको मुनिमराल। इहात्र तत्तटके तस्य चरणयुग्ममानससरोवरस्य तटके तीरे भृशमत्यर्थं विचरामि विहरामि ।।४५।।

अर्थ - हे विमानस! हे आत्मरूपहंस! नखरूप मोतियो से सहित आपका यह चरण युगल ही मानसरोवर है। इसीलिये तो उसके इस तट पर मै मुनिरूपी हस अत्यधिक विचरता हूँ।

भावार्थ - आपके चरणयुगल के समीप विचरण करता हू ।।४५।।

मतिरिता भवतो मम सा दरं, पदयुगे शरणे तव सादरम् ।
स्वपिति मातुरसौ सुखधातरि, शिशुरिहाङ्क इवाभयदातरि ।।

सुखधातरि अभयदातरि मातुः अङ्के असौ शिशुः इव हे शरण्य! भवतः दरम् इता सा मम मतिः तव शरणे पदयुगे सादरम् स्वपिति।

मतिरिति — **हे शरण्य! सुखधातरि सुखधारके अभयदातरि भयाभावदायके मातुर्जनन्या अङ्के क्रोडे शिशुरिव बालक इव भवतः संसारात् दरं भीतिं 'दरोऽस्त्री भीतिगर्तयोः' इति विश्वलोचनः। इता गता सा प्रसिद्धा मम स्तोतुः मतिः प्रज्ञा शरणे रक्षके 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः,तव पदयुगे चरणयुगले सादरं ससन्मानं यथा स्यात्तथा स्वपिति । भवभ्रमणाद् भीता मम मतिर्भवच्चरणयुगले विश्रान्तेति भावः।।४६।।**

अर्थ - हे शरण्य! सुखधारक एवं अभयदायक माता की गोद मे शिशु के समान मेरी बुद्धि ससार से भयभीत हो शरणभूत आपके चरणयुगल मे आदर के साथ शयन कर रही है - लीन हो रही है ।।४६।।

[४७]

स्वकमयं ह्ययि नोऽलभमानतः, किमु सुखी विकलः किल मानतः।
उपगतोऽभयमेव च दुःखत, इह भवे सहितो भवदुःखतः ।।

जिन प्रसगे- अयि न मनुज! अय (जिन.) किल मानत. विकल किमु नो सुखी। दु खत अभयम् एव च उपगत इव भवे भव दु खत असहित.। (मम प्रसगे) दुःखत. भयम् एव उपगत. इह भवे भव दु खत सहित. मानत (विज्ञानत) विकल स्वकम् अलभमानतः सन् किमु सुखी।

स्वकमिति - **जिने स्वस्मिन् च वैशिष्ट्यं प्रदर्शयति। (जिनप्रसंगे) हि निश्चयेन हे मनुज! अयं जिनः किल मानतो गर्वात् विकलो रहितः किमु नो सुखी? अपि तु सुख्येव। भवदुःखतः सांसारिकदुःखात् अभयमेव चोपगत एव भवे संसारे भवदुःखतः जन्मदुःखतः असहितो रहितः। (मम प्रसङ्गे) दुःखतो भयं एवोपगत इहभवे भवदुःखतः सहितः। मानतो विज्ञानतो विकलः स्वकम् आत्मानम् अलभमानतः सन् अयं किमु सुखी? अपि तु न। ।।४७।।**

अर्थ - (जिनदेव के प्रसङ्ग मे) हे मेरे मानव! यह जिनेन्द्रदेव मान — गर्व से रहित हैं, तो क्या सुखी नहीं है? दुःख से अभय को ही प्राप्त हुए के समान संसार मे जन्म सम्बन्धी दुःख से क्या रहित नहीं हैं? (अपने प्रसङ्ग मे) दुःख से भय को प्राप्त हुआ नव इस भव मे जन्म सम्बन्धी दु.ख से सहित है, मान — विज्ञान से रहित है फलस्वरूप आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं होता हुआ क्या सुखी है? अर्थात् नहीं है।।४७।।

[४८]

शिवपथे चरता व्रतसंगतः, प्रसमयोऽपि मया जिनसंगतः ।
ननु कियत् सदनं प्रविराजते, प्रवद दूरमितोऽप्यजराज! ते ।।

हे जिन! अजराज! व्रतसगत. मया शिवपथे चरता प्रसमयः अपि सगत. (अत.) ते सदनम् ननु इत· कियत् दूरम् प्रविराजते प्रवद।

शिवपथ इति - **हे जिन! हे अजराज! अजानां जन्मरहितानां राजा अजराजस्तत्सम्बुद्धौ। व्रतसंगतो व्रतप्राप्तेः शिवपथे मोक्षमार्गे चरता गच्छता मया प्रसमयोऽपि दीर्घकालोऽपि संगतो व्यतिगमितः। अतस्ते सदनं गृहं इतोऽपि अस्माद् भवात् कियत् दूरं प्रविराजते शोभते इति प्रवद कथय। प्राप्तव्यपुरपद्धतौ चिरं व्रजन्नपि जनो यदा स्वेष्टपुरं न प्राप्नोति तदा स पुरस्तादायातं कञ्चित्पृच्छति कियद्दूरं तत्पुरं वर्तते इति? एवं चारित्र गृहीत्वा मोक्षमार्गे चिरं चरन्नपि यदा मोक्षं न प्राप्नोति तदा स भगवन्तं पृच्छति - कियद्दूर वर्तते ते सदनमिति ।।४८।।**

अर्थ– हे जिन! हे अजराज! व्रतधारण कर मोक्षमार्ग मे विचरते हुए मैने अधिक समय व्यतीत किया है। अत निश्चय से आप कहिये कि आपका वह सदन यहाँ से कितनी दूर सुशोभित हो रहा है ।।४८।।

[४९]

अमितभा सति भाति विभावत·, परमभानुरसीश विभावत· ।
वद कथ यदि नोऽप्यमलोद्भवेन्मम तपोमणितोऽप्यनलो भवे ।।

हे ईश! अमल! विभावत (तव) अमितभा सति विभौ भाति भवे अत परमभानु असि। यदि नो मम तपोमणित अपि अनल कथ उद्भवेत् (इति) वद।।

अमितभेति - **हे ईश! हे अमल! कर्मकालुष्यरहितत्वाद्विमल! विभावत. विभा प्रभा विद्यते यस्य स विभावान् तस्य तव अमितभा अपरिमितदीप्तिः विभौ त्वयि सति विद्यमाने भाति शोभते अतस्त्व भवे लोके परमभानुः श्रेष्ठादित्योऽसि। यदि नो, त्वमादित्यो नासि चेत्तर्हि मम स्तोतु तपोमणितस्तप एव मणिः सूर्यकान्तस्तस्मादपि अनलोऽग्नि कथमुद्भवेत् उत्पद्येत? इति वद ।।४९।।**

अर्थ - हे ईश! हे अमल! विभासम्पन्न आपकी अपरिमित प्रभा आप विभु के रहते हुए ही सुशोभित होती है। अत इस जगत् मे आप उत्कृष्ट सूर्य है। यदि ऐसा नहीं है, तो मेरे तपरूपी सूर्यकान्तमणि से अग्नि क्यो प्रकट होती है? ।।४९।।

[५०]

कुरु कृपां करुणाकर!केवलं, क्षिप विदीश!विदं मयि के बलम्।
तनुचितोः प्रविधाय विभाजनं, निजमये यदरं सुखभाजनम् ।।

हे करुणाकर! विदीश!केवल कृपां कुरु मयि विदम् क्षिप, के (आत्मनि) बलं क्षिप। यत् (यस्मात्) तनुचितो विभाजनम् प्रविधाय सुखभाजनम् निजम् अरम् अये।

कुर्विति - **हे करुणाकर! दयाकर! हे विदीश! विदो ज्ञानस्येशस्तत्सम्बुद्धौ। केवलं मात्रं कृपामनुकम्पां कुरु विधेहि। मयि स्तोतरि विदं ज्ञानं क्षिप। के आत्मनि। 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु' इति विश्वलोचनः। बलं वीर्यं क्षिप स्थापय। यत् यस्मात् तनुचितो शरीरात्मनोर्विभाजनं विभागं प्रविधाय कृत्वा सुखभाजनं सुखपात्रं निजं स्वकीयमात्मानं अरं क्षिप्रं 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः। अये प्राप्नोमि ।।५०।।**

अर्थ - हे दयाकर! हे ज्ञानेश्वर! मुझ पर कृपा करो, मुझमे ज्ञान डालो और मेरी आत्मा में बल स्थापित करो। जिससे मै शरीर और आत्मा का विभागकर सुख के पात्र स्वरूप निज आत्मा को शीघ्र प्राप्त हो जाऊँ ।।५०।।

[५१]

समयशामितरागविभावसुरुपगतः स्वयमेव विभावसु ।
मयि तथापि सरागतमालये, वससि देव कथं नियमालये।।

हे देव!समयशामितरागविभावसु (असि)स्वयम् एव विभावसु (बोधघन) उपगतः (असि) तथापि मयि सरागतमालये नियमालये कथ वससि ?

समयेति-**हे देव! त्वं समयशामितरागविभावसुः समयेन संविदा शामितो विध्यापितो राग एव विभावसुरग्निर्येन स तथाभूतोऽसि । 'समयः शपथाचारकालसिद्धांतसंविदः' इत्यमरः । अथवा समयेन शामिता दूरीकृता रागो रतिरेव विभावसुर्निशा येन तथाभूतोऽसि । विभावसु विभैव वसु धनं ।'वसुतोये धने मणौ' इति कोषः । स्वयमेव स्वेनैव उपगतः प्राप्तोऽसि यद्यपि । तथापि सरागतमालये राग एव तमं ध्वान्तं रागतमं तेन सहित आलयस्तस्मिन् । 'ध्वान्तं संतमसं तमस्' इति धनंजयः । नियमालये नियंत्रणस्थाने मयि स्तोतरि कथं केन कारणेन वससि? निवासं करोषि? भवान् प्रकाशपुञ्जोऽहं च तिमिरालयः । द्वयोर्महदन्तरमस्तीति भावः ।।५१।।**

अर्थ-हे देव ! यद्यपि आप विज्ञान से रागरूपी अग्नि तथा निशा को नष्ट करने वाले हैं और आप स्वयं ही विभारूपी धन को प्राप्त हुए है, तथापि रागरूपी अंधकार के घर तथा नियमों के स्थानभूत मुझमें क्यों निवास कर रहे है । तात्पर्य यह है कि मै सराग एवं अज्ञानी होता हुआ भी आपका ध्यान करता हूँ।।५१।।

[५२]

समयते निखिलं व्यवहारतः, स्वसमये नियतं भवहा! रतः ।
सहजवृत्तिरियं हि सदा सतां, प्रवहतां जगतां न खदासताम् ।।

हे भगवन्! स्वसमये नियत रत. भवहा! (अस्ति) (अतः) निखिल व्यवहारत. समयते। सतां हि इयं सहजवृत्ति· सदा (अस्तु) खदासता प्रवहतां जगता न (अस्तु)।

समयत इति-**हे भवहा! भवं संसारं जहातीति भवहास्तत्सम्बुद्धौ। विश्वपावत् क्विबंतप्रयोगः । नियतं यथास्यात्तथा निश्चयनयेनेत्यर्थः । त्वं स्वसमये स्वात्मनि रतो लीनोऽस्तीति शेषः। व्यवहारतो व्यवहारनयात् निखिलं सर्वं लोकालोकमिति यावत् समयते जानाति। निश्चयेन भवानात्मज्ञो व्यवहारेण सर्वज्ञ इति भावः । हि यतः । इयमेषा सहजवृत्तिः स्वभावपरिणतिः सतां साधूनां सदा सर्वदास्ति । खदासतां खानामिन्द्रियाणां दासतामधीनतां 'खमिद्रियं हृषीकं च स्रोतोऽक्षं करणं विदुः' इति धनंजयः । प्रवहतां दधतां प्राप्नुवतां वा जनानां नास्तीति शेषः ।।५२।।**

अर्थ-हे भवहा! संसार का परित्याग करने वाले जिनेन्द्र! निश्चयनय से आप स्वसमय – शुद्धात्मस्वरूप में लीन हैं– उसी को जानते हैं और व्यवहारनय से सबको जानते है क्योंकि यह सहजवृत्ति – स्वाभाविक परिणति साधुजनों की सदा रहती है, इद्रियों की दासता को धारण करने वाले – असाधुजनों की नहीं रहती ।।५२।।

[५३]

नहि जगज्जिन पश्यसि वस्तुतः, सततमात्मपदं तु भवस्तुतः ।
त्वदुपयोगतले शुचिदर्शनेऽवतरतीव तदेव तु दर्शने ।।

हे जिन! भवस्तुत वस्तुत सतत आत्मपद पश्यसि नहि जगत् तु (पश्यसि) (यतः) शुचि दर्शने त्वदुपयोग तले दर्शने इव तदेव तु (जगत् एव) अवतरति।।

नहीति- **हे जिन! भवस्तुतो भवेन संसारेण स्तुतस्त्वं वस्तुतः परमार्थतः सततं सदा आत्मपदं स्वस्वरूपं पश्यसि विलोकसे जानासि जगत् तु लोकं तु नहि पश्यसि । यतः शुचिदर्शने शुचि समुज्ज्वलं दर्शनं यस्य तस्मिन् त्वदुपयोगतले तव उपयोगस्त्वदुपयोगस्तस्य तले स्वरूपे । 'स्वरूपानूर्ध्वयोस्तलम्' इत्यमरः । तदेव जगत्तु दर्शने दर्पणे अवतरतीव प्रतिफलतीव यथा घटपटादयोऽर्था दर्पणतले प्रतिफलन्ति तथा जगदेतत् त्वदुपयोगतले केवलज्ञानमध्ये प्रतिफलतीत्यर्थः ।।५३।।**

अर्थ- हे जिन! संसार – सभी जनों के द्वारा स्तुत आप यथार्थ से निरतर आत्मपद–स्वरूप को देखते है–जानते हैं जगत् को नहीं। वही जगत् निर्मल दर्शन वाले आपके उपयोगतल में – केवलज्ञान में दर्पण की तरह प्रतिफलित होता है ।।५३।।

समयसारत ईश! न सारतः, सविकलो विषयाज्जडसारतः।
जगति मक्षिकयैव सदादृतं, मलमलं भ्रमरेण सदादृत! ।।

हे सदादृत! हे ईश! सारतः समयसारतः न सविकल.(किन्तु)विषयात् जडसारत (सविकल.) असि (उचितमेव) जगति सदा मक्षिकया एव मल आदृतम् भ्रमरेण अलम् (तिरस्कृतमित्यर्थः)।।

समयेति- **हे सदादृत! सद्भिः सज्जनैः सदा सर्वदा आदृतः सन्मानितस्तत्सम्बुद्धौ। हे ईश! हे नाथ! त्वं सारतः श्रेष्ठात् समयसारतः शुद्धात्मस्वरूपात् न सविकलो रहितः किंतु जडसारतोऽचेतनप्रधानात् विषयात् पञ्चेंद्रियविषयाद् रूपादेः सविकलो रहितोऽसीति शेषः। उचितमेतत् जगति लोके मलं मक्षिकयैव सदा शश्वत् आदृतं सस्पृहं स्वीकृतं भ्रमरेण षट्पदेनाऽलं नो ।।५४।।**

अर्थ-हे सत्पुरुषों से सन्मानित! हे ईश! आप श्रेष्ठतम समयसार – शुद्धात्मस्वरूप से रहित नहीं हो– परिपूर्ण हो,किंतु अचेतनों में प्रधानभूत पञ्चेंद्रियों के विषयों से रहित हो। ठीक ही है, संसार में मल–विष्ठा मक्खी के द्वारा ही सदा आवृत होता है, भ्रमर के द्वारा नहीं ।।५४।।

[५५]

प्रवचनेऽचिति साऽ प्रतिमानता, ननु मतात्र सता शुचिमानता।
तव विदं हि हठाद्यदसंग! ताः, समयकाः स्वयमीश्वर!संगताः ।।

हे असग! ईश्वर! अत्र तव अचिति प्रवचने सा अप्रतिमानता शुचिमानता ननु सता मता यत् (यस्मात्) (तत्र अय हेतु) तव विदम् हि ता समयका हठात् स्वय संगता।

प्रवचन इति- **हे असङ्ग! न विद्यते सङ्गो यस्य तत्सम्बुद्धौ। हे निर्ग्रन्थ! हे ईश्वर! हे नाथ! अत्र जगति तव भवतः अचिति पुद्गलपर्यायत्वात्, जडे प्रवचने वक्तृत्वे वाण्यां सा प्रसिद्धा अप्रतिमानता न विद्यते प्रतिमानं सादृश्यं यस्याप्रतिमानं तस्य भावोऽप्रतिमानताऽनुपमता ननु निश्चयेन सता साधुना मताऽभ्युपगता शुचिं निर्मलतां आनता प्राप्ता। यत् यस्मात् कारणात् ताः विस्तृताः समयकाः समया एव समयकाः पदार्थाः स्वयं स्वतो हठात् प्रसह्य तव विदं ज्ञानं हि निश्चयेन संगताः प्राप्ताः। ज्ञानबाहुल्येन तव प्रवचनमनुपमानं विद्यते इति भावः ।।५५।।**

अर्थ-हे निर्ग्रन्थ! हे नाथ! यहाँ आपकी अचेतन वाणी में निश्चय से जो प्रसिद्ध अनुपमता सत्पुरूषों ने स्वीकृत की है तथा निर्मलता को प्राप्त है, उसमें कारण यह है कि जगत् के समस्त पदार्थ आपके ज्ञान में हठ पूर्वक स्वयं प्राप्त हुए है।

भावार्थ-आप सर्वज्ञ है, अतः आपकी जड़ वाणी भी जगत् में उपमा से रहित है।।५५।।

[५६]

ननु दृगादिभिरात्मबलैः सुखं, करणजं ह्यपि तत्समलैः सुखम्।
जगति तन्तुभिरेव सुनिर्मितम्, पटमितीह जगाद मुनिर्मितम् ।।

हे लोकेश! आत्मबलै. दृगादिभि ननु सुखं समलै. (दृगादिभि) तत् करणज सुख अपि (भवतु) इह जगति तन्तुभिः एव पटम् सुनिर्मितम् इति मितम् मुनि जगाद।

नन्विति-हे लोकेश! ननु निश्चयतो यत् सुखं आत्मोत्थं तत् दृगादिभिः सम्यग्दर्शनादिभिः आत्मबलैरात्मशक्तिभिः प्राप्यते । यच्च करणजं इन्द्रियभवं सुखं तदपि इह जगति समलैः सातिचारैर्दृगादिभिरेव प्राप्यते । तदेवोदाहरति—यत् पटं वस्त्रं तत् तन्तुभिरेव सुनिर्मितं रचितं । इति मुनिर्भवान् मितं यथास्यात् जगाद । यथा सर्वविधं वस्त्रं तन्तुभिरेव निर्मीयते तथा स्वर्गादिजं मुक्तिजं वा सुखं सम्यग्दर्शनादिभिरेव संपद्यत इति भावः ।।५६।।

अर्थ-हे लोकेश! निश्चय से जो आत्मोत्थ सुख है वह सम्यग्दर्शनादि आत्मशक्तियों से प्राप्त होता है। और जो इन्द्रियजन्यसुख है वह भी समल—सातिचार—अपूर्ण सम्यग्दर्शनादि आत्मशक्तियो से प्राप्त होता है। उचित ही है, इस जगत् में जो वस्त्र है वह ततुओं से ही निर्मित होता है, ऐसा सक्षेप में आप मुनि ने कहा था ।।५६।।

[५७]

नयति विस्मरणं सुखयाचना—मजनुतौ विरतो दयया च ना।
मणिमयं जलधावनवगाहितः, किमिह याचत ए खनगाहित! ।।

ए खनगाहित! अजनुतौदय या च विरत. ना सुखयाचना विस्मरण नयति। (उचितमेव) इह जलधौ अवगाहित. अयं (जन) कि मणिम् याचते ? (कदापि नेत्यर्थ)।

नयतीति—ए खनगाहित! खेषु हृषीकेषु न गाहितः खनगाहितस्तत्सम्बुद्धौ हे इन्द्रियजसुखपराङ्मुख ! अजनुतौ भगवत्स्तवने दययाऽनुकम्पया च विरतः पराङ्मुखो ना पुमान् सुखयाचनां सुखार्थितां विस्मरणं विस्मृतिं नयति प्रापयति । अजनुतौ दयायां च प्रवृत्त एव नरो सुखं प्राप्नोति यश्च ततो विरतः स सुखयाचनां विस्मरतीति भावः । तदेवोदाहरति—जलधौ सागरे अनवगाहितोऽकृतप्रवेशः । अयं जनः किमिह लोके मणिं याचते? नैव याचते । जलधौ कृतावगाहो जन एव मणिं प्राप्तुं शक्नोति यथा, तथाजनुतौ दयायां च प्रवृत्त एव जनः सुखं लभेतेति तात्पर्यम् ।।५७।।

अर्थ-हे इन्द्रियसुख से विमुख! भगवन्! भगवत्स्तुति और दया से विमुख रहने वाला मनुष्य सुखयाचना को भूल जाता है। ठीक ही है— समुद्र में गोता न लगाने वाला यह मनुष्य संसार में क्या मणि की याचना करता है? अर्थात् नहीं करता ।।५७।।

स्ववपुषा प्रथमं पृथगम्बरमज समुज्झ्य चिता च दिगंबरः ।
यवमलं न तृणं ननु पाचकः, कलयति प्रथमं स्वकपाश्च क! ।।

हे स्वकपा !अज!क!प्रथमं पृथक् अम्बरं समुज्झ्य स्ववपुषा दिगम्बर. (जात.) च (पुन.) चिता (दिगम्बर. जात.) (उचितमेव) ननु पाचक. प्रथमं तृण कलयति नच यवमलम् (यव मलं तु पश्चात् कलयति)।

स्ववपुषेति– **हे स्वकपाः! स्व एव स्वकस्तं पाति रक्षतीति स्वकपास्तत्सम्बुद्धौ । हे अज! न जायत इत्यजः तत्सम्बुद्धौ। हे जन्मातीत! हे क! हे आत्मन्! ब्रह्मन्! वा। प्रथमं प्राक् पृथक् अम्बरं पृथग्भूतं वस्त्रं समुज्झ्य त्यक्त्वा स्ववपुषा स्वशरीरेण दिगम्बरो जातः पश्चाच्च चिता मनसा दिगम्बरो जातः । उचितमेतत्-पाचकः पौरोगवः प्रथमं तृणं कलयति यवमलं धान्यविशेषमलं न कलयति गृह्णाति । प्राग् वस्त्रं त्यक्त्वा शरीरेण दिगम्बरो जातस्त्वं पश्चाच्चान्तरङ्गपरिग्रहं त्यक्त्वा चिता चेतनेन दिगम्बरो जातः । एतदेवोदाहरणेन समर्थयति– पाचकः प्रथमं यवाग्रात्तृणं तुषं गृहीत्वा दूरीकरोति पश्चाच्च मुसलादिना तन्मल गृहीत्वा दूरीकरोतीति भावः ।।५८।।**

अर्थ- हे आत्मरक्षक! हे जन्मरहित! हे ब्रह्मन्! आप पहले वस्त्र को छोड़कर स्वशरीर से दिगम्बर हुए थे। पश्चात् चेतना से दिगम्बर हुये थे। यह उचित ही है, क्योंकि रसोई बनाने वाला पहले तुषरूप तृण को बीनता है पश्चात् जौ के मल– ललाई आदि को ग्रहणकर दूर हटाता है।।५८।।

[५९]

य उपधि र्जगता समुपासितः, मृतिभयं न विनामृतपाः शित!
अभयताप्तय एव समुद्यतो, भवदुपासनया द्रुतमुद्यतः ।।

हे अमृतपा ! शित ! य. उपधि जगता समुपासित. (स) मृतिभय विना न (अत.) एष. (मुनि) अभयताप्तये भवदुपासनया समुद्यत यत द्रुतम् उत् (स्यात्) ।

य इति- **हे अमृतपाः! अमृतं मोक्षं पाति रक्षतीति अमृतपास्तत्सम्बुद्धौ । अथवा अमृत हृद्यवस्तु पाति रक्षतीति तत्सम्बुद्धौ। 'अमृतं मोक्षपीयूषसलिले हृद्यवस्तुनि' इति विश्वलोचनः । हे शित! हे शांत! 'शितं शकुनिशांतयो-' इति विश्वलोचनः । य उपधिः परिग्रहो जगता लोकेन समुपासितः सेवितः स्वीकृत इति यावत्। स मृतिभयं मृत्युभीतिं विना न समुपासितः न सेवितः । एषः अभयत्वं प्राप्तये मुनि अभयप्राप्तये भवदुपासनया भवदाराधनया समुद्यतः । यत् यस्मात् द्रुतं शीघ्रम्। उत् उद्गतः स्यात् मुक्तः स्यादिति भावः । अथवा 'द्रु गतौ' इति धातोर्भावे क्तप्रत्यये द्रुतं भवति तस्य च 'उत्' अव्ययेन सम्बन्धः । एवं 'उद्‌द्रुतं' इत्यस्योर्ध्वगमनमित्यर्थः कल्पनीयः।।५९।।**

अर्थ- हे अमृतपा! मोक्ष अथवा प्रियवस्तु के रक्षक! हे शित! हे शांत! जो परिग्रह जगत् के द्वारा सेवित है, वह मृत्यु के भय के विना नहीं अर्थात् मृत्यु से बचने के लिये ही जगत् परिग्रह को उपार्जित, सचित और सुरक्षित रखता है। इसीलिये यह मुनि अभयता–निर्भयता की प्राप्ति के लिये आपकी उपासना मे समुद्यत है। इसी से वह शीघ्र ऊर्ध्वगामी हो सकेगा।

भावार्थ-मृत्यु से भयभीत संसारी प्राणी परिग्रह एकत्रित करता है, परतु उसके द्वारा वह मृत्यु से बचता नहीं है। इसी लिये ज्ञानी मुनि परिग्रह की उपासना न कर निर्भयता की प्राप्ति के लिये आपकी उपासना करता है और उसके फल स्वरूप वह मृत्यु से बचकर ऊर्ध्वगामी– सिद्ध हो जाता है ।।५९।।

[६०]

जडतनोर्मदरागनिराकृतिर्जगति शान्तिरिहास्ति निराकृति।
परिगमस्तव शान्त! सुमुद्रया, समनुजायत एव सुमुद्रया।।

हे शान्त! इह जगति निराकृति शान्ति जडतनो मदरागनिराकृति (एव) अस्ति (इति) तव शान्त सुमुद्रया परिगम समनुजायते एव।

जडतनोरिति **हे शान्त। हे लोकोत्तरशान्तिसंपन्नभगवन्! इह जगति भुवने या निराकृतिर्निर्गता आकृतिर्यस्या सा आकृतिरहिता आन्तरङ्गिकी अनुपमा वा शान्ति शान्तपरिणतिरस्ति सा जडतनोर्जडशरीरात् मदरागनिराकृति मदश्च रागश्चेति मदरागौ अहकारममकारपरिणामौ तयो निराकृति निराकरणमेव नियमेनास्ति। इति परिगमो बोधो तव भवत सुमुद्रया सुष्ठु मुद प्रमोद राति ददातीति सुमुद्रा तया सुहर्षदायिन्या शोभासंपन्नाकृत्या समनुजायते सम्पद्यत एव नियमेन। जडशरीरसम्बन्धि मदरागभावपरित्यागेनैव यथार्था शान्ति सजायते इति भाव ।।६०।।**

अर्थ-हे शान्त! हे लोकोत्तरशान्तिसम्पन्न! इस जगत् में जो आभ्यान्तर–अतीन्द्रिय शान्ति है वह जडशरीर सबंधी अहंकार-ममकार का निराकरण – परित्याग ही है, ऐसा सुवोध आपकी प्रमोददायिनी सुन्दर आकृति से होता है।।६०।।

[६१]

नहि गभीर इहेदुनियोगतः, स जलधिस्स्खलितो निजयोगतः।
असि गभीरतमो निजधाम न, त्यजसि यत् सुखदं च मुधाऽमनः।।

हे अमन! इह(जगति)स जलधि इन्दुनियोगत निजयोगत. स्खलित. (अत.) न हि गभीर (अस्ति किन्तु) (त्व) सुखद निजधाम च मुधा न त्यजसि यत् गभीरतम. (असि)।

नहीति- **हे अमनः! नास्ति मनो भावरूपं मनो यस्य तत्सम्बुद्धौ। इह जगति स प्रसिद्धो जलधिः सागरः। इन्दुनियोगतश्चन्द्रसंयोगात् निजयोगतः स्वकीयगाम्भीर्य–**

स्वभावात् स्खलितो विचलितो भवति। अतः गभीरो गम्भीरो न हि, निश्चयेन नास्ति। त्वं तु यत् यस्मात् सुखदं शर्मप्रदं निजधाम निजतेजो न त्यजसि नो जहासि। अतो गभीरतमोऽतिशयेन गभीर इति गम्भीरतमो लोकोत्तरधैर्यशाली । असि वर्तते।।६१।।

अर्थ- हे अमन! हे भावमन से रहित! इस जगत् में वह समुद्र चन्द्रमा के संयोग से स्वकीय गांभीर्य से विचलित हो जाता है। अर्थात् चन्द्रमा के दर्शन से समुद्र उद्वेलित हो जाता है। अत वह गंभीर नहीं है किन्तु आप व्यर्थ ही अपने सुखदायकधाम--तेज अथवा स्थान का त्याग नहीं करते, अत गम्भीरतम है।।६१।।

[६२]

जिगमिषु र्निकटं तव ना विनाः, स नियमेन जडो ननु ना विना ।
दृगिह बीजमजा अवनाविना, नहि सतां सुफलेऽमलिना विना।।

हे अजा !इना !विना.!ना !तव (युष्माक) निकट नियमेन विना जिगमिषु ना ननु स जड (एव अस्ति) (सत्यमेव) इह अवनौ बीजम् विना सता अमलिना दृक् सुफले नहि (स्यात्)।

जिगमिषुरिति- हे अजा!जन्मरहिता.हे इना! ईशिताः,हे विना! विशेषेण ना. पूज्या.,हे ना हे जिना! 'भर्तेन्द्र इन ईशिता' इति धनञ्जयः। 'इन पत्यौ नृपे सूर्ये' 'नकारो जिनपूज्ययो' इति च विश्वलोचन। यो ना पुमान् ' ना पुमान् पुरुषो गोधः' इति धनञ्जय। नियमेन सयमेन सविदा ज्ञानेन व्रतेन 'नियमो निश्चये बन्धे यन्त्रणे संविदि व्रते' इति विश्वलोचन।विनाऽन्तरेण तव युष्माकं निकटं समीपं जिगमिषु-- गन्तुमिच्छु स ननु निश्चयेन जडोऽज्ञानी वर्तत इति शेष। उचितमेतत्। इह अवनौ पृथिव्यां, बीजं विना गोधूमादिबीजमन्तरेण सतां सज्जनानां। अमलिना स्वच्छा दृक् दृष्टि सुफले शोभनफले नहि स्यात्। यथा बीजं विना सुफल न प्राप्यते तथा व्रतनियमादिना विना जिनानां नैकट्यं न प्राप्यत इति भावः।।६२।।

अर्थ- हे जन्मातीत! हे नाथ! हे अतिशयपूज्य जिनदेव! जो पुरुष व्रतनियमादि के बिना आपके निकट जाना चाहता है, वह निश्चय से जड-- अज्ञानी है। उचित ही है-इस पृथिवी में बीज के विना सज्जनों की निर्मलदृष्टि सुन्दरफल पर नहीं हो सकती।

भावार्थ- जिस प्रकार बीज के बिना उत्तमफल प्राप्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार व्रत-- नियमादि के विना पूज्य जिनराजों की निकटता प्राप्त नहीं हो सकती।।६२।।

[६३]

त्वयि रुचिं च विना शिवराधनम्, भवतु केवलमात्मविराधनम्।
नगविदारणवत् शिरसा यते!, मतमिदं जगतां स्वरसायते ।।

हे यत! त्वयि रुचि विना शिवराधनम् केवलम् आत्मविराधनम् शिरसा नगविदारणवत् भवतु। इति ते इदम् मतम् (यत्) जगताम् स्वरसाय (अस्तु)।

त्वयीति- **हे यते! हे मुने! त्वयि भवति रुचिं प्रीतिं श्रद्धां वा विना शिवाराधनं मोक्षाराधन केवलं मात्र आत्मविराधन स्वस्य दुःखीकरणं शिरसा मूर्ध्ना नगविदारणवत् पवर्तभेदनमिव भवतु इद ते तव मत सिद्धान्तो जगतां जगज्जनानां स्वरसाय सुखलाभायास्तु। हे देव! त्वच्छ्रद्धानं विना मोक्षप्राप्तीच्छया तपः प्रभृत्याचरणं केवलं शिरसा पर्वतविदारणवत् निष्फल भवतीति भाव।।६३।।**

अर्थ-हे यतिराज! आप से प्रीति अथवा श्रद्धा के विना मोक्ष की आराधना करना–तपश्चारणादि करना शिर से पहाड फोडने के समान मात्र आत्मविराधना–आत्मघात है। आपका यह मत जगत् के सुख के लिये है।।६३।।

[६४]

समुदयागत ईश!शुभे विधौ, नहि तथा किल शीतलतां विधौ।
अनुभवामि यथा तव सन्निधौ,ह्यतुलवैभवपूरितसन्निधौ ।।

हे ईश! समुदयागते शुभे विधौ विधौ (च) किल तथा शीतलता न हि यथा तव हि अतुल वैभवपूरित-सन्निधौ सन्निधौ अनुभवामि।

समुदयेति- **हे ईश! समुदयागते समीचीनकर्मोदयप्राप्ते शुभे प्रशस्ते विधौ दयादानादिशुभकार्ये, समुदायेनागत प्राप्तस्तस्मिन् सूदिते विधौ चन्द्रमसि च तथा तादृशीं शीतलतां सुखशान्ति किल न हि अनुभवामि यथा यादृशीं। अतुलवैभवपूरितसन्निधौ अतुलवैभवेनाप्रतिमैश्वर्येण पूरितः सन्निधिः समीचीनविधिस्तद्रूपे तव जिनेन्द्रस्य सन्निधौ समीपे हि निश्चयेनानुभवामि संवेदयामि।।६४।।**

अर्थ- हे ईश! समुदयागत–पुण्यकर्मोदय से प्राप्त शुभकार्य में और सम्यक् प्रकार से उदित चन्द्रमा में वैसी शीतलता का अनुभव नहीं करता हूं जैसी कि अनुपम वैभव से परिपूर्ण समीचीन निधिस्वरूप आपकी सन्निधि–निकटता में करता हू।।६४।।

[६५]

असि निजानुभवादिसमाधितः, स्खलितवान् भवतो द्रुतमाधितः ।
सुधृतिमन्त इतीश!तदाप्तये, स्वनिरता मुनयोऽपि सदाप्त! ये ।।

हे ईश! आप्त! निजानुभवादिसमाधित आधित भवत द्रुत स्खलितवान् इति (मत्वा) तदाप्तये सुधृतिमत ये मुनय सदा स्वनिरता सन्ति।

असीति- **हे ईश! हे आप्त! त्वं निजानुभवादिसमाधितः निजानुभवादिरेव समाधिर्ध्यानं तस्मात् हेत्वर्थे पञ्चमी, आधितो मानसिकव्यथारूपात् 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः। भवतः संसारात् द्रुतं शीघ्रं स्खलितवान् निवृत्तः। असि वर्तसे, इति मत्वा तदाप्तये तस्य संसारनिवर्तनस्याप्तिः प्राप्तिस्तस्यै सुधृतिमन्तः सुधैर्ययुक्ता जितपरीषहा इति यावत् ये मुनयो यतयस्तेऽपि सदा शश्वत् स्वनिरताः स्वस्मिन् आत्मनि निरता नितरां लीनाः सन्तीति शेषः।।६५।।**

अर्थ— हे ईश! हे आप्त! आप निजानुभवनरूप समाधि— ध्यान से मानसिक व्यथारूप ससार से निवृत्त हुए हैं, ऐसा मानकर जो उत्तम धैर्य से युक्त मुनि हैं वे भी सदा स्वनिरत—आत्मलीन रहते है ।।६५।।

[६६]

विधिनगाशनिरीश! सुराजते, कुमतकक्षदवो मुनिराज! ते ।
शशिशितं सुखदं शुचिशासनं, भवतु मे सततं सहसासनम् ।।

मुनिराज! ईश! ते शशिशितम् सुखदम् शुचिशासनम् कुमतकक्षदवः विधिनगाशनिः सुराजते (तत्) मे सततम् सहसा आसनम् (आश्रय) भवतु।।

विधीति- **हे ईश! हे मुनिराज! मुनीनां राजा मुनिराजस्तत्सम्बुद्धौ 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच्समासान्तः। ते तव शशिशितं शशीव शितं शुक्लं शशिशितं चन्द्रवदुज्ज्वलं सुखदायकं शुचिशासनं निरवद्यशासनं। विधिनगाशनिः विधय एव कर्माण्येव नगाः पर्वतास्तेषामशनिर्वज्रः । कुमतकक्षदवः कुमतानि विरुद्धमतान्येव कक्षाणि वनानि तेषां दवो दावानलः। 'वने च वनवह्नौ च दवो दाव इहेष्यते' इत्यमरः। सुराजते सुशोभते। अतस्तत् तव शुचिशासनं मे स्तोतुः सततमनारतं सहसा झटिति आसनमाश्रयो भवतु आस्यत उपविश्यते यस्मिन् तत् आसनं आश्रय इति यावत्।।६६।।**

अर्थ- हे ईश! हे मुनिराज! चद्रमा के समान उज्ज्वल आपका सुखदायक निर्मलशासन कर्मरूप पर्वतों के लिये वज्र तथा मिथ्यामतरूपी वनों के लिये दावानल के समान सुशोभित है, अत वह निरन्तर मेरा आसन-आधार रहे।।६६।।

[६७]

जननसागरशोषणभाकरः, तृषितजीवनदोऽसिशुभाकरः ।
खझषजाल इतीह सुगी र्यतः सुमुनिना ह्यमुनाप्यथ गीयते।।

भगवन्! इह (भुवि) जननसागरशोषणभाकरः शुभाकरः तृषितजीवनदः खझष जालः अस्ि इति यतः मगीः (वर्तते) अथ हि सुमुनिना ह्यमुना अपि गीयते (भगवान्)।

जननेति- हे जिनेन्द्र! इह जगति त्वं जननसागरशोषणभाकरः जननं जन्मैव संसार एव वा सागरः समुद्रस्तस्य शोषणे भाकरः सूर्योऽसि। तृषितजीवनदोऽसि तृषिताय पिपासातुराय जीवन जलं ददतीति तथाभूतोऽसि अथवा तृषिताय विषयाभिलाषा पीडिताय जीवनं तत्त्यागभावरूपं जीवनं ददातीति तथाभूतोऽसि । शुभाकरोऽसि शुभानां शुभभावानामाकरः खनिरसि । झझषजालोऽसि खानीन्द्रियण्येव झषा मीनास्तेषां जाल आनयो बन्धनोपायोऽसि । इतीत्थं यतेर्गणधरादिसाधोः सुगीः शोभना भारती अस्तीति शेषः । अथ अमुना सुमुनिनाऽपि स्तुतिकर्त्राऽपि हि निश्चये गीयतेऽ भिधीयते ।।६७।।

अर्थ-हे भगवन्! इस जगत् में आप ससाररूपी समुद्र को सुखाने के लिये प्रचंड सूर्य है। तृष्णारूपी तृषा से पीड़ित मनुष्य को जीवन—सतोष रूपी जल को देने वाले हैं। शुभाकर पुण्य की खान है तथा इद्रियरूपी मछलियों को वश करने के लिये जाल स्वरूप हो। इस तरह आपके विषय में गणधरादि मुनियों की उत्तम वाणी है। अब मुझ मुनि के द्वारा भी यही कहा जाता है।

भावार्थ-प्राचीन मुनियों ने आपके विषय में जो कहा है, वह यथार्थ ही कहा है ।।६७।।

[६८]

मम मतिस्स्तवनेऽत्र सरोवरे,किमु तदा विफलो न सरो वरे।
अमृतनीरनिधौ जिन! निष्क्रिय! विषकणोऽस्तु तथापि स निष्क्रियः।।

हे जिन!निष्क्रिय! (तव) स्तवने वरे सरोवरे (यदा) मम मति तदा सर (काम) किमु न विफल (भवतु?) अमृतनीरनिधौ स विषकण अस्तु तथापि निष्क्रिय एव।

ममेति- हे जिन! हे निष्क्रिय! क्रियाभ्यो निष्क्रान्तः निष्क्रियस्तत्सम्बुद्धौ हे कृतकृत्य! इत्यर्थ। अत्र लोके तव भवतः स्तवने स्तवनरूपे वरे श्रेष्ठे सरोवरे कासारे यदा मम मतिरस्ति तदा सरः कामः किमु विफलो न भवतु? तदेवोदाहरति अमृतनीरनिधौ पीयूषपारावरे स प्रसिद्धो विषकणो गरललवोऽस्तु भवतु तथापि निष्क्रिय एव वर्ततामिति शेषः ।।६८।।

अर्थ-हे जिन! हे कृतकृत्य! आपके स्तवनरूप उत्कृष्ट सरोवर में जब मेरी मति रह रही है तब काम क्या निष्फल न रहे? क्योंकि अमृत के सरोवर में विष का कण रहता भले ही हो पर वह निष्क्रिय—प्रभावशून्य ही रहता है ।।६८।।

[६९]

तव मते सति ते विफला मता,लयमयन्ति हठाद्विमला मताः।
लवणवद् अशने च सदाऽमिते,जिन! विदं सहजां सुखदामिते।।

हे जिन! तव सहजां सुखदा विदं इते अमिते सति मते च अशने लवणवत्(हि)सदा ते विफला. मताः लय अयंति हटात् विमला. मता· (पूज्या. भवति)।

तवेति-हे जिन! तव भवतः सहजां स्वाभाविकीं सुखदां सुखदायिनीं विदं ज्ञानं, इते प्राप्ते अमिते अपरिमिते सुविस्तृत इत्यर्थः सति प्रशस्ते मते च धर्मे च सदा शश्वद् विफला एकान्तवादत्वेन निरर्थका अकार्यकरा मता धर्मा यदि लयं लीनताम् अयन्ति प्राप्नुवन्ति तर्हि ते अमिते विपुले अशने भोजने लवणवत् क्षारमिव हठात् प्रसह्य विमला विगतं मलं येषां ते तथाभूता निर्दोषा मताः स्वीकृताः। अत्र भुवने ये ह्येकान्तवादाः सन्ति ते यदि जैनेन्द्रे स्याद्वादे लीना भवन्ति तर्हि तेऽपि निरवद्या भवेयुरिति भावः।।६९।।

अर्थ- हे जिन! आपके सहज सुखदायक ज्ञान को प्राप्त अपरिमित प्रशस्त मत में यदि एकान्तवाद के कारण अकार्यकारी अन्य मत–धर्म लीनता को प्राप्त हो जावें तो विशाल भोजन में नमक की तरह वे भी हठात् निर्मल– निर्दोष होकर पूज्य हो जावें।।६९।।

[७०]

स्तुतिबलं ह्यवलम्ब्य मनोर्भवे, ह्यनुचरामि निजात्मनि नो भवे।
कदपथेऽत्र वयोऽपि सपक्षका इति चरन्ति वदन्ति विपक्षकाः।।

हे जगद्वद्य! मनो स्तुतिबल अवलम्ब्य भवे निजात्मनि अनुचरामि, नो भवे (अनुचरामि) अत्र कदपथे सपक्षका वय. एव अपि चरति इति विपक्षका वदन्ति।

स्तुतिबलमिती–हे जगद्वन्द्य! मनोर्भगवतस्तव स्तुतिबलं हि निश्चयेन अवलम्ब्य समाश्रित्य भवे श्रेयसि कल्याणकर इति यावत् 'भवः श्रीकण्ठसंसारश्रेयस्सत्ताप्तिजन्मसु' इति विश्वलोचनः। निजात्मनि स्वस्वरूपे हि परमार्थतः। अनुचरामि विहरामि शुद्धात्मस्वरूपं चिंतयामीति भावः। भवे संसारे नो अनुचरामि। अत्र जगति सपक्षका एकान्तपक्षवन्तः पक्षे सगरुतः वयोऽपि पक्षिणोऽपि कदपथे न पन्था इत्यपथम् कुत्सितमपदमिति कदपथं तस्मिन् कुमते गगने च चरन्ति विचरन्ति। इति अपक्षका एकांतपक्षरहिता गरुद्रहिताश्च नो चरन्तीति वदन्ति कथयन्ति।।७०।।

अर्थ-हे जगद्वन्द्य! निश्चय से आपकी स्तुति के बल का अवलम्बन लेकर मैं कल्याणकारी निज आत्मा में विचरण करता हूं, संसार में नहीं। ठीक ही है पंखों से सहित पक्षी और एकान्तपक्ष से सहित दुराग्रही मानव भी कुमार्ग में विचरण करते है पक्षरहित मनुष्य और पंखरहित पक्षी कुमार्ग में (आकाश में) विचरण नहीं करते हैं ऐसा ज्ञानी जन कहते है।।७०।।

[७१]

यदुदितं वचनं शुचि साधुना,वदति तत् न कुधीरिति साधु ना।
ज्वरमितः सुपयः किमु ना सितां,ह्यनुभवद् भुवि रोगविनाशिताम्।।

हे साधो! (त्वया) साधुना यत् शुचि वचनम् उदितम् तत् साधु न इति कुधी. ना वदति। (उचितमेव) भुवि रोगविनाशिता मिता अनुभवत् सुपय ज्वरमित (ज्वर गत) ना किमु (तथा न वदति)।

यदुदितमिति-**हे साधो! साधुना त्वया यत् शुचि पवित्रं निरवद्यमिति यावत् । वचनं वच उदितं कथितं 'वाग्वचोवचनं वाणी भारती गीः सरस्वती' इति धनञ्जयःतत् साधु प्रशस्तं न , इति कुधीर्दुर्बुद्धि ना पुमान् वदति कथयति । युक्तमेवैतत् यतो भुवि पृथिव्या रोगविनाशितां विनाशितो रोगो यया ता 'बाहिताग्न्यादिषु' इति निष्ठान्तस्य परप्रयोग । सितां शर्करोपलम् अनुभवत् सुपय. सुदुग्धं ज्वरमितः ज्वरयुक्तो ना किमु तथा न वदति? अपि तु वदत्येव यथा ज्वराक्रान्तो मनुष्यः सिता मिश्र दुग्ध मधुरं न वदति तथा मिथ्यात्वाक्रान्तो जनो वीतरागसर्वज्ञवचनं साधु न वदतीति भाव ।।७१।।**

अर्थ-हे साधो! आप साधु के द्वारा जो निर्दोष वचन कहा गया है, वह ठीक नहीं है, ऐसा अज्ञानी पुरुष कहता है । उचित ही है क्योंकि पृथिवी पर रोग को नष्ट करने वाली मिश्री से युक्त उत्तम दूध को ज्वरसहित मनुष्य वैसा नहीं है, मीठा नहीं है, ऐसा क्या नहीं कहता?।।७१।।

[७२]

सुकवितां विरचय्य च केवल,भवतु कोऽपि कविर्गत! केवलम्।
स्वकविता तु ततोऽहमशेषतामनुभवामि ममास्तु विशेषता।।

हे केवलं गत! (तव) केवलम् सुकविता विरचय्य क अपि कवि भवतु। अहतु तत. अशेषताम् स्वकविता अनुभवामि (अत) मम विशेषता (अस्तु)।

सुकवितामिति-**हे केवलगत! हे प्रकटितकेवलज्ञान! तव केवलं मात्रं सुकवितां सुन्दरकविता स्तुतिरूपामिति यावत् विरचय्य रचयित्वा कोऽपि जनः कविः काव्यकर्ता भवतु । अह तु तत अशेषता समग्रा स्वकवितामनुभवामि अतो मम विशेषतास्तु। न केवल कवितानिर्माणेन कोऽपि कविर्भवति किन्तु तन्माध्यमेन स्वस्यानुभवितैव कविताकारको भवतीति भावः ।।७२।।**

अर्थ-हे केवलज्ञान से युक्त जिनेन्द्र! मात्र आपकी कविता रचकर कोई भी कवि हो सकता है । परन्तु मैं संपूर्ण रूप से स्वकविता का अनुभव करता हू अत. यह मेरी विशेषता है ।

भावार्थ-कविता लिखने मात्र से कोई कवि नहीं होता किन्तु उस कविता को आत्मसात् करने वाला ही परमार्थ से कवि होता है ।।७२।।

[७३]

जिनवरं परिवेत्ति विनिश्चितं,स नितरां हि निजं च मुनिश्चितम्।
किमु न धूम्रविदत्र सदागते:,सहचरं सहजं च सदागते! ।।

हे सदागते! (य.) जिनवर परिवेत्ति स मुनिः हि नितराम् निजम् चितम् (परिवेत्ति) (उचितमेव) अत्र (भुवि) य धूम्रवित् सदागते सहचरं च किमु न सहजम् (परिवेत्ति ?)।

जिनवरमिति-**हे सदागते! सदागतिर्ज्ञानं यस्य तत्सम्बुद्धौ। यो जिनवरं जिनेन्द्रं विनिश्चितं निःसंदेहं यथास्यात्तथा परिवेत्ति जानाति स मुनिर्हि नितरामतिशयेन निजं स्वकीयं चितमात्मानम् परिवेत्ति । तदुक्तं कुन्दकुन्ददेवैः 'जो जाणदि अरहंत दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं । सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।' युक्तमेतत् अत्र लोके यो धूमवित् धूमज्ञानवानस्ति स सदागतेः पवनस्य सहचरं सखायम् च अग्निमिति यावत् किमु न सहजमनायासेन परिवेत्ति? अपि तु परिवेत्त्येव ।।७३।।**

अर्थ- हे सदागते! हे शाश्वतिक ज्ञान के धारक! जो जिनवर–अरहन्तदेव को जानता है वह मुनि निश्चय से अच्छी तरह निज आत्मा को जानता है । ठीक ही है क्योंकि पृथिवी पर जो धुवा का जानकार है वह क्या सहज ही अग्नि को नहीं जानता? अवश्य जानता है ।।७३।।

[७४]

समवधूय विधिं किल शाश्वतमिति पदं प्रगतं सहसा स्वतः।
शरणदं न विहाय ततोऽपरं,विरिव नावमये ह्ययजितापरम्।।

हे अजित!विधि समवधूय किल शाश्वत परम् शरणदम् इतिपदम् सहसा स्वत प्रगत (त्वां) विहाय तत अपरम् वि. इव नहि (अह) अये।

समवधूयेति- **हे अजित! न जितो भोगाकांक्षयेत्यजितस्तत्संबुद्धौ ! विधिं कर्म समवधूय निरस्य किल शाश्वतं शश्वद्भवं शाश्वतं नित्यं परं श्रेष्ठ शरणदं शरणं ददातीति शरणदं रक्षणप्रदं इति पदम् इतीत्थंभूतमष्टप्रातिहार्यैविशोभितमार्हन्त्यपदस्वतः स्वेनैव सहसा झगिति प्रगतं प्राप्त भवन्तं विहाय त्यक्त्वा ततो भवन्तः अपरमन्यं हरिहरादिकमिति यावत् नावं नौकां विहाय विरिव पक्षीव नहि नैव अये गच्छामि 'अयगतौ' इत्यस्य प्रयोगः । अपारपारावारे समुत्पततः पत्रिणो यथा नावं विहाय नान्यच्छरणमस्ति तथानन्ते भवसागरे मज्जनोन्मज्जनं विदधतो मम भवन्तं विहायान्यः कोऽपि शरणं नास्तीति भाव ।।७४।।**

अर्थ- हे अजित! कर्मरूपी रज को अच्छी तरह उड़ाकर निश्चय से नित्य, श्रेष्ठ और शरणदायक इस आर्हन्त्यपद को स्वकीय पुरुषार्थ से शीघ्र प्राप्त करने वाले आपको छोड़कर, नाव को छोड पक्षी के समान मैं अन्य किसी को नहीं प्राप्त होता हूं। 'मुक्त्वा भवन्तमिह कं शरणं व्रजामि' ।।७४।।

[७५]

तव नुतेः सुखदश्च भृशं कर,उरसि मे विशतीह नु शंकर! ।
दिनकरस्य शिवास्य विभावतः,सदनरंध्र इवाज ! हि भावतः।।

हे अज! शंकर! शिव! तव नुतेः सुखदः करः च भृशम् मे इह उरसि अस्य विभावतः दिनकरस्य सदनरन्ध्रे (करः) इव हि भावतः विशति।

तवेति-हे अज! हे जन्मातीत! हे शंकर! हे शान्तिविधायक! हे शिव ! सुखस्वरूप! 'शिवं मोक्षे सुखे जलम्' इति विश्वलोचनः । तवार्हतो नुतेः स्तुतेर्हेतोः सुखदः सुखप्रदः करः प्रत्ययो विश्वासः श्रद्धानमिति यावत् 'करस्तु पाणिप्रत्यायशुण्डारश्मिघनोपले' इति विश्वलोचनः । अथवा स्तुतेः स्तवनस्य करो रश्मिः मम स्तोतुः इहास्मिन् उरसि हृदये भृशमत्यर्थं विभावतः प्रभायुक्तस्य दिनकरस्य कर इवांशुरिव 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः सदनरन्ध्रे गृहच्छिद्र इव हि भावतः परमार्थतो विशति प्रविष्टो भवति। यथा सच्छिद्रगृह पटले सूर्यांशुर्बलात्प्रविशति तथा स्तुतिप्रभावात्तव प्रत्ययो मम हृदये भृशं प्रविशतीति भावः ।।७५।।

अर्थ-हे अज ! हे शांतिविधायक! हे सुखस्वरूप! आपकी स्तुति से आपका सुखप्रद श्रद्धान अथवा आपकी स्तुति की किरणावली मेरे इस हृदय में परमार्थ से उस तरह अत्यधिक प्रवेश कर रही है जिस तरह कि प्रभापुंज सूर्य की किरण सच्छिद्र घर में प्रवेश करती है ।।७५।।

[७६]

सति शिवे हि मनोऽपि नियोजयेत्,मनसिजं सहजं समयो जयेत्।
जगति कारण एव लयं गत,इह नु कार्यमिदं ह्यभयंगत! ।।

हे अभयगत! सति शिवे (त्वयि) हि मनः नियोजयेत् समयः मनसिजम् सहजम् अपि जयेत्। इह जगति कारणे लयं गते एव इदम् कार्य-म् नु (अस्तु) (न कदापि)।

सतीति-हे अभयंगत! हे प्राप्ताभय! यो जनः सति साधौ शिवे शिवस्वरूपे आत्मानन्दमये त्वयीति शेषः । मनश्चित्तं हि नियोजयेत् संलग्नं कुर्यात् स समयः शुद्धात्मस्वरूपः इह जगति भुवनेऽस्मिन् सहजं सहोत्पन्नमपि मनसिजं कामं जयेत्।

उचितमेतत् हि यतः इह जगति कारण एव निमित्त इवं लयं नाशं गते सति इदं कार्यं नु भवतु ? न्विति विलर्के । यतः कारणे प्रलयं गते तन्निमित्तजं कार्यं न भवति ततो मनसोऽभावे सति तत्र समुत्पन्नो मनोजः कथमिव भवेत् न कथमपीति यावत् ।।७६।।

अर्थ-हे अभय को प्राप्त जिनेन्द्र ! निश्चय से जो मनुष्य आनन्दस्वरूप आप सज्जन में मन को लगाता है वह शुद्धात्मस्वरूपी मनुष्य साथ-साथ उत्पन्न होने वाले भी काम को जीत लेता है । उचित ही है, इस जगत् में कारण के नष्ट होने पर कार्य क्या होता है ? अर्थात् नहीं होता ।

भावार्थ-काम मनसिज कहलाता है क्योंकि उसकी उत्पत्ति मन में होती है। साधक ने जब अपना मन परमानन्दमय जिनेन्द्र में लगा दिया तब मन का अभाव हो जाने से मनोज काम की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ।।७६।।

[७७]

त्वयि रुचे रहिताय न दर्शनं,तव हिताय वृथा तददर्शनम्।
खविकलाय करोतु न दर्पणं,समवलोकनशक्तिमुदर्पणम्।।

हे जिन! त्वयि रुचे रहिताय तव दर्शनम् न हिताय (किन्तु) तत् वृथा अदर्शनम् (एव अस्तु), (उचितमेव) खविकलाय समवलोकन-शक्तिमुदर्पणम् दर्पणम् न करोतु ।

त्वयीति- हे जिन! त्वयि भवति रुचे प्रीतेः श्रद्धाया वा रहिताय जनाय तव दर्शनं समवलोकनं शासनं वा हिताय श्रेयसे न भवति । तत् दर्शनं वृथा अकार्यकरं वर्तते । अतोऽदर्शनमदर्शनतुल्यं स्यात् । उचितमेवैतत् यतः खविकलाय चक्षुरिन्द्रियहीनाय जनाय दर्पणमादर्शः समवलोकनशक्तिमुदर्पणं समवलोकनस्य दर्शनस्य या शक्तिः सामर्थ्यं तदुत्पन्नाया मुदो हर्षस्यार्पणं प्रदानं न करोतु न विदधातु।।७७।।

अर्थ-हे जिन! जो आपमें प्रीति अथवा श्रद्धा से रहित है उसके लिये आपका दर्शन अथवा शासन हितकारी नहीं होता। उसका दर्शन व्यर्थ है अदर्शन के समान है। यह उचित ही है क्योंकि नेत्रेन्द्रिय से हीन मनुष्य के लिये क्या दर्पण देखने की शक्ति से उत्पन्न होने वाले हर्ष को प्रदान कर सकता है ? अर्थात् नहीं ।।७७।।

[७८]

सुधियि वागमृतं कलुषायते,कुधियि वान्तविमोहविषाय ते ।
सलिलदात् स्रवदम्बु नदेऽमृतं,विषधरे विषकं ह्यकदे मृतम् ।।

हे वान्तविमोह-विष! अय! ते वाक् सुधियि अमृत कुधियि (वाक्) कलुषायते (सत्यमेवैतत्)

सलिलदात् स्रवत् अम्बु नदे अमृतम् (भवति) अकदे विषधरे हि मृतम् विषकम् (भवति) ।

सुधियीति– अय वान्तविमोहविष! वान्तं विमोह एव विषं येन तत्सम्बुद्धौ हे वीतराग! अय सम्बुद्धिवाचकः। अथवा अय! शुभावहविधे! 'मतल्लिकामचर्चिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ। प्रशस्तवाचकानमून्यय शुभावहो विधिः' इत्यमरः। ते भवतो वाग् वचनं सुधियि सुबुद्धौ जने अमृतं पीयूषरूपं भवति। कुधियि दुर्बुद्धौ कलुषायते कालुष्यं करोति। युक्तमेवैतत्– सलिलदात् मेघात् स्रवत् वर्षत् अम्बु नीरं नदे नद्याम् अमृतं जलं पीयूषं वा भवति। अकदेऽकं दुःखं ददातीत्यकदस्तस्मिन् विषधरे पन्नगे मृतं मृत्यूत्पादकं विषकं विषमेव विषकं स्वार्थे कप्रत्ययः। भवतीति शेषः।।७८।।

अर्थ– हे वान्तमोहविष! हे मोहरूपी विष को उगल चुकने वाले जिनेन्द्र! आपका वचन सुधी जन मे अमृत है तो कुधीजन मे कलुषता उत्पन्न करता है। ठीक ही है क्योकि मेघ से झरता–वरसता हुआ पानी नदी मे अमृत–जलरूप रहता है और दुःखदायक सर्प मे मृत्यु करने वाला विष हो जाता है ।।७८।।

[७९]

ननु मुनेश्च यथा धृतवृत्ततः, स्रवति शान्तरसः प्रतिवृत्ततः ।
अविरलं त्वदुपासकतोऽमनो, नहि तथा शशिनो मुखतो मनो! ।।

हे अमन! मनो! ननु धृतवृत्ततः त्वदुपासकतः (मत्) मुनेः च यथा अविरलम् शान्तरसः स्रवति, प्रतिवृत्तः (अस्मात् काव्यतः) (शान्तरसः स्रवति) तथा शशिनः मुखतः नहि स्रवति।

नन्विति– हे अमन! मनोरहित! हे मनो! हे भगवन्! ननु निश्चयेन धृतवृत्ततो धृतमङ्गीकृत वृत्त चारित्र येन तस्मात्। त्वदुपासकतः तवोपासकस्तस्मात् भवत्सेवकात् मत् स्तोतुर्मुनेश्च यथा यादृक्, अविरलं निरन्तरं यथा शान्तरसः शान्तश्चासौ रसश्चेति शान्तरसो वैराग्यपरिणामः स्रवति। किञ्च एतत्काव्यस्य प्रतिवृत्ततः प्रत्येकछन्दसः 'त्रिषु वृत्त तु चरिते वृत्तं छन्दसि वर्तते' इति विश्वलोचनः। शान्तरसो नवरसेष्वन्यतमो रसः स्रवति तथा तादृक् शशिनश्चन्द्रस्य मुखतो बिम्बतो न हि स्रवति नहि क्षरति ।।७९।।

अर्थ– हे अमन! मनो! हे भावमन से रहित! जिनदेव! सम्यक् चारित्र को धारण करने वाले आपके उपासक मुझ मुनि से तथा इस काव्य के प्रत्येक छन्द से जैसा शान्त रस झर रहा है वैसा चन्द्रमा के बिम्ब से नहीं झरता ।।७९।।

[८०]

त्वयि रतो हि शठो भववैभव-, समुपलब्धय ईश्वर वै भव ।
कृषिमतः कुरुते विधिहाऽवनौ, सकनकेन हलेन स हा! वनौ ।।

ओ हे अवन! हे विधिहा! भवईश्वर! (इह) अवनौ भववैभवसमुपलब्धये त्वयि रत. वै शठ. हि (अस्ति) अत स सकनकेन हलेन हा!(असौ)कृषिम् कुरुते।

त्वयीति– **ओ हे अवन! रक्षक! हे विधिहा! कर्महा! हे भव! प्रशस्त! ईश्वर! भगवन्! इह अवनौ पृथिव्यां भववैभवसमुपलब्धये भवस्य संसारस्य वैभव ऐश्वर्यं तस्य समुपलब्धये सम्यक्प्राप्त्यै त्वयि वीतरागजिनेन्द्रे रतो लीनः कृतप्रवृत्तिरित्यर्थः वै निश्चयेन शठोऽज्ञानी अस्ति। अतः स सकनकेन ससुवर्णेन हलेन सीरेण वनौ क्षेत्रे कृषिं करोतीति हा खेदः। भोगाकाङ्क्षया जिनस्योपासनं ससुवर्णहलेन कृषिवसुधोत्कर्षणमिवाकार्यकरं भवतीति भाव ।।८०।।**

अर्थ– ओ हे अवन! हे रक्षक! हे विधिहा! हे कर्मों को नष्ट करने वाले! हे भव ईश्वर!प्रशस्त भगवन्! इस पृथ्वी मे जो सांसारिक वैभव प्राप्त करने के लिए आप मे लीन है– आपकी भक्ति करता है निश्चय से वह शठ है– अज्ञानी है अत खेद है कि वह स्वर्ण के हल से खेती करता है। लोह के बदले स्वर्ण की अनी से युक्त हल के द्वारा खेत को जोतता है ।।८०।।

[८१]

अलमजे यमतोऽनियमो हत , सविकलोऽशनतोपि विमोहतः।
वसनतोपि जितेन्द्रियवामतः ,परनतो विरतोऽपि भवामतः।।

ई अज! जितेद्रियवामत वसनत अलम् भवामत विरत (तत) परनत अपि (अलम्)। अजे अनियम हत (अत) यमत (अलम्) विमोहत सविकल. (अत.) अशनत अपि अलम् (अस्तु)।

अलमिति– **ई अज! 'ई' इति सम्बुद्धिवाचकः। न विद्यते जा उत्पत्तिर्यस्य सोऽजस्तत्सम्बुद्धौ। यदि अनियमो न नियमोऽनियमः स्वैराचारो हतो नष्टो तर्हि यमतः संयमात् अलं पर्याप्त स्वैराचारनिरोधस्यैव संयमत्वात्। यदि विमोहतो विगतो मोहो विमोहो मोहभावस्तस्मात् सविकलः सहितस्तर्हि अशनतोऽपि अन्नादपि अलं पर्याप्तम् शरीरगतमोहाभावे सति किमन्नेन? जितेन्द्रियवामतः इन्द्रियाणि च वामश्च कामश्चेतीन्द्रियवामा जिता इन्द्रियवामा येन तस्मात् अथवा कामेन्द्रियं स्मरात्मना, सा जिता येन तस्मात् इन्द्रियकामविजयश्चेल्लब्धस्तर्हि वसनतो वस्त्रादपि अलं पर्याप्तं इन्द्रियविकारतिरोधानायैव वसनस्यावश्यकत्वात्। भवामतो भव एवामो रोगो भवामस्तस्मात् भवामतो विरतो निवृत्तश्चेत् तर्हि परनतोऽपि परश्च नश्चेति परनस्तस्मात् श्रेष्ठजिनादपि अन्यपूज्यादपीति वा अलं पर्याप्तम्। 'जः स्याज्जविनि जोद्भूतौ जयने जिः प्रकीर्तितः'। 'वामः सव्ये हरे कामे'। 'नकारो जिनपूज्ययोः'। 'अमो रोगेऽपि तद्भेदे' इति सर्वत्र विश्वलोचनः ।।८१।।**

अर्थ– ई अज! हे जन्मातीत! यदि अनियम--स्वैराचार छूट गया है तो संयम से क्या? यदि शरीर से मोह छूट गया है तो अन्न से क्या? यदि कामेन्द्रिय को जीत लिया है तो वस्त्र से क्या? यदि ससाररूपी रोग से विरत हो गये है तो श्रेष्ठ जिनेन्द्र अथवा अन्य पूज्य से क्या? अर्थात् सब अनावश्यक है ।।८१।।

[८२]

खविषय विरस नहि मे मनो, विचरदिच्छति शैवगमे मनो ! ।
परिविहाय घृत स सुधी· कदा, जगति तक्रमिदं समधी· कदा! ।।

हे कदा ! मनो!शैवगमे विचरत् मे मन विरसम् खविषयम् नहि इच्छति। जगति स सुधी समधी कदा घृतम् परिविहाय इदम् तक्रम् (इच्छति) ।

खविषयमिति– **हे कदा! क सुखं ददातीति कदास्तत्सम्बुद्धौ क्विबन्त. प्रयोग। हे मनो! हे भगवन्! शैवगमे शिवस्याय शैव स चासौ गमश्चेति शैवगमस्तस्मिन् मोक्षमार्गे विचरद् विचरण कुर्वत् मे मम स्तोतु मनश्चित्त विरस नीरस खविषय हृषीकविषयं नहीच्छति नो काङ्क्षति। उचितमेवैतत्– जगति भुवने स प्रसिद्ध समधी समा धीर्यस्य स। सुधी बुध 'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञ सन्सुधी कोविदो बुध' इत्यमर। घृतमाज्य परिहाय त्यक्त्वा। इदं तक्र मथितं 'उदश्विन्मथितं तक्रं कालशेयं पिबेद्गुरु' इति धनञ्जय। कदा कस्मिन् काले इच्छति? न कदापीत्यर्थः ।।८२।।**

अर्थ– हे सुखदायक स्वामी! मोक्षमार्ग मे विचरण करने वाला मेरा मन नीरस इन्द्रिय विषय की इच्छा नही करता। उचित ही है कि जगत् मे वह कौन समबुद्धि विद्वान् है जो घृत को छोड़कर छाछ की इच्छा करता है?।।८२।।

[८३]

मम मति· क्षणिका ह्यपि चिन्मयी, तदुदिता न चितो यदतन्मयी।
ननु न वीचिन्ततिः सरसा विना, भवतु वा न सरश्च तया विनाः ! ।।

हे विना ! मम क्षणिका अपि चिन्मयी मति (अस्तु) तदुदिता (अत) न चित. यत् (यस्मात्) अतन्मयी (अस्तु) ननु वीचितति सरसा विना न भवतु (किन्तु) सर तया विना भवतु न वा।

ममेति– **हे विनाः!विशिष्टो ना विनास्तत्सम्बुद्धौ, हे विशिष्टनेतः। 'नास्तु नेतरि नावि स्त्री' इति विश्वलोचन। मम स्तोतु क्षणिका अपि क्षायोपशमिकत्वेनास्थिरापि मतिर्बुद्धि हि निश्चयेन चिन्मयी चैतन्यमयी अस्ति। यतश्च सामतिः तदुदिता तस्मात् चितश्चैतन्यात् उदिता समुत्पन्ना। चितश्चैतन्यात् नोदिता चेन्नोत्पन्ना यदि, तर्हि अतन्मयी अचैतन्यरूपा भवतु! तदेवोदाहरति–ननु निश्चयेन वीचितति स्तरङ्गसन्ततिः**

सरसा कासारेण विना न भवतु किन्तु सर स्तया विना भवतु। क्षायोपशमिकी मतिः क्षणिकापि चैतन्यादेव समुत्पन्नत्वाच्चिन्मयी वर्तते किन्तु यच्चैतन्यं नित्येन क्षायिकज्ञानेनापि सहितं भवत्यर्हत्सिद्धावस्थायामिति भावः ।।८३।।

अर्थ— हे विनाः! हे विशिष्ट नेता! मेरी क्षणिक बुद्धि भी — क्षायोपशमिकप्रतिभा भी चैतन्यमयी है, क्योंकि वह उसी चैतन्य से उत्पन्न हुई है परन्तु जो चैतन्य है वह क्षायोपशमिक बुद्धि रूप नहीं भी है। जैसे लहरों की संतति तालाब के विना नहीं होती पर तालाब लहरो के विना भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि क्षायोपशमिक बुद्धि तो चैतन्यमयी है परन्तु चैतन्य क्षायोपशमिक बुद्धि रूप होवे भी और नहीं भी होवे ।।८३।।

[८४]

स्तवनतोऽस्तु मितं विधिबंधनं, बहु लयेदित तेऽत्र शिवं धनम् ।
द्विगुणितं वसु सद्व्यवसायतः, किमपि नश्यति तत् सहसा यतः ।।

शिव धनम् इत ! अत्र ते स्तवनत मितम् विधिबन्धनम् अस्तु (किन्तु) बहु लयेत्। सद्-व्यवसायत. वसु द्विगुणितम् (भवतु) तत् (वसु) किमपि सहसा यत. नश्यति।

स्तवनत इति— **हे शिव धनं इत! हे श्रेयो वित्तं प्राप्त! अत्र जगति ते तव स्तवनत स्तुते मितमल्पं विधिबन्धनं कर्मबन्धः अस्तु भवतु किन्तु बहु विपुलं विधिबन्धनं लयेत् नश्येत्।तदेवोदाहरति यतो यस्मात्कारणात् सद्व्यवसायतः समीचीनोद्योगात् वसु धनं द्विगुणितंभवतु किन्तु तत् किमपि अल्पतरं सहसा झटिति नश्यति नष्टं भवति। यथा समीचीनव्यवसायादायोऽधिको भवति व्ययस्त्वल्पतरो जायते। एवं भगवत्स्तवनात् कर्मबन्धोऽल्पो भवति निर्जरा तु प्रचुरा जायत इति भावः।।८४।।**

अर्थ— हे कल्याणरूप धन को प्राप्त भगवन्! इस जगत् मे यद्यपि आपके स्तवन से अल्पकर्मबन्ध होता है तथापि निर्जरा अधिक होती है जैसे कि अच्छे व्यवसाय से धन दूना होता है पर शीघ्र कुछ धन नष्ट भी होता है।

भावार्थ— जैसे समीचीन व्यापार मे कुछ थोड़ा धन नष्ट होता है पर लाभ अधिक धन का होता है, वैसे ही जिनेन्द्र के स्तवन से कर्मबन्ध कम होता है पर निर्जरा अधिक होती है ।।८४।।

[८५]

सकलवस्तुगमा तव नासिका, परममानमयी भ्रमनाशिका ।
भगवतात्र ततो हि समाहिता, दृगमलाप्यचला च समाहिता।।

हे जिन! तव परममानमयी सकलवस्तुगमा भ्रमनाशिका नासिका (अस्ति) तत. अत्र (नासिकायाम्)

भगवता अमला, अचला, समा , हिता, च दृक् हि समाहिता ।

सकलेति– **हे जिन! तव सकलवस्तुगमा निखिलवस्तुज्ञानवती, परममानमयी दीर्घप्रमाणोपेता, भ्रमनाशिका सन्देहविध्वंसिनी नासिका घ्राणमस्तीति शेषः। तत एव तस्मादेव कारणात् भगवता त्वया स्वामिना अत्र नासिकायां अमला विमला, अचला स्थिरा, समा माध्यस्थ्योपेता, हिता च श्रेयस्करी च दृग् दृष्टिः हि निश्चयेन समाहिता संस्थापिता। नासादृष्टिर्भवानिति भावः ।।८५।।**

अर्थ– हे भगवन्! यतश्च आपकी नासा समस्त पदार्थों को जानने वाली, अधिक परिमाण वाली और भ्रम का नाश करने वाली है। इसीलिये आपने निर्मल, निश्चल, माध्यस्थ्यभाव से सहित तथा हित रूप अपनी दृष्टि इस नासा पर लगा रक्खी है।।८५।।

[८६]

असि गुरुःप्रगुणैश्च समानतः, परमराम इहारममाणतः।
अतिसुखी निजबोधपरागतः, सुपुरुषः प्रकृतावपरागतः ।।

हे देव! प्रगुणै समानत गुरु (असि) इह (निजात्मनि) आसमतात् रममाणत आरममाणत परमराम (असि)। निजबोधपरागत अतिसुखी (असि)। प्रकृतौ अपरागत सुपुरुष (असि)।

असीति– **हे देव! त्वं प्रगुणैः प्रकृष्टाश्च ते गुणाश्चेति प्रगुणास्तैः श्रेष्ठगुणैः। अथवा प्रकृष्टा गुणा येषा तै प्रकृष्टगुणवद्भिः समानतः सहितः संनतो वा। अतः गुरुः श्रेष्ठोऽसि 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्वः। इह शुद्धात्मस्वरूपे रममाणतः रमत इति रममाणस्ततः परमरामोऽसि परमश्चासौ रामश्चेति परमरामः श्रेष्ठरामोऽसि। निजबोधपरागतो निजस्यात्मनो बोधो ज्ञानं तदेव परागः पुष्परजस्तस्मात् सुखी अतिशयसुखसहितोऽसि। प्रकृतौ स्वभावे अपरागतः सांमुख्यात् सुपुरुषः श्रेष्ठपुरुषोऽसि। अथवा प्रकृति साख्यदर्शनाभ्युपगमस्तत्त्वविशेषस्तस्मिन् अपरागतः प्रीत्यभावात् सुपुरुषः शुद्धपुरुषोऽसि ।।८६।।**

अर्थ– हे देव! आप श्रेष्ठ गुणो अथवा श्रेष्ठ गुणवानो से अच्छी तरह नमस्कृत है अत गुरु है। इस आत्मस्वभाव मे सब ओर से रमण करते है अतः राम हैं। आत्मज्ञानरूपी पराग से अत्यन्त सुखी है और प्रकृति मे राग रहित होने से उत्तम पुरुष है ।।८६।।

[८७]

परमवीरक आत्मजयीह त, इति शिवो हृदि लोकजयी हतः।
अणुरसीति ममोरसि तानितः, समयकान् स्वविदा भवतानितः ।।

हे वीर! इह आत्मजयी (अतः) परमवीरकः असि ते हृदि लोकजयी (कामः) हतः इति शिव. (असि) मम उरसि असि इति अणु. असि। तान् (सकलान्) समयकान् स्वावेदा इत (इति) भवतानितः (विश्वव्यापी) असि।

परमवीरक इति– **हे वीर! इह जगति त्वम् आत्मजयी आत्मानं जेतुं शीलः। अथवात्मनो जयो विद्यते यस्य तथाभूतः। अतः परमवीरकः परमवीरः क आत्मा यस्य तथाभूतोऽसि। ते तव हृदि हृदये लोकजयी कामो हतो नष्ट इति शिवः शंकरः कल्याणरूपो वासि। मम स्तोतुः उरसि मनसि असीति हेतोः अणुः अणुरूपोऽसि। मनसोऽणुत्वादिति भावः। तान् सकलान् समयकान् समयन्ते इति समयाः, समया एव समयकास्तान् सकलपदार्थान्। इतः प्राप्त। इति हेतोः भवतानितः भवे तानितो विस्तृतो भवतानितो विश्वव्यापी असि।**

अर्थ– हे वीर! आप आत्मजयी है अत परमवीर है। आपके हृदय मे लोकविजयी–काम नष्ट हुआ है अत आप शिव–शंकर अथवा कल्याणरूप हैं। आप मेरे हृदय मे आसीन है अत अणुरूप है और अपने ज्ञान से समस्त पदार्थों को प्राप्त है अत विश्वव्यापी है ।।८७।।

[८८]

नहि सुखे किल दुःखसमागमे, त्वयि मनो रमते मतमागमे।
निशि वरं शशिनो मुखवृत्तकं, भुवि चकोरवयेऽस्त्विव वृत्तकम् ।।

वृत्तकम् इत! ईश! सुखे नहि दु खसमागमे त्वयि मनो रमते (इति) आगमे मतम् (कथितम्) भुवि चकोरवये शशिन मुखवृत्तकम् निशि (एव) वरम् (न दिवसे) अस्तु।

नहीति – **हे वृत्तकं चारित्रं इत प्राप्त! 'त्रिषु वृत्तं तु चरिते' इति विश्वलोचनः। वृत्तमेव वृत्तकं स्वार्थे कप्रत्ययः। सुखे सुखावसरे नहि तु दुःखसमागमे दुःखस्य समागमस्तस्मिन् सति त्वयि मनश्चित्तं रमते। इति आगमे मतं कथितम्। तदेवोदाहरति भुवि चकोरवये चकोरश्चासौ विश्चेति चकोरविस्तस्मै जीवंजीवपक्षिणे 'जीवंजीवश्चकोरकः' इत्यमरः। शशिनश्चन्द्रस्य मुखवृत्तकं मुखमण्डलं निशि नक्तमेव वरं श्रेष्ठम् अस्तु, दिवसे नेति यावत्।'दुःखावसरे त्वां स्मरति लोको न सुखावसरे' इति लोकोक्तं चकोरपक्षिदृष्टान्तेन स्फुटीकृतम् ।।८८।।**

अर्थ– हे वृत्तकमित! हे चारित्र को प्राप्त भगवन्! सुख के समय नहीं किन्तु दु ख का समागम होने पर आप मे मेरा मन रमता है, ऐसा शास्त्र मे माना गया है। यह उचित ही है क्योकि चकोर पक्षी के लिये चन्द्रमा का मण्डल रात में ही अच्छा लगता है रुचता है, दिन मे नहीं ।।८८।।

[८९]

अभयदानविधावसि सद्‌विधि, र्जगति दर्शितसत्पथसद्‌विधिः ।
भगवता विजितः स्वबलैर्विधि, रिति भवन्तमये मम वै विधिः।।

हे विधे! जगति दर्शितसत्पथसद्‌विधि· अभयदानविधौ सद्‌विधिः असि। भगवता स्वबलै. विधिः विजित इति भवन्तम् (अये) (इति) मम वै विधिः।

अभयेति– **हे विधे! जगति लोके दर्शितसत्पथ-सद्विधिः दर्शितः सत्पथस्य सन्मार्गस्य सद्विधिः समीचीनोपायो येन तथाभूतस्त्वम् अभयदानसद्विधौ अभयदानस्य सद्विधौ सम्यक्करणे सद्विधिः सम्यग् विधानमसि । भगवता त्वया स्वबलैरात्मबलैः विधिः कर्म विजितः। इति हेतो भवन्तम् अये गच्छामि प्राप्नोमीति यावत्। इति मम स्तोतु वै निश्चयेन विधिः अस्तीति शेषः ।।८९।।**

अर्थ– हे भगवन्! जगत् मे आपने सन्मार्ग का समीचीन उपाय दिखाया है अत. आप अभयदान के करने मे उत्तम विधि से युक्त है– अतिशय निपुण है। आपने स्वकीय आत्मबलो से विधि–कर्मकलाप को जीता है इसलिये मै आपकी शरण मे आया हूँ यही मेरी निश्चय से विधि है ।।८९।।

[९०]

तव ललाटतले ललिते ह्यये!, स्थितकचावलिमित्थमहं ह्यये ।
सरसि चोल्लसिते कमलेऽमले, सविनयं स्थितिरिष्ट सतामले· ।।

अये सताम् इष्ट ! तव ललित ललाटतल स्थितकचावलिम् अमल सरसि च उल्लसित कमल सविनयम् हि अल स्थिति इत्थम् अह हि अय।

तवेति– **अये सतामिष्ट!हे साधूनाप्रिय! तव भवतो ललिते सुन्दरे ललाटतले भालमध्ये स्थितकचावलिः स्थितालकपङ्क्तिं। अमले स्वच्छे सरसि च कासारे च उल्लसिते सुशोभिते प्रफुल्ल इत्यर्थः कमले सरोजे सविनयं हि अलेर्भ्रमरस्य स्थितिरस्तीत्य अहं हि अये जानामि। ये ये गत्यर्थास्ते ते ज्ञानार्था अपीत्युक्ते। कनकाभभालतले स्थिता श्यामलालकावलिः सरसि प्रफुल्लसरोजमध्ये स्थिता भ्रमरावलिरिव शोभत इति भावः ।।९०।।**

अर्थ– हे साधुजन प्रिय! आपके सुन्दर ललाटतल पर स्थित केशावली, स्वच्छ तालाब मे प्रफुल्ल कमल पर सविनय स्थित भ्रमरावलि है, ऐसा समझता हूँ।।९०।।

[९१]

शिरसि भाति तथा ह्यमले तरां, कचततिः कुटिला धवलेतरा ।
मलयचन्दनशाखिनि विश्रुते, विषधराश्च यथा जिन!विश्रुते!।।

हे विश्रुते! तव हि अमले शिरसि धवलेतरा कुटिला कचततिः तराम् तथा भाति। विश्रुते मलयचन्दनशाखिनि विषधराः च यथा (भांति)।

शिरसीति— हे विश्रुते! विशिष्टा श्रुतिरागमो यस्य तत्सम्बुद्धौ। जिन! भगवन्! तव भवतो हि निश्चयेन अमले स्वच्छे शिरसि मूर्ध्नि धवलेतरा श्यामला कुटिला वक्रा कचततिः केशपङ्क्तिः तथा तादृग् भातितराम् अतिशयेन शोभते यथा विश्रुते प्रसिद्धे मलयचन्दनशाखिनि मलयाचलस्थितचन्दनतरौ विषधरा नागाश्च भान्तीति शेषः।।९१।।

अर्थ— हे विश्रुते! विशिष्ट श्रुति के धारक! आपके निर्मल शिर पर कालेकाले घुघराले बाल उस प्रकार अत्यन्त सुशोभित हो रहे हैं जिस प्रकार कि मलयचन्दन के वृक्ष पर काले—काले सांप सुशोभित होते है ।।९१।।

[९२]

ननु नरेशसुखं सुरसम्पदं, ह्यभिलषामि न भुव्यपि सत्पदम् ।
जडतनो र्वहनं द्रुतमेत्विति, मज मतिः खरवत् किल मे त्विति ।।

अज! ननु नरेशसुख सुरसम्पदम् भुवि अपि सत्पद न अभिलषामि (किन्तु) खरवत् जडतनो वहनम् द्रुतम् इतिम् एतु। किल इति मे मतिः [अस्ति] तु [पादपूर्तौ]।

नन्विति— हे अज! हे जन्मातीतजिनेन्द्र! ननु निश्चयेनाहं नरेशसुखं राजसुखं सुरसम्पदं देवैश्वर्यं भुवि पृथिव्यामपि सत्पदं चक्रवर्त्यादिश्रेष्ठपदंनहि अभिलषामि वाञ्छामि। किन्तु खरवत् गर्दभवत् जड़तनोर्जडशरीरस्य वहनं धरणं द्रुतं शीघ्रं इतिं समाप्तिं एतु प्राप्नोतु किल इति हि मे मतिरस्ति। तु पादपूर्तौ ।।९२।।

अर्थ— हे अज! मै राजसुख, देवविभूति और पृथिवी पर समीचीन पद नहीं चाहता हू किन्तु गर्दभ के समान जड शरीर का ढोना शीघ्र ही समाप्ति को प्राप्त हो, यही मेरी चाह है ।।९२।।

[९३]

तवलवाश्च तरंति सुभावि मे, परममानमदोऽत्र विभाविमे।
भगवतोऽस्त्यिति यद् ह्यमितं श्रुतं, सह दृशा मुनिना पठितं श्रुतम् ।।

हे भगवन्! अदः सुभावि परममानम् अत्र विभौ तव इमे लवाः च तरति इति भगवतः अमितम् श्रुतम् अस्ति यत् (मया) मुनिना दृशा सह हि पठितम् श्रुतम्।

तवेति— हे भगवन्! अदस्तत् सुभावि सुभविष्यत् परममानं परमं च तन्मानं चेति परममानं समुत्कृष्टज्ञानम् विभौ व्यापिनि अत्रोत्कृष्टज्ञाने तव भवत इमे लवाः च विलासा

दशाश्चेति यावत् तरन्ति प्रतिफलन्ति इतीत्थं भगवतस्तव अमितमपरिमितं श्रुतम् अस्ति यत् मया मुनिना स्तोत्रा दृशा श्रद्धया सह हि निश्चयेन पठितमधीतं श्रुतंच । श्रुतज्ञानमेव केवलज्ञानरूपेण परिणमतीति यावत् ।।९३।।

अर्थ– हे भगवन्! यह भावी उत्कृष्ट ज्ञान है और इस व्यापक ज्ञान मे आपकी ये समस्त दशाएं तैर रही है-प्रतिबिम्बित हो रही है,ऐसा भगवान् आपका अपरिमित श्रुत है जो मुझ मुनि ने श्रद्धा के साथ निश्चय से पढ़ा है और सुना है।

भावार्थ– बारहवे गुणस्थान के अन्त मे विद्यमान श्रुतज्ञान ही घातिचतुष्क का क्षय हो जाने पर केवल ज्ञान रूप परिणत हो जाता है। वह लोकालोकवर्ती पदार्थों को जानने से व्यापक होता है और उसमे सब पदार्थ प्रतिफलित होते है ।।९३।।

[९४]

मयि रतोऽहमतो भवतो रुचि, गतबल स्तु विधिर्भवतोऽरुचिः।
विषधरो विषदन्तविहीनक, सहचरोऽपि भवन् किमु हीनक।।

हे इन! क! भवत रुचि अहम् रत अत भवत अरुचि मयि अस्तु (अत) गतबल विधि (अस्तु)। विषदन्तविहीनक हि विषधर, सहचर भवन् अपि किमु?(क्वापि हानि न)

मयीति– **हे इन! हे ईशित!'भर्तेन्द्र इन ईशिता' इति धनञ्जय। हे क! हे ब्रह्मन्! 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु' इति विश्वलोचन। भवतस्तव रुचि श्रद्धायाम् ज्योतिषि वा अह स्तोता रतो लीन। अतोऽस्मात् कारणात् भवतः संसारात् अरुचि अप्रीतिः मयि स्तोतरि अस्तु भवतु। गतबलो निर्बलः विधि कर्म अस्तु। विषदन्तविहीनक विषदन्तेन विहीनो विषदन्तविहीन स एव विषदन्तविहीनक स्वार्थे कप्रत्यय। विषधरः सर्प सहचरो सहगामी भवन्नपि किमु? कापि हानिर्नास्तीति भाव।।९४।।**

अर्थ– हे स्वामिन्! हे ब्रह्मन्! आपकी रुचि–श्रद्धा या ज्योति मे मै रत हूँ– लीन हूँ अत ससार से अरुचि मुझमे हो। सम्प्रति क्षीणशक्ति वाले कर्म मुझमे है तो रहे, उनसे हानि नहीं। जैसे विषदन्त से रहित साप साथ मे रहे तो क्या करेगा?

भावार्थ– जिनेन्द्रदेव का श्रद्धान होने से सम्यग्दर्शन हो जाता है। विरतसम्यग्दृष्टि जीव संसार मे रहता हुआ भी ससार से विरक्त रहता है। वह चाहता तो है कि कर्म की एक कणिका भी मेरी आत्मा मे न रहे पर निष्कर्म अवस्था प्राप्त कर लेना उसके तात्कालिक पुरुषार्थ की बात नहीं है। मिथ्यात्व के नष्ट हो जाने से सत्ता मे स्थित कर्मो की शक्ति क्षीण हो जाती है। ऐसे शक्तिहीन कर्म संसारदशा मे विद्यमान रहते है पर उनसे उतनी हानि नहीं ।।९४।।

किल विदा कमयंति विरागिणस्तदितरद् कुविदा भुवि रागिणः ।
शुचिमिते जिन ते भव सन्मते !, समुदितं विशदं,त्विति सन्मते ।।

हे सन्मते ! भव जिन ! भुवि विरागिण. किल विदा कम् अयंति। रागिणः कुविदा तदितरत्(दु.खम्) (अयन्ति) इति ते सन्मते शुचिम् इते (शुचिमते) विशदम् समुदितम्।

किलेति– **हे सन्मते! सती मतिर्यस्य स सन्मतिस्तत्सम्बुद्धौ हे सद्बुद्धिविशोभित! हे महावीर! वा । हे भव जिन! श्रेयोरूप जिन! भुवि वसुधायां किलेति वाक्यालंकारे विरागिणो रागरहिता जना विदा सम्यग्ज्ञानेन कं सुखम् अयन्ति प्राप्नुवन्ति। रागिणस्तु रागयुक्ता जनास्तुकुविदा मिथ्याज्ञानेन तदितरं तस्मात्सुखादितरद् दुःखमयन्ति। इतीत्थं शुचिं नैर्मल्यमिते प्राप्ते ते तव सन्मते समीचीनमते विशदं स्पष्टं यथा स्यात्तथा समुदितं कथितं त्वयेति शेषः ।।९५।।**

अर्थ– हे सद्बुद्धि से विशोभित ! हे प्रशस्तजिन ! पृथिवी पर विरागी मनुष्य सम्यग्ज्ञान से सुख को प्राप्त होते है और रागी मनुष्य कुज्ञान से दुःख को प्राप्त होते हैं। इस तरह शुचिता को प्राप्त आपके समीचीन मत मे स्पष्ट रूप से कहा गया है।

भावार्थ– रागपरिणति दु ख का कारण है और विरागपरिणति सुख का कारण है। जिनधर्म मे स्पष्ट कहा गया है कि रागी जीव कर्मवन्ध करता है और विरागी जीव कर्मबन्ध से छूटता है ।।९५।।

[९६]

मम सुवित् तनुरद्य मितांजसा, तव नुतेर्लघुना ह्यमिताज सा।
इति समुद्गम एव भृशं गमे, सरिदिवात्र सरित्पतिसंगमे।।

हे अज ! अत्र समुद्गमे गमे एव सरित् (तनु) (किन्तु) सरित्पतिसगमे इव मम सुवित् अद्य (एव) मिता तनु. (अस्ति किन्तु)तव नुते लघुना अजसा सा हि अमिता (स्यात्)।

ममेति– **हे अज! हे जन्मातीत! यद्यपि मम स्तोतु सुवित् सम्यग्ज्ञानं अद्य साम्प्रतम् अञ्जसा याथार्थ्येन तनु अल्पा मिता सीमिता चास्ति तथापि तव नुतेः स्तुतेः सा सुवित् लघुना शीघ्र लघुना कालेनेति यावत्। हि निश्चयतः अमिता सीमातीता स्यादिति शेष। जिनस्तुतिप्रभावादल्पमपि सम्यग्ज्ञानं केवलज्ञानेन परिणमतीत्यर्थ। तदेवोदाहरति– अत्र जगति सरित् इव नदी यथा इति समुद्गमे एव अयनमितिर्गति-रित्यर्थः तस्याः समुद्गमे प्रारम्भ एव तनुः कृशा भवति, गमे मार्गे 'गमो द्यूतान्तरे मार्गे' इति विश्वलोचनः। सरित्पतिसंगमे च सागरसमागमे च भृशमत्यन्तम् अमिता सुविस्तृता भवति ।।९६।।**

अर्थ– हे अर्ज! यद्यपि आज मेरा सम्यग्ज्ञान वास्तव मे अल्प और सीमित है तथापि आपके स्तवन से वह शीघ्र ही निश्चयतः अपरिमित हो सकता है। जैसे कि नदी उद्गम स्थान मे ही पतली होती है। परन्तु मार्ग मे और समुद्र का समागम होने के समय अत्यन्त अपरिमित–सुविस्तृत हो जाती है ।।९६।।

[९७]

विरत ईश ! भवामि न हंसतः, पदयुगादिह तावदहं सतः ।
विदमला मम नृत्यति सम्मुखं, सदयायावदिता विहसन्मुखम् ।।

हे सदय!ईश! हसत सत पदयुगात् अहम् तावत् विरत न भवामि यावत् ममसम्मुखं विहसन्मुख इता विदमला नृत्यति।

विरत इति– **हे सदय! हे सकृप! ईश! स्वामिन्! इह जगति। अहं स्तोता हंसतो विवेकरूपात् आत्मरूपाद्वा सत. साधोस्तव पदयुगात् चरणयुगलाद् तावत् विरतो विरक्तो न भवामि यावत् मम सम्मुखं पुरस्तात्। विहसन्मुख प्रसन्नवदनम् इता प्राप्ता अमलाविद् निर्मलाज्ञाप्तिश्चेतनेति यावत् नृत्यति नृत्यं करोति। यावन्मम हृदये निर्मलविचारसन्ततिर्विद्यते तावत्त्वच्चरणारविन्दयुगलभक्तितो विरतो न भविष्यामीति मे संकल्पः ।।९७।।**

अर्थ– हे सदय! ईश! हे दयालो भगवन्! इस जगत् मे मै आपके विवेकरूप श्रेष्ठ चरण युगल से तब तक विरत– पराङ्मुख नहीं होता हूँ जब तक मेरे सन्मुख प्रसन्नवदना निर्मलचेतना नृत्य करती है ।।९७।।

[९८]

स्तवनतो रसना च शिरो नते. पथि पदौ गमनाच्च गुरो न! ते ।
इति समीक्षणतो नयने न ! मे, ह्यवयवा विमला सुमुने नमे! ।।

हे सुमुने!न न! नमे! ते स्तवनत मे रसना (ते) पथि गमनात् पदौ (ते) नते शिर (ते) समीक्षणत (मे) नयने इति (सर्वे) हि अवयवा विमला (भूता)।

स्तवनत इति– **हे सुमुने! हे शोभनयते! हे न न! हे पूज्यजिनेन्द्र! हे न गुरो! पूज्यगुरो! हे नमे! नमितीर्थकर! ते तव स्तवनत स्तुते रसना जिह्वा, नतेर्नमस्कारात् शिरोमूर्धा, पथि मार्गे गमनात् पदौ चरणौ, समीक्षणत समवलोकनात् नयने लोचने च। इतीत्थं मे मम अवयवा अङ्गानि हि निश्चयेन विमला निर्मला जाता इति शेषः ।।९८।।**

अर्थ– हे सुमुने! हे पूज्य जिनराज! हे पूज्य गुरुदेव! हे नमिनाथ भगवन्! आपके स्तवन से जिह्वा, नमस्कार से मस्तक, मार्ग मे गमन करने से पैर और दर्शन से दोनो नेत्र, इसप्रकार मेरे सभी अङ्ग निश्चय से निर्मल हो गये ।।९८।।

[९९]

गुणवतामिति चासि मतोऽक्षर,किल तथापि न चित्तवतोऽक्षरः ।
नहि जिनाप्यसि तेन विना सितः, स्तुतिरियं च कृतात्र विनाशितः।।

हे जिन (त्वं) अक्षर असि इति गुणवताम् मत किल तथापि चित्तवत अक्षर (शब्दमयः) न (असि)। (किन्तु) तेन विना (शब्देन विना) (मया) सित (ज्ञात) अपि न (असि)। अत. अत्र विनाशितः (शब्दै.) इयम् च (ते) स्तुति (मया) कृता।

गुणवतामिति– **हे जिन! त्वम् अक्षरोऽविनाशी असि। इतीत्थं गुणवतां गुणधारिणां मत किल तथापि चित्तवतो विचारशीलस्य अक्षरः शब्दमयो नासि। अक्षरस्य पौद्गलिकत्वा दात्मरूपत्वं नास्तीति भावः। तेनाक्षरेण विना शब्देन विना त्वं सितो ज्ञातोऽपि नासि 'सितं श्वेतसमाप्तयोः। त्रिषु ज्ञातेऽपि बद्धेऽपि' इति विश्वलोचनः। अतोऽत्र लोके विनाशित शब्दैर्विना नाशं प्राप्तः। इयमेषा च ते स्तुतिः कृता मयेति शेषः ।।९९।।**

अर्थ– हे जिन! यद्यपि आप अक्षर–अविनाशी हो ऐसा गुणवानो का मत है तथापि चित्तवान्–आत्मा के अक्षररूपता कैसे हो सकती है ? क्योकि आप सचेतन है और अक्षर पौद्गलिक होने से जड़ रूप है। आप अक्षररूप नहीं है यह ठीक है फिर भी अक्षर के विना आप ज्ञात नहीं है। अर्थात् अक्षरो से ही आपका ज्ञान होता है। अतः इस जगत् मे आपकी यह स्तुति मैने शब्दो से की है ।।९९।।

[१००]

वै विषमयीमविद्यां विहाय ज्ञानसागरजा विद्याम् ।
सुधामेम्यात्मविद्यां नेच्छामि सुकृतजां भुवि द्याम् ।।

अत्र भुवि अहम् आत्मवित् सुकृतजा याम् द्याम् न इच्छामि वै विषमयीम् अविद्याम् विहाय "ज्ञानसागरजाम्" सुधाम् विद्याम् एमि।

वै इति– **अत्र भुवि अस्यां पृथिव्यामहं वै निश्चयेन सुकृतजां पुण्योद्भूतां द्यां स्वर्ग नेच्छामि नाभिलषामि किन्तु विषमयीं गरलरूपाम् अविद्यामज्ञानपरिणतिं विहाय त्यक्त्वा ज्ञानसागरजां ज्ञानमेव सागरः समुद्रस्तस्माज्जातां ज्ञानसागर एतन्नामा गुरुस्तस्माज्जातां समुदितां वा आत्मविद्याम् आत्मज्ञानपरिणतिरूपां सुधां पीयूषं एमि प्राप्नोमि ।।१००।।**

अर्थ– हे भगवन्! इस पृथिवी पर मै निश्चय से पुण्योदय से प्राप्त होने वाले स्वर्ग को नहीं चाहता हूँ किन्तु विषरूप अविद्या को छोड़कर ज्ञानरूप सागर (पक्ष मे ज्ञानसार गुरु) मे उत्पन्न आत्मविद्यारूपी सुधा को प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ– यहां श्लेष से 'ज्ञानसागर' नामक विद्या एवं दीक्षा गुरु का उल्लेख किया है। लोक मे प्रसिद्ध है कि समुद्र मन्थन से विष और अमृत निकले थे उनमे से देवो ने अमृत को ग्रहण किया था और उसके फलस्वरूप वे अमर हो गये। यहाँ ज्ञानसागर गुरु के सपर्क से अज्ञान और ज्ञान का मुझे अनुभव हुआ। उनमे से अज्ञान विषरूप है उसे छोडकर मै आत्मज्ञान रूपी अमृत को ग्रहण करता हूँ और उसके फलस्वरूप अमर हो जाना चाहता हूँ। जन्ममरण के चक्र से निवृत्त होना चाहता हूँ ।।१००।।

मङ्गलकामना

विभावत· सुदूराणां सन्तति र्जयतात् सताम्।
द्यामेत्य पुनरागत्य स्वानुभूते. शिव व्रजेत्।।१।।
साधुना सा पद ह्येतु भूपतौ च जने जने ।
गवि सर्वत्र शान्ति स्यात् मदीया भावना सदा।।२।।
रैपवृत्तिं परित्यज्य ना नवनीतमार्दवम् ।
णलाभाय भजेद् भव्यो भक्त्या साक भृशं सदा।।३।।
विद्याब्धिना सुशिष्येण ज्ञानोदधेरलङ्कृतम्।
रसेनाध्यात्मपूर्णेन शतक शिवदं शुभम्।।४।।
चित्ताकर्षि तथापि ज्ञै पठनीय विशोध्य तै ।
तं मन्ये पण्डितं योऽत्र गुणान्वेषी भवेद् भवे।।५।।

अर्थ– विभाव म अत्यन्त दूर रहने वाले साधुजनो की सन्तति –परम्परा जयवत रहे जो स्वर्ग जाकर पश्चात् आकर स्वानुभूति से मोक्ष को प्राप्त करते है ।।१।।

इस समय वह सा– लक्ष्मी राजा तथा जन–जन मे पद स्थान को प्राप्त हो एव पृथिवी पर सर्वत्र सदा शान्ति रहे यह मेरी भावना है ।।२।।

भव्यपुरुष हिंसावृत्ति को छोडकर मक्खन जैसी कोमलता को प्राप्त हो एवं ज्ञान की प्राप्ति के लिए भक्ति के साथ सदा भगवान् की आराधना करे ।।३।।

आचार्य ज्ञानसागर जी के शिष्य विद्यासागर ने अध्यात्मपूर्ण रस से अलकृत, कल्याणप्रद शुभशतक की रचना की है ।।४।।

यद्यपि यह शतक चित्ताकर्षक है तथापि ज्ञानीजनो को शोधकर पढ़ना चाहिये। इस जगत् मे मै उसे पण्डित मानता हूँ जो गुणो का अन्वेषण करने वाला हो ।।५।।

सन्तों नमस्कृत सुरों बुध मानवों से,
ये हैं जिनेश्वर नमूं मन वाक्तनों से।
पश्चात् करूँ स्तुति निरंजन की निराली,
मेरा प्रयोजन यही कि मिटे भवाली ।।१।।

स्वामी ! अनन्त-गुण-धाम बने हुए हो,
शोभायमान निज की द्युति से हुए हो।
मृत्युंजयी सकल-विज्ञ विभावनाशी,
वंदूँ तुम्हें, जिन बनूँ सकलावभाशी (षी)।।२।।

सच्चा निजी पद निरापद सम्पदा है,
तो दूसरा पद घृणास्पद आपदा है।
हे ! भव्यकंजरवि ! यों तुमने बताया,
शुद्धात्म से प्रभव वैभवभाव पाया ।।३।।

जो चाहता शिव सुखास्पद सम्पदा है,
वो पूजता तव पदाम्बुज सर्वदा है।
पाना जिसे कि धन है अयि 'वीर' देवा !
क्या निर्धनी धनिक की करता न सेवा ? ।।४।।

सत् तेज से मदन को तुमने जलाया,
अन्वर्थ नाम फलरूप ''महेश'' पाया।
नीराग हो अमति सन्मति विज्ञ प्यारे,
स्वामी मदीय मन को तुम ही सहारे ।।५।।

हे ! देव दो नयन के मिस से तुम्हारे,
है वस्तु को समझने नय मुख्य प्यारे।
यों जान, मान, हम लें उनका सहारा,
पावें अवश्य भवसागर का किनारा ।।६।।

उत्पाद ध्रौव्य व्यय भाव सुधारता हूँ,
चैतन्यरूप वसुधातल पालता हूँ।
पाते प्रवेश मुझमें तुम हो इसी से,
स्वामी ! यहाँ अमित सागर में शशी से ।।७।।

जो आपमें निरत है सुख लाभ लेने,
आते न पास उसके विधि कष्ट देने ।
क्या सिंह के निकट भी गज झुण्ड जाता ?
जाके उसे भय दिखाकर क्या सताता ?।।८।।

हे! शुद्ध! बुद्ध! मुनिपालक! बोधधारी !
है कौन सक्षम कहे महिमा तुम्हारी ?
ऐसा स्वयं कह रही तुम भारती है,
शास्त्रज्ञ पूज्य गणनायक भी व्रती है ।।९।।

है आपने स्वतन की ममता मिटादी,
सच्चेतना सहज से निज में बिठादी ।
लो! देह में इसलिये कनकाभ जागी,
मोहान्धकार विघटा, निज ज्योति जागी ।।१०।।

श्रीपाद ये कमल-कोमल लोक में हैं,
ये ही यहाँ शरण पंचम काल में हैं ।
है भव्य कज खिलता, इन दर्श पाता,
पूजूँ अतः हृदय में इन को बिठाता ।।११।।

लोहा बने कनक पारस संग पाके,
मैं शुद्ध किन्तु तमसा तुम संग पाके ।
वो तो रहा जड़,रहे तुम चेतना हो,
कैसा तुम्हें जड़ तुला पर तोलना हो?।।१२।।

सानन्द भव्य तुम में लवलीन होता,
पाता स्वधाम सुख का, गुणधाम होता ।
औ देह त्याग कर आत्मिक वीर्य पाता,
संसार में फिर कभी नहिं लौट आता ।।१३।।

काले घने भ्रमर से शिर में तुम्हारे,
ये केश हैं नहि विभो ! जिन देव प्यारे ।
ध्यानाग्नि से स्वयम को तुमने जलाया,
लो ! सान्ध्र धूम्र मिस बाहर राग आया ।।१४।।

लो ! आपके सुभग-सौम्य-शरीर द्वारा,
दोषी शशी अयशधाम नितान्त द्वारा ।
वो आपके चरण की नख के बहाने,
सेवा तभी कर रहा यश कान्ति पाने ।।१५।।

लो आपकी सुखकरी कविता विभा से,
मोहान्धकार मिटता अविलम्बता से ।
ज्योतिर्मयी अरुण है जब जाग जाता,
कैसे कहूं कि तम है कब भाग जाता ? ।।१६।।

सौंदर्य पान कर भी मुख का तुम्हारे,
प्यासा रहा मन तभी, तुम यों पुकारे ।
पीयूष पी निज, तृषा यदि है बुझाना,
बेटा तुझे सहज शाश्वत शांति पाना ।।१७।।

मूँगे समा अधर पे स्मित सौम्य रेखा,
है प्रेम से कह रही मुझ को सुरेखा ।
आनन्द वार्धि तुम में लहरा रहा है,
पूजूँ तुम्हें, बन दिगम्बर, भा रहा है ।।१८।।

नक्षत्र है गगन के इक कोन में ज्यों,
आकाश है दिख रहा तुम बोध में त्यों ।
ऐसी अलौकिक विभा तुम ज्ञान की है,
मन्दातिमन्द पड़ती द्युति भानु की है ।।१९।।

है एक साथ तुममें यह विश्व सारा,
उत्पन्न हो मिट रहा ध्रुव भाव धारा ।
कल्लोल के सम सरोवर में न स्वामी !
पै ज्ञेय ज्ञायकतया, शिवपंथगामी ।।२०।।

मैं रागत्याग तुझमें अनुराग लाके,
होता सुखी कि जितना लघु ज्ञान पाके ।
तेरी बृहस्पति सुभक्ति करें, तथापि,
हो स्वर्ग में नहिं सुखी उतना कदापि ।।२१।।

ज्यों ही मदीय मन है तव स्पर्श पाता,
त्यों ही त्वदीय सम भासुर हो सुहाता।
रागी विराग बनता तव संघ में है।
लो! नीर, दूध बनता गिर दूध में है।।२२।।

मानूँ तुम्हें तुम शशी तम में भरी हैं,
सच्ची सुधा गुणमयी मन को हरी है।
ऐसा न हो, मम मनोमणि से भला यों,
सम्यक्त्वरुप झरना, झर है रहा क्यों?।।२३।।

सम्मोह से भ्रमित हो जग पाप पाता,
पै आपका मन नहीं अघ ताप पाता।
लोहा स्वभाव तजता जब जंग खाता,
हो पंक में कनक पै सब को सुहाता।।२४।।

हो केवली तुम बली शुचि शान्त शाला,
ऐसा तुम्हें कब लखे अघ दृष्टि वाला।
हो पीलिया नयन रोग जिसे हमेशा,
पीला शशी नियम से दिखता जिनेशा!।।२५।।

ऐसी कृपा यह हुई मुझपे तुम्हारी,
आस्था जगी कि तुममें मम निर्विकारी।
ससार भोग फलतः रुचते नहीं हैं,
प्रत्यक्ष मात्र तुम हो जड़ गौण ही है।।२६।।

स्वामी! निवास करते मुझमें सुजागा,
आत्मानुराग फलतः पर राग भागा।
लो दूध में जब कि माणिक ही गिरेगा,
क्या लाल लाल तब दूध नहीं बनेगा?।।२७।।
वैराग्य से तुम सुखी भज के अहिंसा,
होता दुखी जगत है कर राग हिंसा।
सत् साधना सहज साध्य सदा दिलाती,
दुःसाधना दुखमयी विष ही पिलाती।।२८।।

श्रद्धा समेत तुम में रममान होता,
बो ओज तेज तुम सा स्वयमेव ढोता।
काया हि कंचन बने कि अचेतना हो,
आश्चर्य क्या ? द्युतिमयी यदि चेतना हो ।।२९।।

जैसा कि वृक्ष फल फूल लदा सुहाता,
माथा, धरा जननि के पद में झुकाता।
ऐसे लगे कि गुण भार लिए हुए हो,
चैतन्यरूप-जननी पद में झुके हो ।।३०।।

छत्रादि स्वर्णमय वैभव पा लिए हो,
स्वामी ! न किन्तु उनसे चिपके हुए हो।
तेरी अपूर्व गरिमा गणनायकों से,
जाती कही न फिर क्या ? हम बालकों से ।।३१।।

विज्ञानरूपरमणी तुममें शिवाली,
जैसी लसी अमित अव्यय कांतिवाली।
वैसी नहीं शशिकला शशि में, निराली,
अत्यन्त चूँकि कुटिला व्यय-शील-वाली ।।३२।।

देखा विभामय विभो मुख आपका है,
ऐसा मुझे सुख मिला नहिं नाप का है।
जैसा यहां गरजता लख मेघ को है,
पाता मयूर सुख भूलत खेद को है ।।३३।।

सर्वज्ञ हो इसलिए विभु हो कहाते,
निस्संग हो इसलिये सुख चैन पाते।
मै सर्व सग तजके तुम संग से हूँ,
आश्चर्य आत्म सुख लीन अनंग से हूँ ।।३४।।

आकाश में उदित हो रवि विश्वतापी,
संतप्त त्रस्त करता जग को प्रलापी।
पै आप कोटि रवि तेज स्वभाव पाये,
बैठे मदीय उर में न मुझे जलाये ।।३५।।

वे कामधेनु सुरपादप स्वर्ग में ही,
सीमा लिए दुख घुले सुख दे, विदेही !
पै आपका स्तवन शाश्वत मोक्ष-दाता,
ऐसा वसन्ततिलका यह छन्द गाता ।।३६।।

जो आपकी स्तुति सरोवर में घुली है,
मेरी खरी श्रमणता शुचि हो धुली है।
तो साधु स्तुत्य मम क्यों न सुचेतना हो?
औ शीघ्र क्यों न कल-केवल-केतना हो? ।।३७।।

तल्लीन नित्य निज में तुम हो खुशी से,
नीरादि से परम शीतल हो इसी से।
पा अग्नि योग जल है जलता जलाता,
कर्माग्नि से तुम नहीं यह साधु गाथा ।।३८।।

लो आपकी रमणि एक गुणावली है,
दूजी सती विषदकीर्तिमयी भली है।
पै एक तो रम रही नित आप में है,
कैसा विरोध यह ? एक दिगंत में है ।।३९।।

देवाधिदेव मुनिवन्द्य कुकाम बैरी,
पाती प्रवेश तुम में मति हर्ष मेरी।
जैसी नदी अमित सागर में समाती,
होती सुखी मिलन से दुख भूल जाती ।।४०।।

उत्फुल्ल नीरज खिले तुम नेत्र प्यारे,
है शोभते करुण केशर पूर्ण धारे।
मेरा वहीं पर अतः मन स्थान पाता,
जैसा सरोज पर जा अलि बैठ जाता ।।४१।।

हैं आप दीनजनरक्षक, साधु माने,
दावा प्रचण्ड विधि कानन को जलाने।
पंचेंद्रि-मत्त-गज-अंकुश हैं सुहाते,
हैं मेघ विश्वमदताप-तृषा बुझाते ।।४२।।

चारों गती मिट गयी तुम ईश ! शम्भू,
हो ज्ञान पूर निजगम्य अतः सयम्भू,
ध्यानाग्नि दीप्त मम हो तुम बात हो तो,
संसार नष्ट मम हो तुम हाथ हो तो ।।४३।।

हो आपको नमन तो सघना अघाली,
पाती विनाश पल में दुख शील वाली ।
फैला पयोद दल हो नभ में भले ही,
थोड़ा चले पवन तो बिखरे उड़े ही ।।४४।।

श्री पाद मानस सरोवर आपका है,
होते सुशोभित जहाँ नख मौक्तिका हैं ।
स्वामी ! तभी मनस हंस मदीय जाता,
प्रायः वहीं विचरता चुग मोति खाता ।।४५।।

लो ! आपके चरण मे भवभीत मेरा,
विश्रान्त है अभय पा मन है अकेला ।
माँ का उदारतम अंक अवश्य होता,
निःशंक हो शरण पा शिशु चूँकि सोता ।।४६।।

हो वर्धमान गतमान प्रमाणधारी,
क्यों ना सुखी तुम बनो जब निर्विकारी ।
स्वात्मस्थ हो अभय हो मन अक्षजेता,
हो दुःख से बहुत दूर निजात्मवेत्ता ।।४७।।

सन्मार्ग पे विचरता मुनि हो अकेला,
स्वामी ! हुआ बहुत काल व्यतीत मेरा ।
मेरे थके पग अभी कितना विहारा,
बोलो कि दूर कितना तुम धाम प्यारा ।।४८।।

स्वामी अपूर्व रवि हो द्युति धाम प्यारे,
ये तेज हीन रवि सम्मुख हो तुम्हारे,
मानो नहीं स्वयम को रवि हे विरागी !
क्यों अग्नि है मम तपो मणि में सुजागी ? ।।४९।।

हे ईश धीश मुझमें बल बोधि डालो !
कारुण्य धाम करुणा मुझमें दिखालो ।
देहात्म में बस विभाजन तो करूँगा,
शीघ्रातिशीघ्र सुख भाजन तो बनूँगा ।।५०।।

विज्ञान से शमित की रति की निशा है,
पाया प्रकाश तुमने निज की दशा है ।
तो भी निवास करते मुझमें विरागी !
आलोक धाम तुम हो, तम मै, सरागी ।।५१।।

शुद्धात्म में तुम सुनिश्चय से बसे हो,
जो जानते जगत को व्यवहार से हो ।
होती सदा सहजवृत्ति सुधी जनों की,
इच्छामयी विकृतवृत्ति कुधी जनों की ।।५२।।

ससार को निरखते न यथार्थ में है,
लो आप केवल निजीय पदार्थ मे है।
संसार ही झलकता दृग मे तथा है,
नाना पदार्थ दल दर्पण मे यथा है ।।५३।।

स्वादी तुम्हीं समयसार स्वसम्पदा के,
आदी कुधी सम नहीं जड़ सम्पदा के ।
औचित्य है भ्रमर जीवन उच्च जीता,
मक्खी समा मल न, पुष्प पराग पीता ।।५४।।

है वस्तुतः जड़ अचेतन ही तुम्हारी,
वाणी तथापि जग पूज्य प्रमाण प्यारी ।
है एक हेतु इसमे तुमने निहारा,
विज्ञान के बल अलोक त्रिलोक सारा ।।५५।।

सम्यक्त्व आदिक निजी बल मोक्षदाता,
वे ही अपूर्ण जब लौं सुर सौख्यधाता ।
औचित्य वस्त्र बनता निज तन्तुओं से,
ऐसा कहा कि तुमने मित सत् पदों से ।।५६।।

होता विलीन भवदीय उपासना में,
तो भूलता सहज ही सुख याचना मैं ।
जो डूबता जलधि में मणि ढूँढ लाने,
क्या मांगता जलधि से मणि दे! सयाने! ।।५७।।

औचित्य! है प्रथम अम्बर को हटाया,
पश्चात् दिगम्बर बिभो! मन को बनाया ।
रे! धान का प्रथम तो छिलका उतारो,
लाली उतार, फिर भात पका, उड़ालो ।।५८।।

शका न मृत्यु भय ने सबको हराया,
संसार ने तब परिग्रह को सजाया ।
हे सेव्य! हे अभय! सेवक मैं विरागी,
मै भी बनूँ अभय जो सब ग्रन्थत्यागी ।।५९।।

जो देह नेह मद को तजना कहाता !
स्वामी! अतीन्द्रिय वही सुख है सुहाता।
तेरे सुशान्त मुख को लख हो रहा है,
ऐसा विबोध, मन का मल धो रहा है ।।६०।।

गंभीर सागर नहीं शशि दर्श पाता,
गांभीर्य त्याग तट बाहर भाग आता ।
गभीर आप रहते निज में इसी से,
होते प्रभावित नहीं जग में किसी से ।।६१।।

है चाहता अबुध ही तुम पास आना,
धारे बिना नियम संयम शील बाना ।
धीमान कौन वह है! श्रम देख रोये,
चाहे यहाँ सुफल क्या बिन बीज बोये ।।६२।।

शुद्धात्म में रुचि बिना शिवसाधना है,
रे निर्विवाद यह आत्मविराधना है ।
हो आत्मघात शिर से गिरि फोड़ने से,
तेरा यही मत इसे सुख मानने से ।।६३।।

ना आत्म तृप्ति उदयागत पुण्य में है,
बो शांति की लहर ना शशिबिम्ब में है।
जो आपके चरण का कर स्पर्श पाया,
आनन्द ईदृश कहीं अब लौं न पाया ।।६४।।

स्वामी! निजानुभवरूप समाधि द्वारा,
पाया, मिटी-भव-भवाब्धि, भवाब्धि पारा।
ये धैर्य धार बुध साधु समाधि साधें,
साधें अतः सहज को निज को अबाधें ।।६५।।

है वज्र, कर्म-धरणी-धर को गिराता,
दावा बना कुमत कानन को जलाता।
ऐसा रहा सुखद शासन शुद्ध तेरा,
पाथेय पंथ बन जाय सहाय मेरा ।।६६।।

हो तेज भानु भवसागर को सुखाने,
गंगा तुम्हीं तृषित की कुतृषा बुझाने।
हो जाल इद्रियमयी मछली मिटाने,
मैं भी, तुम्हें, सुबुध भी, इस भाँति मानें ।।६७।।

मेरी मती स्तुति सरोवर मे रहेगी,
होगी मदाग्नि मुझमे, रह क्या करेगी।
पीयूष सिन्धु भर मे विषबिन्दु क्या है ?
अस्तित्व हो पर प्रभाव दबाव क्या है? ।।६८।।

स्याद्ववादरूप मत मे, मत अन्य खारे,
ज्यों ही मिले मधुर हो बन जाएं प्यारे।
मात्रानुसार यदि भोजन में मिलाओ,
खारा भले लवण हो अति स्वाद पाओ ।।६९।।

ले आपकी प्रथम मै स्तुति का सहारा,
पश्चात् नितांत निज में करता विहारा।
ज्यों बीच बीच निज पंख विहंग फैला,
फैला विहार करता नभ में अकेला ।।७०।।

मिथ्यात्व से भ्रमित चित्त सही नहीं है,
तेरे उसे वचन ये रुचते नहीं हैं।
मिश्री मिला पय उसे रुचता कहाँ है ?
जो दीन पीड़ित दुखी ज्वर से अहा ! है ।।७१।।

लालित्य पूर्ण कविता लिख के तुम्हारी,
होते अनेक कवि हैं कवि नामधारी ।
मैं भी सुकाव्य लिख के कवि तो हुआ हूँ,
आश्चर्य तो यह निजानुभवी हुआ हूँ ।।७२।।

श्रद्धासमेत तुमको यदि जानता है,
शुद्धात्म को वह अवश्य पिछानता है ।
धूवाँ दिखा अनल का अनुमान होता,
है तर्क शास्त्र पढ़ते दृढ़ बोध होता ।।७३।।

मोहादि कर्म मल को तुमने मिटाया,
स्वामी स्वकीय पद शाश्वत सौख्य पाया ।
लेता सहार मुनि हो अब मैं तुम्हारा,
तोता जहाज तज कुत्र उड़े बिचारा ? ।।७४।।

त्यो आपके स्तवन की किरणावली है,
पाती प्रवेश मुझमें सुखदा भली है ।
ज्यो ज्योति पुंज रवि की प्रखरा प्रभाली,
हो रंध्र में सदन के घुसती निराली ।।७५।।

कामारिरूप तुम में मन को लगाता,
है वस्तुतः मुनि मनोभव को मिटाता ।
हो जाय नाश जब कारण का तथापि,
क्या कार्य का जनम हो जग में कदापि ?।।७६।।

स्वामी तुम्हें न जिसने रुचि से निहारा,
देता उसे न ''दृग'' दर्शन है तुम्हारा ।
जो अन्ध है, विमल दर्पण क्या करेगा,
क्या नेत्र देकर कृतार्थ उसे करेगा? ।।७७।।

वाणी सुधा सदृश सज्जन संगती से,
तेरी, बने कलुष दुर्जन संगती से।
औचित्य मेघ जल है गिरता नदी में,
तो स्वाद्य पेय बनता, विष हो अही में ।।७८।।

जैसा सुशान्त रस वो मम आत्म से है,
धारा प्रवाह झरता इस काव्य से है ।
वैसा कहाँ झर रहा शशि बिम्ब से है,
पूजे तुम्हे तदपि दूर सुवृत्त से है ।।७९।।

संसार के विविध वैभव भोग पाने,
पूजे तुम्हें बस कुधी जड़, ना सयाने ।
ले स्वर्ण का हल, कृषी करता कराता,
वो मूर्ख ही कृषक है जग मे कहाता ।।८०।।

है मोह नष्ट तुममें फिर अन्न से क्या ?
त्यागा असंयम, सुसंयम भार से क्या ?
मारा कुमार तुमने फिर वस्त्र से क्या ?
है पूज्य ही बन गये, पर पूज्य से क्या ?।।८१।।

मेरा जभी मन बना शिवपथगामी,
ससार भोग उसको रुचते न स्वामी ।
धीमान कौन वह है घृत छोड़ देगा,
क्या! मान के परम नीरस छाछ लेगा ।।८२।।

मेरी भली विकृति पै मति चेतना है,
चैतन्य से उदित है जिन-देशना है ।
कल्लोल के बिन सरोवर तो मिलेगा,
कल्लोल वो बिन सरोवर क्या मिलेगा ?।।८३।।

लो! आपके स्तवन से बहु निर्जरा हो,
स्वामी! तथापि विधिबंधन भी जरा हो।
अच्छी दुकान चलती धन खूब देती,
तो भी किराय कम से कम क्या न लेती ?।।८४।।

वो आपकी सकल वस्तुप्रकाशिनी है,
नासा, प्रमाणमय, विभ्रम-नाशिनी है।
नासाग्र पे इसलिए तुम साम्यदृष्टि,
आसीन है सतत शाश्वत शांति सृष्टि ।।८५।।

हैं आप नम्र गुरु चूंकि भरे गुणों से,
हैं पूज्य ''राम'' निज में रमते युगों से।
पी, पी, पराग निजबोधन की सुखी हैं,
नीराग हैं, पुरुष हैं, प्रकृती तजी हैं ।।८६।।

हो धीर वीर तुम चूँकि निजात्म जेता,
मारा कुमार तुमने ''शिव'' साधु नेता।
सर्वज्ञ हो इसलिए तुम सर्वव्यापी,
बैठे मदीय मन में अणु हो तथापि ।।८७।।

साता नही उदय में जब हो असाता,
मैं आपके भजन में बस डूब जाता।
है चन्द्र को निरखता सघनी निशा में,
जैसा चकोर रुचि से न कभी दिवा मे ।।८८।।

धाता तुम्हीं अभय दे जग को जिलाते,
नेता तुम्हीं सहज सत्पथ भी दिखाते।
मृत्युंजयी बन गये भगवान् कहाते,
सौभाग्य है, कि मम मन्दिर में सुहाते ।।८९।।

ऐसी मुझे दिख रही तुम भाल पे है,
जो बाल की लटकती लट गाल पे है।
तालाब में कमल पे अलि भा रहा हो,
संगीत ही गुणगुणा कर गा रहा हो ।।९०।।

काले घने कुटिल चिक्कण केश प्यारे,
ऐसे मुझे दिख रहे शिर के तुम्हारे।
जैसे कहीं मलयचन्दन वृक्ष से ही,
हो कृष्ण नाग लिपटे अयि दिव्य देही ! ।।९१।।

चाहूँ न राज सुख मै सुरसम्पदा भी,
चाहूँ न मान यश देह नहीं कदापि ।
हे ईश गर्दभ समा तन भार ढोना,
कैसे मिटे, कब मिटे, मुझको कहो ना ।।९२।।

मेरी सुसुप्त उस केवल की दशा में,
ये आपकी सहज तैर रहीं दशाये ।
यों आपका कह रहा श्रुत सत्य प्यारा,
मैंने उसे सुन गुणा रुचि संग धारा ।।९३।।

संसार से विरत हूं तुम ज्योति मे हूं,
निस्तेज कर्म मुझमें जब होश में हूं ।
बैठा रहे निकट नाग कराल काला,
टूटा हुआ, कि जिसका विषदन्त भाला ।।९४।।

विज्ञान से अति सुखी बुध वीतरागी,
अज्ञान से नित दुखी मद—मत्त, रागी ।
ऐसा सदा कह रहा मत आपका है,
धर्मात्म का सहचरी, रिपु पाप का है ।।९५।।

हो आज सीमित भले मम ज्ञान धारा,
होगी असीम तुम आश्रय पा अपारा ।
प्रारम्भ मे सरित हो पतली भले ही,
पै अन्त मे अमित सागर मे ढले ही ।।९६।।

लो आपके सुखमयी पदपकजों में,
श्रद्धासमेत नत हू तब लौ विभो मै ।
विज्ञानरूप रमणी मम सामने आ,
ना नाच गान करती जब लौं न नेहा ।।९७।।

स्वामी तुम्हे निरख सादर नेत्र दोनों,
आरूढ मोक्षपथ हो मम पैर दोनों ।
ले ईश नाम रसना, शिर तो नती से,
यो अग अंग हरषे तुम संगती से ।।९८।।

हो मृत्यु से रहित ''अक्षर'' हो कहाते,
हो शुद्ध जीव ''जड अक्षर'' हो न तातैं।
तो भी तुम्हें न बिन अक्षर जान पाया,
स्वामी अतः स्तवन अक्षर से रचाया ।।९९।।

चाहूँ कभी न दिवि को अयि वीर स्वामी,
पीऊं सुधारस स्वकीय बनूँ न कामी।
पा ''ज्ञानसागर'' सुमंथन से सुविद्या,
विद्यादिसागर बनूँ तज दूँ अविद्या ।।१००।।

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझमें कुछ नहिं ज्ञान
त्रुटियाँ होवे यदि यहाँ शोध पढ़ें धीमान ।।१।।

स्थान समय परिचय

आत्म साधना कुछ बढ़ी कुण्डलगिरि पै हर्ष
श्रीधर केवलिचरण का सविनय कर संस्पर्श ।।२।।
गुप्ति गगनगतिसंग की अमा अषाढ़ी आज
लिखा गया यह ग्रन्थ है भुक्ति-मुक्ति के काज ।।३।।

[इति शुभ भूयात्]

भावना शतक

विशेष—

दि व्या लो क प्र दा ने श द र्श न शु द्धि भा स्व र:



भ व्या ब्ज क क दा वा श स्प र्श कों शु शु भा क र:

यह सामान्य मुरजबन्ध का चित्र है। इसमे पूर्वार्द्ध के विषम सख्याक 1,3,5,7,9,11,13,15 अक्षरों को उत्तरार्ध के समसख्याक 2,4,6,8,10,12,14,16 अक्षरो के साथ क्रमश मिलाकर पढने से श्लोक का पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के विषम सख्यांक अक्षरो को पूर्वार्ध के समसंख्यांक अक्षरों के साथ क्रमशः मिलाकर पढने से उत्तरार्ध बन जाता है। इसी प्रकार के 16,22,28,34,40,46,52,58,64,70, 76,82,88 94 और 100 क्रमाक श्लोक भी इसी काव्य मे है। चित्रालकार में अनुस्वार और विसर्ग का अन्तर ग्राह्य नहीं होता है।

[१]

साधव इह समाहितं नमन्ति सतां समाधृतसमा हितम्।
कुर्वन् हृदि समाहितं तमहमपि वन्दे समाहितम् ।।

इह सता हित समाहितं समाधृतसमा. साधवः नमन्ति, तं हृदि समाहितं कुर्वन् अहम् अपि वन्दे।

साधव इति- **इह जगति सतां सत्पुरुषाणां हितं कल्याणकरम्, समाहितं संसिद्धं युक्त्यागमसिद्धमित्यर्थः, समाहितं समाधिस्थं, ध्याननिमग्नमर्हत्परमेष्ठिनमित्यर्थः । आत्मानं वा 'समाधिस्थे समाहितः। त्रिषुन्यस्तप्रतिज्ञानसंसिद्धे यम आत्मनि।' इति विश्वलोचनः। समाधृतसमाः सम्यक्-प्रकारेण आधृतं समं साम्यं यैस्ते समाधृतसमाः समताधारिण इति यावत्, साधवो मुनयो नमन्ति नमस्कुर्वन्ति । तम् अर्हत्परमेष्ठिनं शुद्धात्मानं वा हृदि चित्ते समाहितं संस्थापितं कुर्वन्, अहमपि ग्रन्थकर्ता, वन्दे नमस्करोमि। 'समा वर्षे सदृक्सर्वमान्येषु च समं त्रिषु' इति विश्वलोचनः ।।१।।**

अर्थ- इस जगत् मे जो सत्पुरुषों का हित करने वाले है, समाहित– संसिद्ध– युक्ति-आगम से सिद्ध है, तथा समाहित- समाधिस्थ है– ध्यान निलीन है, उन अरहन्त परमेष्ठी को साम्यभाव के धारक साधु नमस्कार करते है। अतः उन्हें हृदय मे धारण करता हुआ मै भी नमस्कार करता हूँ–उनकी त्रिकाल वन्दना करता हूँ ।।१।।

[२]

सुधृतरत्नत्रयशरं गुरो ध्यानवसुविनष्टकुसुमशरम् ।
त्वां पीतानुभवशरं यजेऽमुं शमय मेऽनाश ! रम् ।।

हे गुरो! (ज्ञानसागर!) अनाश! सुधृतरत्नत्रयशरं-ध्यानवसुविनष्टकुसुमशरम्, पीतानुभवशरम् त्वाम्, (अह) यजे मे अमु र शमय।

सुधृतेति- **हे गुरो! (ज्ञानसागर!) अनाश! यस्य आशा इच्छा वासना वा न विद्यते यस्य सः अनाशः तत्सम्बुद्धौ हे अनाश! अथवा न विद्यते नाशो यस्य स तत्सम्बुद्धौ हे अनाश! अथवा अशनम् आश आहार इत्यर्थः, न विद्यते आशो यस्य सः अनाशः तत्सम्बुद्धौ, समाधिवेलायां त्यक्तचतुर्विधाहार ! इत्यर्थः। सुधृतरत्नत्रयशरं सुधृतो रत्नत्रयमेव शरो हारो येन तं 'शरो हारे शरे पुंसि' इति विश्वलोचनः।**

ध्यानवसुविनष्टकुसुमशरं ध्यानमेव वसुरग्निस्तेन विनष्ट: कुसुमशर: कामो येन तं, ध्यानाग्निविनष्टकाममिति यावत् 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति विश्व। पीतानुभवशरम् पीतम् अनुभव एव शरं नीरं येन तं पीतस्वानुभूतिसलिलम् 'शरं नीरे नपुंसकम्' इति विश्वलोचन। त्वा भवन्तम् (अहम्) भवदन्तेवासी विद्यासागर। यजे पूजयामि। मे मम, अमुं रं कामानलम् 'रस्तु कामानले वह्नौ' इति विश्वलोचन। शमय शान्त कुरु ।।२।।

अर्थ- हे गुरो! हे ज्ञानसागर! हे अनाश! नाश अथवा आशा से रहित! रत्नत्रय रूपहार के धारक, ध्यानरूप अग्नि के द्वारा काम को नष्ट करने वाले और अनुभवरूपी जल का पान करने वाले आपकी मैं पूजा करता हू। आप मेरी इस कामाग्नि को शान्त कर दीजिए—मुझे निष्काम बनने मे सहायक हो ।।२।।

[३]

भक्त्येप्सितास्रवारिर्मोहतमः प्रसारत्वादवारिः ।
धर्मवारिदा वारिमीडेऽनिच्छन् विषयवारि ।।

ईप्सितास्रवारि मोहतम प्रसारत्वाद् अवारि (अहम्) विषयवारि अनिच्छन् धर्मवारिदा वारिं भक्त्या ईडे।

भक्त्येति- **ईप्सितास्रवारिः आस्रवस्यारिः शत्रु आस्रवारिः संवर इत्यर्थ, ईप्सितोऽभिलषित आस्रवस्यारिर्येन सः। मोहतमप्रसारत्वात् मोह एव तमस्तिमिरं तस्य प्रसारत्व तस्मात्, अवारिः नेत्रविहीन, ज्ञानचक्षुषा रहित इत्यर्थ (अहम्) विषयवारि विषयजलम्। अनिच्छन् अवाञ्छन् धर्मवारिदा धर्मसलिलप्रदात्रीम्, वारिं सरस्वतीम् 'वारिः सरस्वतीदेव्याम्' इति विश्वलोचन। भक्त्या ईडे स्तौमि 'वार्वारिक पयोऽम्भोऽम्बु' इति धनञ्जय ।।३।।**

अर्थ- जो संवर का इच्छुक है तथा मोहरूपी तिमिर का प्रसार होने से नेत्रहीन है, ऐसा मैं विषय रूप जल की इच्छा न करता हुआ धर्मरूप जल को देने वाली सरस्वती की भक्तिपूर्वक स्तुति करता हूँ।।३।।

[४]

विरतोऽकामहानये शतकं कामदं च कामहानये ।
नम्र कामहानये वदेऽविद्कृतकामहानये ।।

अये अकामहा! क! नये विरत, अविद्कृतकामहानये नम्र (सन्) अमहान् (अहम्) कामद शतक च कामहानये वदे।

विरत इति- **अये क! हे ब्रह्मन्! हे परमात्मन्! अकामहा! अकं पापं तदेव अमः रोगः संसारदुःखकारकः तम् जहाति त्यजति इति अकामहाः तत्सम्बुद्धौ अकामहा! पापरोगत्यागिन्! अथवा अकामहा! कामं मनोरथं हन्तीति कामहा, न कामहा अकामहा अमनोरथविघातकः तत्सम्बुद्धौ अकामहा! अथवा कामं मदनं जहाति इति कामहा, नये नीतौ तथा च नये आगमे विरतः प्रकर्षरूपेण रतः आगमभक्तिरतः अविद् ज्ञानं तया रहितः (अहं) कृता कामस्य मदनस्य हानिर्येन तस्मै अपगतमदनविकाराय, भगवते नम्रः प्रणतः सन् (अहम्) अमहान् न महान् लघुरित्यर्थः। कामदम् अभिलषितवस्तुप्रदम्। शतकं भावनाशतकनामधेयं काव्यम्। कामहानये कस्य आत्मनः अमा रोगा रागद्वेषादयः तेषां रागद्वेषादिविभावभावानां रोगाणां विनाशार्थं वदे देशयामि। 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु।' 'कामः स्मरेच्छयोः काम्ये', 'नयो द्यूतान्तरे नीतौ' इति सर्वत्र विश्वलोचन ।।४।।**

अर्थ- हे अकामहा! पापरूपी रोग को नष्ट करने वाले! हे क! हे ब्रह्मन्! जो नीति विज्ञान अथवा आगम मे विरत–विशेषरूप से लीन है अथवा नीति विज्ञान से रहित है, अविद् – अज्ञानी है, काम का नाश करने वाले के लिये विनम्र है और अमहान्– लघु है, ऐसा मै कामहानि –आत्मसम्वन्धी रागादि रोगों की हानि के लिये कामद–अभिलषित पदार्थ को देने वाले भावनाशतक को कहता हूं ।।४।।

[५]

यतो जिनपददर्शनं तदस्त्विह दर्शनशुद्धं दर्शनम् ।
दर्शयति सद्दर्शनं जगति जयतु जैनं दर्शनम् ।।

दर्शनशुद्ध दर्शन तत् अस्तु यतो जिनपददर्शन (भवति) (इति) जैन दर्शन सद्दर्शन दर्शयति (तत्) जगति इह जयतु ।

यत इति- **दर्शनशुद्ध दर्शनमिव शुद्ध दर्शनशुद्धं दर्पणवन्निर्मलम्, दर्शनं सम्यग्दर्शन तत् अस्तु भवतु यतो यस्मात् जिनपददर्शनं पञ्चकल्याणोपेत-तीर्थकरपदोपलब्धिः (भवति) (इति) जैन जिनेन प्रोक्त जैनं दर्शनं शास्त्रं सद्दर्शनं सन्मार्गं दर्शयति प्रकटयति (तत्) सम्यग्दर्शनम् इह जगति अस्मिन् लोके जयतु सर्वोत्कर्षेण वर्तताम्। 'दर्शन दृशि दर्पणे। स्वप्ने वर्त्मनि बुद्धौ च शास्त्रधर्मोपलब्धिषु'। इति विश्वलोचनः।।५।।**

अर्थ- वह सम्यग्दर्शन दर्पण के समान निर्मल हो जिससे जिनपद – तीर्थंकरपद का दर्शन होता है। इस प्रकार जैनदर्शन–जैनशास्त्र सम्यग्दर्शन को दिखाता है– प्राप्ति कराता है । जगत् मे वह सम्यग्दर्शन जयवत रहे ।।५।।

[६]

मोहारे: पराभवे कषायादेरपि दृशा पराभवे ।
यान्ति नरा: परा भवेऽस्त्यजवागितीदं परा भवे ।।

मोहारे पराभवे (सति) दृशा कषायादे –अपि पराभवे (सति) भवे परा नरा. इदम् (दर्शनविशुद्धि) यान्ति इति भवे परा अजवाक् अस्ति ।

मोहारेरिति- **मोहारे: मोह एवारि: शत्रुस्तस्य पराभवे तिरस्कारे सति मिथ्यात्वतिमिरापहरणे सतीत्यर्थ । दृशा सम्यग्दर्शनेन कषायादेरपि कषायप्रभृतेरपि अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभादीनामपि पराभवे तिरस्कारे अनुदय इत्यर्थः। भवे महादेवे जिने वा परा रता तत्परा: भगवद्भक्तिविनीता इत्यर्थ । नरा: मनुजा:। इदं सामान्ये नपुंसकलिङ्गप्रयोग दर्शनशुद्धिमित्यर्थ यान्ति प्राप्नुवन्ति। इतीत्थं भवे लोके परा उत्कृष्टा अजवाक् अजस्य जन्मातीतस्य भगवत: वाक् वाणी अस्ति विद्यते ।।६।।**

अर्थ- मोहरूप शत्रु का पराभव होने पर तथा सम्यग्दर्शन के द्वारा कषाय आदि का भी पराभव होने पर ससार मे श्रेष्ठता को प्राप्त हुए मनुष्य इस दर्शनविशुद्धि को प्राप्त होते है, ऐसी जिनेन्द्र भगवान् की उत्कृष्ट वाणी है ।।६।।

[७]

करुणाभाववसत्यां सद्भिरिदं सेवितायां वसत्याम् ।
लसतु मानव ! सत्यां वसतिपतिप्रभेव वसत्याम् ।।

वसत्यां सत्या वसतिपतिप्रभा इव हे मानव ! सद्भि सेविताया वसत्या करुणाभाववसत्या (सत्या) इद(दर्शन)लसतु ।

करुणाभावेति- **वसत्यां रात्रौ सत्या वसतिपतिप्रभेव निशापतिकान्तिरिव हे मानव! सद्भि: सत्पुरुषै सेवितायां वसत्या अवस्थितौ स्वकीयप्रवृत्तावित्यर्थ. । करुणाभाववसत्यां करुणाभावस्य वसतिर्वेश्मनिवासस्थानं तस्यां (सत्याम्) इदं दर्शनं सम्यग्दर्शनं लसतु शोभताम् । 'वसतिः स्यान्निशावेश्मावस्थानेऽप्यर्हदाश्रमे' इति विश्वलोचन: ।।७।।**

अर्थ- रात्रि होने पर जिस प्रकार चन्द्रमा की प्रभा सुशोभित होती है, उसी प्रकार हे मानव ! सत्पुरुषों के द्वारा सेवित प्रवृत्ति मे करुणाभाव की वसति–स्थिति होने पर यह सम्यग्दर्शन सुशोभित हो ।।७।।

[८]

विराधनं न राधनं निदानमस्य केवलं नरा धनम् ।
ददाति सदाराधनं राधनं मुक्तिदाराधनम् ।।

हे नराः! निदानम् अस्य (दर्शनस्य) विराधनम्, (निदान) केवल धनं ददाति, न राधन (ददाति) (किन्तु) सदाराधनं मुक्तिदाराधनं राधनं च (ददाति)।

विराधनमिति- **हे नराः! भो मानवाः! निदानं भोगाभिलाषः, अस्य (दर्शनस्य) विराधनं विघातकम्, (अस्ति) न राधनं मुक्तेः साधनं न भवति। (निदानं) केवलं धनं द्रविणं ददाति (किन्तु) सदाराधनं सताम् आराधनं सत्पुरुषाणामुपासनं, मुक्तिदाराधनम् मुक्तिदार एव आ-समन्तात् पूर्णमित्यर्थः धनं सुखसाधनम्, राधनं तुष्टिं (ददाति) दर्शनविशुद्धिभावनाबलेन नराः पञ्चपरमेष्ठिभक्तियुक्तं संतोषं लभन्त इत्यर्थः। 'राधनं साधने प्राप्तौ तोषणेऽपि च राधनम्' इति विश्वलोचनः ।।८।।**

अर्थ- हे मानवो! निदान (भोगाभिलाषा) सम्यग्दर्शन का विघात करने वाला है। निदान, केवल धन देता है, सतोष नहीं देता, किन्तु सदाराधना–सत्पुरुषों की सेवा मुक्ति स्त्रीरूप पूर्णधन और सतोष को देता है ।।८।।

[९]

जितमोहहारकेण व्यालसता शुचिनयमणिहारकेण ।
विना ह्यपि हारकेण प्राप्यते न व्यवहारकेण ।।

शुचिनयमणिहारकेण, व्यालसता, जितमोहहारकेण, हारकेण विना अपि इद प्राप्यते (किन्तु) व्यवहारकेण न (प्राप्यते)।

जितेति- **शुचिनयमणिहारकेण शुचिनयो निश्चयनय एव मणिहारो यस्य तेन समासान्तकप्रत्ययः। व्यालसता शोभमानेन, जितमोहहारकेण जितः पराजितो मोह एव हारकश्चौरो येन तेन, हारकेण विज्ञानविशेषेण विना अपि इदं (सद्दर्शनं) प्राप्यते (किन्तु) व्यवहारकेण कुत्सितो व्यवहारो व्यवहारकः निश्चयसांगत्यरहितत्वेन क्रियाकाण्डैकजीवनेन मात्रव्यवहारनयेन न हि (प्राप्यते) नहि लभ्यते। 'हारकस्तु शठे चौरे गद्यविज्ञानभेदयोः' इति विश्वलोचनः ।।९।।**

अर्थ- जिसमे निश्चयनय मणिमय हार है, जो सुशोभित है तथा जिसने मोहरूपी चोर को जीत लिया है ऐसे हारक–विशिष्ट ज्ञान के बिना भी यह सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। किन्तु मात्र व्यवहारनय से नहीं प्राप्त होता ।।९।।

[१०]

दिव्यालोकप्रदानेशदर्शनशुद्धिभास्करः ।
भव्याब्जककदा वाशस्पर्शकोंऽशुशुभाकरः ।।

(दर्शनं) दिव्यालोकप्रदानेशदर्शनशुद्धिभास्करः अशुशुभाकरः, अशस्पर्शकः, भव्याब्जककदा (अस्ति)। वा निश्चये (न)।

दिव्यालोकेति- **(दर्शनं) एतत् सम्यग्दर्शनम्। दिव्यालोकः केवलज्ञानं तत्प्रदाने ईश समर्थः, स चासौ दर्शनशुद्धिरेव भास्करः केवलज्ञानप्रदानदक्षदर्शनविशुद्धिभावनासूर्यः, अशुशुभाकरः अंशूना किरणानां शुभाकरो मङ्गलखनिः। अशस्पर्शकः शः हिंसा तस्य स्पर्शको न भवतीत्यशस्पर्शकः अहिंसान्वितः। भव्याब्जककदा भव्या एव अब्जानि कमलानि भव्याब्जानि, भव्याब्जान्येव भव्याब्जकानि, स्वार्थे कः, तेभ्यः कं सुखं ददातीति भव्याब्जककदा (अस्ति) वा निश्चयेन। सम्यग्दर्शनमेतत् केवलज्ञानप्रदाने भास्कर इव शोभते। भव्यारविन्दविकासकश्च निश्चयेनास्तीति भावः।'शः शतायुषि हिंसाया शः धर्मे शा तु मातरि' इति विश्वलोचनः ।।१०।।**

अर्थ- केवलज्ञान के प्रदान करने मे समर्थ दर्शनविशुद्धिरूपी सूर्य, किरणों की शुभ खान है, अहिंसा मे सुशोभित है, और भव्यजीव रूप कमलों को सुख देने वाला है, यह निश्चय है ।।१०।।

[११]

न मयाऽक न नपावनं विनयो यियासुनार्च्यते पावनम् ।
मुक्त्वा सुधीः पावनं कोऽटेद् ग्रीष्मार्त्त पावनम् ।।

हे नप ! पावन अवन यियासुना मया विनय अर्च्यते, न अक (अर्च्यते) कः सुधी ग्रीष्मार्त पावन मुक्त्वा पावन अटेत् (कोऽपि नेत्यर्थ)।

न मयेति- **हे नप ! हे पूज्यरक्षक** ! 'नकारो जिनपूज्ययो' 'पो वाते पा तु पाने स्यात्पास्तु पातरि वाच्यवत्' इति च विश्वलोचनः । पावन पवित्रम् अवनं रक्षणं यियासुना प्राप्तुमिच्छुना, मया नयपद नीतिस्थान विनय इति यावत्, अर्च्यते पूज्यते, न अक पापं 'अकं दुःखाघयो' इति विश्वलोचनः। न (अर्च्यते)। कः सुधी को विद्वान् ग्रीष्मार्त्तो निदाघपीडितः (सन्) पावन जल मुक्त्वा पावनम् अग्निम् अटेत् गच्छेत् ? (न कोऽपीत्यर्थः) पावनं तु जले कृच्छ्रे पावकाध्यासयो पुमान्' इति विश्वलोचनः ।।११।।

अर्थ- हे नप ! हे पूज्यरक्षक ! पवित्र रक्षण को प्राप्त करने के इच्छुक मेरे द्वारा विनय की पूजा की जाती है, अक – पाप की नहीं । कौन ऐसा विद्वान् है जो गरमी से पीडित होता हुआ पवन – वायु को छोड पवन–अग्नि को प्राप्त हो ? अर्थात् कोई नहीं ।।११।।

[१२]

एतद्द्विषं साधनं जयश्रीरिवेनमूनसाधनम् ।
व्रजेन्नहि सत् साधनं फलति संसारेऽञ्जसा धनम् ।।

एतद्द्विष (विनयविहीन) साधन न व्रजेत् ऊनसाधनम् इनम् जयश्रीः इव। सत् साधन हि ससारे अञ्जसा धन फलति।

एतद्द्विषमिति- **एतद्द्विषम् एतं द्वेष्टीति एतद्द्विट् तं विनयविहीनं जनमिति शेषः। साधन सिद्धिः, न व्रजेत् न गच्छेत् । ऊनसाधनं न्यूनसैन्यम्, इनं राजानम्, जयश्रीरिव विजयलक्ष्मीरिव। सत् साधनं समीचीन उपाय हि निश्चयेन संसारे जगति अञ्जसा यथार्थं धनं द्रविणं फलति समुत्पादयति। 'साधनं मेहने सैन्ये निवृत्तिगतिसिद्धिषु। करणे चोपकरणे मृतसस्करणे वधे। द्रवणे चानुव्रज्यायामुपाये दापने धने ।।' इति विश्वलोचनः ।।१२।।**

अर्थ – विनय से द्वेष करने वाले मनुष्य को साधन – सिद्धि उस प्रकार नहीं प्राप्त होती, जिस प्रकार कि ऊनसाधन – कम सेना वाले राजा को विजय लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती । उचित है,क्योंकि समीचीन साधन – उपाय ही यथार्थ रूप से धन को फलता है ।।१२।।

[१३]

एतद्वहता गमितं ह्यनन्तान्तं पाप सम्यगमितम् ।
स्वमूल्यं येन गमितं तस्मै कं किं नाङ्ग मितम् ।।

हे अङ्ग ! अनन्त ! न ! येन एतद्वहता (विनयशीलेन) स्वमूल्य गमित अमित पाप अन्त गमित (तदा) तस्मै मित क किं ? (किमपि नेत्यर्थ)।

एतदिति- **अङ्ग! अनन्त! न! हे अन्तातीतजिन! 'नकारो जिनपूज्ययोः' इति विश्वलोचनः। येन कारणेन एतद् (विनयसम्पन्नत्व) वहता दधता विनयशीलेन जनेनेत्यर्थः। स्वमूल्यम् आत्ममूल्यं गमितं प्रापितम् । अमितं अपरिमितं बहुलमित्यर्थः। पाप वृजिन सम्यक् सुष्ठुरीत्या अन्तं विनाशं गमितं प्रापितं (तदा) तस्मै मितं परिमितम् अल्पपरिमाण कं सुखं किं किंनामधेयम् न किमपीत्यर्थः। 'अन्तं विशुद्धे व्याप्ते स्यादन्तो नाशे मनोहरे'। 'क सुखे वारि शीर्षे च' इति च विश्वलोचन. ।।१३।।**

अर्थ- अङ्ग ! अनन्त ! न ! हे अन्तातीतजिनेन्द्र ! विनयसम्पन्नता को धारण करने वाले जिस मनुष्य ने स्वमूल्य–आत्ममूल्य को प्राप्त किया है, और अपरिमित पाप का अन्त किया है उसके लिये मित–सीमित–सांसारिक सुख क्या है ? वह तो मोक्षसम्बन्धी अनन्तसुख का पात्र होता है ।।१३।।

[१४]

स विनयशीलोऽकेन श्रितमहितमपि कुमार्गगं लोकेन ! ।
मुदा विदालोकेन स्वपथगं करोति लोके न ! ।।१४।।

हे लोकेन ! न ! अकेन श्रितं कुमार्गगं अहित अपि लोके विनयशील मुदा विदालोकेन स्वपथगं करोति।

स इति- **हे लोकेन! लोकस्य जगत इनः स्वामी लोकेनस्तत्सम्बुद्धौ हे जगन्नाथ! न! हे जिन ! अकेन दुःखेन पापेन वा 'अकं दुःखाघयोः' इति विश्वलोचनः। श्रितं सेवितं सहितमिति यावत्। कुमार्गगं कापथगामिनम्। अहितं शत्रुम् अपि जनं लोके भुवने विनयशीलः विनयः शील स्वभावो यस्य तथाभूतः स विनयसम्पन्नता-युक्तो जनः। मुदा हर्षेण। विदालोकेन सम्यग्ज्ञानप्रकाशेन स्वपथगम् आत्ममार्गगामिनं करोति विदधाति। विनयशीलो जनः कुमार्गगं शत्रुमपि सुमार्गगं विदधातीति भाव ।।१४।।**

अर्थ- हे लोकेन! हे जगत् के स्वामी जिनेन्द्र ! दुःख या पाप से युक्त, कुमार्गगामी शत्रु को भी लोक मे विनयशील मनुष्य हर्षपूर्वक ज्ञानरूप प्रकाश के द्वारा सुपथगामी बना देता है ।।१४।।

[१५]

किं स्याद् भगवन्नमितं सुखमवनाविह विना ह्यनेन मितम् ।
वन्दे मुनिभिर्नमितं ततो विदांवरैर्मानमितम् ।।

हे भगवन् ! इह अवनौ अमित (ना) मित सुखं अनेन विनयेन विना किं स्यात्? तत विदावरै मुनिभि मान इत नमित (च) (विनयपद अह) हि वन्दे ।

कि स्यादिति- **हे भगवन्! इह अवनौ अस्यां पृथिव्यां अमितं अपरिमितं विपुलमित्यर्थ, मितं परिमितम् अल्पमिति यावत्, वा सुखम् अनेन (विनयेन) विना किं स्यात्? अपि तु न स्यात् । ततस्तस्मात् कारणात् विदावरैः ज्ञातृश्रेष्ठैः मुनिभिः यतिभिः, मानं पूजाम्, इत प्राप्त, नमित नमस्कृत (च) विनयपदं विनयसम्पन्नत्वम् अहम्, हि निश्चयेन वन्दे नमस्करोमि। 'मान स्यादपि पूजायाम्' इति विश्वलोचन ।।१५।।**

अर्थ- हे भगवन् ! इस पृथिवी पर अपरिमित और परिमितसुख क्या विनय के बिना हो सकता है? अर्थात् नहीं। इस विनय के द्वारा ही ज्ञानी मुनियों ने सन्मान और नमस्कार को प्राप्त किया है ।।१५।।

[१६]

एतद्द्विषः प्लवन्ते न भवार्णवं भयङ्करम् ।
वान्तदोष भवं ते न भवाभवं न यन्त्यरम् ।।

हे वान्तदोष! न! भव! एतद्द्विष· (विनयरहिता.) भयङ्करं भवार्णवम् न प्लवन्ते (ततः) ते अभवं भवं न अरं यन्ति ।

एतद्‌द्विष इति- **हे वान्तदोष! हे निर्दोष! न! पूज्य! भव! कल्याण! हे रागादिदोषरहित, पूज्य, कल्याणरूप जिनेन्द्र! एतद्द्विषः एतद् विनयसम्पन्नत्वं द्विषन्तीति एतद्द्विषः विनयरहिता इत्यर्थः । भयङ्करं भीत्युत्पादकं भवार्णवं संसारसागरं न प्लवन्ते न तरन्ति (ततः) ते अभवं जन्मरहितं भवं कल्याणं सुखम्, अरं शीघ्रं न यन्ति न प्राप्नुवन्ति। "भवः श्रीकण्ठसंसारश्रेयः सत्ताप्तिजन्मनि' इति विश्वलोचनः। 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः ।।१६।।**

अर्थ- हे वान्तदोष ! हे पूज्य ! हे कल्याणरूप ! विनयशीलता से द्वेष रखने वाले मनुष्य, भयंकर ससारसागर को नहीं तैर सकते । इसीलिये वे अभवभव – जन्मरहित सिद्धपर्याय को शीघ्र नहीं प्राप्त होते ।।१६।।

[१७]

वामवमिना ह्यमानं जगदकमनुभवति दंदह्यमानम् ।
स हित्वाऽग्राह्यमानं जगादेत्यजः संगृह्य मानम् ।।

वामवमिना हि ददह्यमान अमान जगद् अक अनुभवति, इति स अज अग्राह्यमान हित्वा मान सगृह्य जगाद ।

वामेति- **वामवमिना वाम· काम एव वमिः पावकः अग्निरित्यर्थस्तेन कामाग्निना, हि निश्चयेन, दंदह्यमान पुन पुनरतिशयेन वा दह्यमानं, अमान ज्ञानरहितम्, अमितं सर्वं वा जगद् भुवनम्, अक दुखम्, अनुभवति। इतीत्थं, स प्रसिद्धः, अजो भगवान् अग्राह्यमान न ग्रहीतु योग्य अग्राह्यस्तथाभूतो मानोऽहंकारस्तं हित्वा त्यक्त्वा मानं ज्ञानं सगृह्य सम्यक् प्रकारेण गृहीत्वा, जगाद कथयामास। 'वाम· सव्ये हरे कामे धने वित्ते तु न द्वयो·' 'वमि· स्यात्पावके पुंसि' इति च विश्वलोचनः।।१७।।**

अर्थ- 'कामरूप अग्नि से अत्यधिक जलता हुआ जगत् अपरिमित दु.ख का अनुभव करता है' ऐसा उन जन्मातीत–जिनेन्द्र ने अग्राह्य – ग्रहण करने के अयोग्य मान को छोडकर तथा ज्ञान का अच्छी तरह सग्रह कर कहा है ।।१७।।

[१८]

संयमिभिर्महितेन शीलेन समं सुमते! मम हि तेन ।
मतिरतिवाम ! हितेन त्वस्तु परं स्वधाम हि तेन ।।

हे अतिवाम! सुमते! सयमिभि महितेन हितेन तेन शीलेन समं हि मम मति अस्तु। तेन

(कारणेन) स्वधाम नु पर (अस्तु)।

सयमिभिरिति- **हे अतिवाम ! वामं कामम् अतिक्रान्तः अतिवामस्तत्सम्बुद्धौ।हे निष्काम ! सुमते ! सुष्ठु मतिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ।हे सुबुद्धे ! संयमिभिः साधुभिः, महितेन पूजितेन, हितेन** कल्याणकारिणा , **तेन शीलेन शीलव्रतेन, समं सार्धं, हि निश्चयेन, मम मति, अस्तु मामकीना बुद्धि निरतिचारशीलव्रतसहिता भवतु। तेन (कारणेन) तु पर पुरत सम्मुख, स्वधाम स्वस्य धाम स्वधाम मोक्ष (अस्तु) ।।१८।।**

अर्थ- हे निष्काम ! हे सुमतिसपन्न! जिनेन्द्र! सयमी साधुओं के द्वारा पूजित, हितकारी उस शीलव्रत के साथ ही मेरी बुद्धि रहे और इस कारण श्रेष्ठ स्वधाम--मोक्ष प्राप्त हो।।१८।।

[१९]

हिमांशुनाऽपि हिमेन ह्यल गाङ्गेनाम्बुनाऽपि हिमेन ।
वरोऽस्त्वस्यमहिमेन बाह्येतरदाहहा हि मे न ! ।।

हे! इन! न! हिमेन हिमांशुना अपि गाङ्गेनाम्बुना अपि हिमेन अल मे अस्य (शीलस्य) बाह्येतरदाहहा महिमा वर अस्तु।

हिमांशुनेति- **हे इन! स्वामिन्! न! जिन! हिमेन तुषारेण, हिमांशुनापि चन्द्रेणापि गाङ्गेन गङ्गाया इद गाङ्गं तेन गङ्गासम्बन्धिना अम्बुना जलेन, अपि किञ्च, हिमेन चन्दनेन, अल पर्याप्त, एतैर्ममान्तर्दाहस्य विध्वंसो न भवतीत्यर्थ । 'तुषारे चन्दने शीले हिम त्रिषु तु शीतले' इति विश्वलोचन। मे मम, अस्य (शीलस्य) बाह्येतरदाहहा बाह्यश्च इतरश्चेति बाह्येतरौ, तौ च तौ दाहौ च, इति बाह्येतरदाहौ तौ हन्तीति बाह्येतरदाहहा बाह्याभ्यन्तरदाहविघातक महिमा प्रभाव, वर प्रकृष्ट अस्तु। निरतिचारशीलव्रतत्वे सति बाह्याभ्यन्तरदाहविघातो भवति नान्यथेति भाव ।।१९।।**

अर्थ- हे स्वामिन् ! हे जिनेन्द्र! वर्फ, चन्द्रमा, गङ्गाजल, और चन्दन की आवश्यकता नहीं है। इस शीलव्रत की बाह्य और आभ्यन्तर दाह को नष्ट करने वाली उत्कृष्ट महिमा ही मेरे पास रहे ।।१९।।

[२०]

स्तुतानि ह्यङ्ग तानि व्रतानि यानि सता शुचितां गतानि ।
अकानि सम्यगतानि त्यक्त्वा गतान्यनागतानि ।।

हे अङ्ग! आगतानि अनागतानि गतानि च अकानि हि त्यक्त्वा यानि सता स्तुतानि शुचिता गतानि व्रतानि तानि सम्यक् (अह) अतानि ।

स्तुतानीति- **हे अङ्ग! आगतानि वर्तमानानि, अनागतानि भविष्यत्कालसम्बन्धीनि, गतानि भूतकालसम्बन्धीनि च अकानि पापानि 'अकं दुःखाघयोः' इति विश्वलोचनः। हि निश्चयेन त्यक्त्वा आलोचना प्रतिक्रमणप्रत्याख्यानविधिना परिमार्ज्येत्यर्थः। यानि सता साधुना स्तुतानि स्तुतिविषयीकृतानि शुचितां निर्मलतां गतानि व्रतानि तानि सम्यक् (अहम्) अतानि गच्छानि प्राप्नुवानीत्यर्थः। 'अत सातत्यगमने' इत्यस्य लोडुत्तमपुरुषे रूपम् ।।२०।।**

अर्थ- अङ्ग जिनेन्द्र! आगत– वर्तमान, अनागत–भविष्यत् और गत– भूतकाल सम्बन्धी पापों को छोडकर सत्पुरुषों के द्वारा स्तुत होते हुए जो शुचिता–निरतिचारवृत्ति को प्राप्त हुये है उन व्रतों को मै प्राप्त होता हू ।।२०।।

[२१]

सा भातु गजगतितया सती नानेन संसृतिर्गतितया ।
सिद्ध सदा गतितया सदागतिनोषा जगति तया ।।

जगति गजगतितया सा सती भातु, गतितया ससृति (भातु) सिद्ध तथा गतितया (भातु) सदागतिना उषा (भातु) अनेन (शीलेन व्रतेन वा) ना सदा (भातु)।

सेति- **जगति लोके, गजगतितया गजस्य गतिरिव गतिर्यस्या सा गजगतिस्तस्या भावस्तत्ता तया, सा प्रसिद्धा सती साध्वी स्त्री भातु शोभताम्। गतितया प्रगत्या चतुर्गतिगमनेनेत्यर्थः, ससृति ससारः (भातु) सिद्ध मुक्तात्मा तया शास्त्रप्रसिद्धया गतितया गति ज्ञान केवलज्ञानं तस्या भावस्तत्ता तया गतितया भातु, आत्मना साकं ज्ञानस्य तादात्म्यं वर्तते इति। अथवा तथा शास्त्रप्रसिद्धया अगतितया न विद्यते गतिर्यस्य तस्य भाव अगतिता तया गतिराहित्येन (भातु)। सदागतिना वायुना उषा प्रातर्वेला (भातु) अनेन (शीलेन व्रतेन वा) ना पुमान्, सदा सतत (भातु) 'सती साध्वीचण्डिकयो ।' 'उषा बाणसुतायां स्यात्प्रभातेऽपि विभावरी।' 'सदागतिर्गन्धवाहे निर्वाणेऽपि सदीश्वरे' इति च विश्वलोचन ।।२१।।**

अर्थ – ससार मे वह पतिव्रता स्त्री हाथी जैसी चाल से सुशोभित हो, ससार चतुर्गतियों से सुशोभित हो, सिद्ध परमेष्ठी प्रसिद्ध केवलज्ञान से अथवा अगतिता–गति राहित्य से सुशोभित हों, प्रात.काल वायु से सुशोभित हो और मनुष्य इस शीलव्रत से सदा सुशोभित हो ।।२१।।

[२२]

शीलरथो भयाऽऽरूढो वामोऽनेन भृशं स्वतः ।
किल ह्यथो भयारूढो यमो येन स शं गतः ।।

अथो हि अनेन मया वाम शीलरथ आरूढ येन स शं गत यम किल स्वतः भृश भयारूढ. (अवलोक्यते)।

शीलेति- **अथो हि अथ निश्चयेन, अनेन मया वामः सुन्दरः शीलरथः शीलमेव रथः शीलरथः आरूढः कृतारोहणः। येन कारणेन स जगत्प्रसिद्धः शं हिंसां गतः प्राप्तः, यमः कालः किल निश्चयतः स्वतः स्वस्मादेव भृशम् अत्यर्थं भयारूढो भीतियुक्तः (अवलोक्यते) शीलस्यन्दनारूढ जन दृष्ट्वा यमो भीत्या वेपते। 'वल्गुप्रतीपयोर्वामः'। 'शः शतायुषि हिंसाया श धर्मे शा तु पातरि' इति च विश्वलोचन ।।२२।।**

अर्थ- अब मैने इस सुन्दर शीलरथ पर आरोहण किया है जिससे वह हिंसक यम स्वय ही अत्यन्त भयभीत दिखाई देता है ।।२२।।

[२३]

यथा कल्पते मदनता रसतो मदनाहितेन मदनः ।
मदोऽनलतोऽपि मदनः प्रज्ञानयोगात् कामद! न! ।।

हे कामद ! न! यथा रसत मदनता, मदनाहितेन मदन, अनलत मदन, कल्पते (तथा) प्रज्ञानयोगात् मद अपि (कल्पते)।

यथेति- **हे कामद! काम मनोरथ ददातीति कामदस्तत्सम्बुद्धौ हे कामद! न! जिन! यथा येन प्रकारेण, रसतः रसायनात् मदनता मदनस्य भावो मदनता धत्तूरत्व, मदनाहितेन कामवैरिणा, मदनः काम, अनलत अग्ने, मदनः सिक्थकः 'मैन' इति प्रसिद्ध, कल्पते नष्टो भवति (तथा) प्रज्ञानयोगात् प्रकृष्ट ज्ञान प्रज्ञान तस्य योगः तस्मात् श्रेष्ठज्ञानयोगात्, मदो गर्व अपि (कल्पते) नष्टो भवति। 'मदन स्मरधत्तूरवसन्तद्रुमसिक्थके' इति विश्वलोचन ।।२३।।**

अर्थ- हे मनोरथ को पूर्ण करने वाले जिनेन्द्र! जिस प्रकार रसायन से धत्तूर की मादकता, कामवैरी के द्वारा काम, और अग्नि से मैन नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार प्रकृष्ट–श्रेष्ठ ज्ञान के योग से मद–अहकार नष्ट हो जाता है।।२३।।

[२४]

कुमुदमथो वा मेन जलधिर्वामा यूनेव वामेन ।
मुदमेति च वामेन! मनोऽनेनोऽनेन वा मे न ! ।।

हे अनेन ! वाम इन न मेन कुमुद जलधि वा वामेन यूना वामा इव मे मन च अनेन (ज्ञानोपयोगेन) मुद एति।

कुमुदमिति- **हे अनेनः! निष्पाप! वाम! सुन्दर! इन! स्वामिन्! न! जिन! मेन**

चन्द्रेण 'मः प्रिये पुंसि मश्चन्द्रे' इति विश्वलोचनः । कुमुदं कैरवं, अथो जलधिर्वा सागर इव 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवार्थेऽपि समुच्चये' इत्यमरः। वामेन वल्गुना सुंदरेणेत्यर्थः 'वल्गुप्रतीपयोर्वामः' इति विश्वलोचनः। यूना तरुणेन वामेव ललनेव। मे मम मनश्चित्तं च अनेन (ज्ञानोपयोगेन) मुदं हर्षं, एति प्राप्नोति ।।२४।।

अर्थ- हे निष्पाप! हे सुन्दर! हे स्वामिन्! हे जिनेन्द्र! जिस प्रकार चन्द्रमा से कुमुद अथवा समुद्र और सुन्दर युवक से स्त्री हर्ष को प्राप्त होती है उसी प्रकार मेरा मन इस अभीक्ष्णज्ञानोपयोग से हर्ष को प्राप्त हो।।२४।।

[२५]

मुनिषु मम विपाकस्य त्वं भव सखाग्निरिव भुवि पाकस्य।
यद् भवेद् विपाकस्य व्ययश्चायः सुखविपाकस्य ।।

भुवि पाकस्य सखा अग्नि इव मुनिषु विपाकस्य मम त्वं (ज्ञानोपयोग) सखा भव। यद् विपाकस्य व्यय सुखविपाकस्य आय च भवेत्।

मुनिष्विति- **भुवि पृथिव्याम्, पाकस्य वायोः सखा अग्निरिव, मुनिषु यतिषु विपाकस्य विशिष्टः पाकः शिशुरिति विपाकस्तस्य बालरूपस्य अज्ञानिन इत्यर्थः अथवा विरुद्धः पाकः कर्मोदयो यस्य तस्य विपन्नस्येति यावत्। मम प्रार्थयितुः, त्वं (ज्ञानोपयोग:) सखा मित्रं भव। यद् येन कारणेन विपाकस्य दुर्गतेः व्ययो विनाशः, सुखविपाकस्य सुखानुभवनस्य आयः प्राप्तिश्च भवेत्। 'पाकस्तु पवने शिशौ।' 'विपाकः परिणामेऽपि खेदे स्वादुनि दुर्गतौ।' इति च विश्वलोचनः ।।२५।।**

अर्थ- पृथिवी पर जिस प्रकार वायु का सखा अग्नि है; उसी प्रकार हे ज्ञानोपयोग! तुम मुझ अज्ञानी मुनि के सखा होओ, जिससे दुःखदायक कर्मोदय का विनाश और सुखदायक कर्मोदय की प्राप्ति हो ।।२५।।

[२६]

महतां वराजराजः शिरसि यदूनोऽपि धृतराजराजः ।
श्रितो मुनिराजराज स्यादजोऽनेन राजराजः ।।

मुनिराजराज! महता वर अजर[1] शिरसि धृतराजराज. अपि यदून. (ज्ञानोपयोगेन) अज (किन्तु) राजराज अज (कृष्णः) अनेन (ज्ञानोपयोगेन) श्रित. स्यात्।

महतामिति- **मुनिराजराज! मुनिराजानां राजा इति मुनिराजराजस्तत्सम्बुद्धौ हे मुनिराजराज! यतीन्द्रशिरोमणे! महतां वर! महापुरुषोत्तम! अजर! जराशून्य! शिरसि**

मूर्ध्नि, धृतराजराजः धृतो राजराजश्चन्द्रो येन स 'राजराजस्तु धनदे सार्वभौममृगाङ्कयोः' इति विश्वलोचन। अपि यदूनः येन ज्ञानोपयोगेन ऊनो रहितः अजः स्मरहरः शिवः (अज एवाभूत्) (किन्तु) राजराजः राजेश्वरः, अजः कृष्णः 'अजः कृष्णे स्मरहरे विधौ छागे रघोः सुते' इति विश्वलोचन। अनेन (ज्ञानोपयोगेन) जिनस्तीर्थकरः स्याद् भवेत्। अभीक्ष्णज्ञानोपयोगभावनाबलेन कृष्णस्तीर्थकरो भविष्यतीति भावः ।।२६।।

अर्थ- हे श्रेष्ठ मुनियों के नाथ! हे महापुरुषों मे महान्! हे जरारहित! जिनेन्द्र! शिर पर चन्द्रमा को धारण करने वाला शिव भी जिससे रहित हो अज—छाग हुआ, किन्तु राजराजेश्वर कृष्ण इस ज्ञानोपयोग से सहित हो तीर्थङ्कर होगें ।।२६।।

[२७]

चञ्चलचित्तसवरं कलयति च कुरुतेऽय विधिसंवरम् ।
विमदमलीमसंवरं गता मुनय आहु सवरम् ।।

अय (ज्ञानोपयोग) विधिसवर कुरुते, चञ्चलचित्तसवर च कलयति (इति) विमदमलीमसवर सवर गता मुनय आहु ।

चञ्चलेति- अय (ज्ञानोपयोग), विधिसवर विधीना कर्मणा सवर अनास्रवण कुरुते, चञ्चलचित्तसवर चपलचेतः सवरण च कलयति सपादयति (इतीत्थं) विमदमलीमस विगतो विनष्टो मदमलीमसो मदमलिन यस्य तथाभूत वरं श्रेष्ठ सवर जिन भगवन्त गता प्राप्ता मुनयो यतीश्वरा आहु कथयामासु ।।२७।।

अर्थ- 'यह ज्ञानोपयोग, कर्मो के सवर को तथा चञ्चलचित्त के निरोध को करता है' ऐसा मद रूपी मैल से रहित उत्कृष्ट सवर को प्राप्त मुनि कहते है।।२७।।

[२८]

ज्ञानरूपी करे दीपोऽमनोऽचलो यतेऽस्त्ययम् ।
सन्नरूपी हरेऽपापो जिनोऽवलोक्यते स्वयम् ।।

हे हरे! अमन! यते! अय अचल ज्ञानरूपी दीप करे अस्ति (चेत्) अपाप अरूपी सन् जिन स्वय अवलोक्यते ।

ज्ञानरूपीति- हरे! हे भगवन्! अमन भावमनोरहित! यते साधो! अयम् एष, अचल: स्थिर, ज्ञानरूपी ज्ञानात्मक: दीप प्रदीप करे हस्ते अस्ति (चेत्) अपाप पापरहित, अरूपी रूपरहित सन् जिनस्तीर्थकरः स्वयं बाह्यनिमित्तमन्तरेणापि अवलोक्यते दृश्यते। ज्ञानात्मना दीपेन जनस्तीर्थकृद् भवतीति भावः ।।२८।।

अर्थ- हे हरे! हे भावमन से रहित! हे मुने! यदि यह अविनाशी ज्ञानरूपी दीपक हाथ मे है तो पापों से रहित एव रूप से शून्य जिन, स्वयमेव दिखने लगता है।।२८।।

[२९]

स ना भुवि नायकेन प्रभातु शरोऽप्यजवाक् विनायकेन ।
विरतो विनायकेन संवेगेन विनाऽयकेन ।।

हे विन!अयक!इन!न! भुवि नायकेन शर विनायकेन अजवाक् अपि प्रभातु। विनायके विरत स ना सवेगेन (प्रभातु)।

सेति– **हे विन! विशिष्टो न पूज्य इति विनस्तत्सम्बुद्धौ हे विन! हे विशिष्टपूज्य! अयक! अयते इति अयकस्तत्सम्बुद्धौ हे अयक! हे गतिशील! अथवा अयः शुभावहो विधिः, अय एव अयकस्तत्सम्बुद्धौ हे अयक! इन! स्वामिन्! न! जिन! भुवि वसुधायां नायकेन मध्यमणिना शरो हारः, विनायकेन गणधरेण अजवाक् जिनेश्वरवाणी, अपि प्रभातु प्रकर्षेण शोभताम्। विनायके गुरौ विरत विशिष्टरूपेण तत्परः विश्रान्तः गुरुभक्तिनिरत इत्यर्थः। स प्रसिद्धः ना नरः, संवेगेन भवभीरुत्वलक्षणेन संवेगेन (प्रभातु) प्रशोभताम्। 'नकारो जिनपूज्ययोः' इति विश्वलोचनः। 'अयः शुभावहो विधिः' इत्यमरः। 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि'। 'विनायको जिने बुद्धे तार्क्ष्ये हेरम्बविघ्नयोः' इति विश्वलोचनः ।।२९।।**

अर्थ- हे विशिष्टपूज्य! हे गतिशील! हे स्वामिन्! जिनेन्द्र! जिस प्रकार पृथिवी पर नायक–मध्यमणि मे हार सुशोभित होता है और विनायक–गणधर से तीर्थङ्कर की दिव्यवाणी शोभायमान होती है उसी प्रकार गणधर मे लीन मनुष्य भी सवेग से शोभायमान होवे।।२९।।

[३०]

मुनितात्मनि शान्तेन स्थितेन च निशेशेन निशान्ते न।
विरवोऽपि निशान्ते नः सत्कवे कविता निशान्तेन ।।

हे न ! आत्मनि स्थितेन अन्तेन शान्तेन मुनिता, निशेशेन निशा, शान्तेन सत्कवे कविता, च निशान्ते विरव अपि (प्रभातु)।

मुनितेति- **हे न! हे पुरुष! आत्मन्! इत्यर्थः। आत्मनि शुद्धात्मस्वरूपे, स्थितेन कृतावस्थानेन, शान्तेन विगतक्षोभेण, अन्तेन स्वरूपेण 'अन्तं विशुद्धे व्याप्ते स्यादन्तो नाशे मनोहरे। स्वरूपेऽन्त मतं क्लीबं न स्त्री प्रान्तेऽन्तिके त्रिषु ।।' इति विश्वलोचनः। मुनिता मुनेर्भावो मुनिता यतित्वम्। निशेशेन निशाया ईशो निशेशस्तेन चन्द्रेण निशा रात्रिः, शान्तेन शान्तरसेन 'शान्तस्तु रसे दान्तेऽपि मुक्तके' इति विश्वलोचनः। सत्कवेः प्रशस्तकवेः कविता काव्य 'च' इति समुच्चये 'नि' इति नित्यभृशाश्चर्ये वा अव्ययौ, निशान्ते निशाया अन्तो निशान्तस्तस्मिन् प्रभाते, विरवः वीनां पक्षिणां रवः शब्दः गीत**

अपि (प्रभातु) 'नि स्यान्नित्यभृशाश्चर्यविन्यासक्षेपराशिषु' इति विश्वलोचन: ।।३०।।

अर्थ- हे जिनेन्द्र! आत्मा मे स्थित शान्त धर्म से जिस प्रकार मुनिता (मुनिपद) सुशोभित होती है, चन्द्रमा से जिस प्रकार रात्रि सुशोभित होती है, शान्त रस से जिस प्रकार सुकवि की कविता सुशोभित होती है और प्रात काल से जिस प्रकार पक्षियों का कलरव सुशोभित होता है , उसी प्रकार सवेग से मुनि सुशोभित हो।।३०।।

[३१]

भवोरुवनधनंजयः कर्मकौरवगर्वान्तधनंजयः ।
ततो निजं धनं जय ह्ययं करणभेकधनंजयः ।।

अय (सवेग) करणभेकधनजय. कर्मकौरवगर्वान्तधनजय भवोरुवनधनजय (अस्ति) तत निज धन हि (त्व) जय ।

भवोरुवनेति- **अयमेष (संवेग) करणभेकधनंजयः करणानि इन्द्रियाण्येव भेका मण्डूकास्तेषां धनंजयो नाग सर्प इति यावत्। कर्मकौरवगर्वान्तधनंजयः कर्माण्येव कौरवा दुर्योधनादयस्तेषां गर्वस्य दर्पस्य अन्ते विनाशने धनंजयः अर्जुन। भवोरुवनधनंजय भव संसार एव उरुवनं विशालकाननं तस्मिन् धनजयः अग्निः अस्तीति शेष।'धनंजयोऽग्नौ ककुभे नागदेहानिलेऽर्जुने' इति विश्वलोचन। तत करणात् निजं स्वकीयं धनं द्रविणं हि निश्चयेन (त्वं) जय आत्मसात्कुरु ।।३१।।**

अर्थ- यह सवेग इन्द्रियरूप मेढको को नष्ट करने लिए धनजय--नाग है, कर्मरूपी कौरवो के गर्व को नष्ट करने के लिये धनंजय--अर्जुन है और ससाररूपी वन को भस्म करने के लिये धनजय--अग्नि है इसलिये आत्मधनस्वरूप सवेगभाव जयवत हो।।३१।।

[३२]

चिदानन्दोषाकरोऽयमशेषदोषोन ! सदोषाकरः ।
विलसत्वदोषाकरो दोषायां न नु दोषाकरः ।।

अय (सवेग) अशेषदोषोन! चिदानन्दोषाकर सदा उषाकर. अदोषाकरः अत. विलसतु (किन्तु) दोषाया दोषाकर न नु (विलसतु)।

चिदानन्देति-**अयं (संवेगः) हे अशेषदोषोन! अशेषै समस्तैर्दोषैरवगुणैरूनो रहितस्तत्सम्बुद्धौ हे निखिलदोषातीत! चिदानन्दोषाकरः चिदानन्दस्य उषाकरः प्रभातकरः तस्मात् सदा सर्वदा उषाकरः उषाः कामिनः तेषां अकं दुःखं राति लाति इति कामवासनापीडितजनदुःखकरः, कामिनो निशायामेव सुखिनो भवन्ति दिवसे न**

निशाकरस्तु दोषाणाम् आकरः सदोषः अयं तु दोषातीतोऽस्ति। स तु निशायामेव लसतु, अयं तु सर्वदा विलसतु, स तु कामिनः तोषयति दुःखीकरोति च अयं तु वैराग्यधारिणो मोदयति कामिनो विषयाभिलाषिणो वा दुःखीकरोति। इत्यनयोर्विशेषभेदोऽस्ति। ततोऽयं संवेग एव पूज्य आदरणीयः स तु न ।।३२।।

अर्थ- हे समस्त दोषों से रहित जिनेन्द्र! यह संवेगभाव, चिदानन्द– आत्मानन्द को प्रकट करने के लिये उषाकर – प्रभातकाल है, सदा उषाकर है– कामी मनुष्य को दुःख देने वाला है और दोषाकर–अवगुणों की खान नहीं है, अतः सुशोभित हो, किन्तु दोषा–रात्रि में दोषाकर–चन्द्रमा सुशोभित न हो ।।३२।।

[३३]

जितको दृग्भयानकः पापाब्धिवाडवोऽयं भयानकः ।
अवतीति विभया न कश्चञ्चलमनोमृगभयानकः ।।

हे विभया ! अयं (संवेगः) दृग्भया जितकः अनकः भयानकः पापाब्धिवाडवः चञ्चलमनोमृगभयानकः च इति कः न अवति?

जितक इति- **हे विभयाः! विगतं भयं येषां ते तत्सम्बुद्धौ हे निर्भीका जिनाः! अयं (संवेगः) दृग्भया दृशः सम्यग्दर्शनस्य भा दीप्तिः दृग्भा तया, जितकः जितः पराजितः कः सूर्यो येन सः 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु' इति विश्वलोचनः। अनकः न विद्यते अकं दुःखं पापं वा यस्मिन् सः अनकः। भयानकः भयंकरः पापाब्धिवाडवः पापपयोधिवडवानलः। चञ्चलमनोमृगभयानकः चञ्चलमन एव मृगो हरिणस्तस्य भयानकः शार्दूलः 'भयानकस्तु शार्दूले सैंहिकेये विभीषणे' इति विश्वलोचनः। च समुच्चये। इतीत्थं कः न अवति जानाति? अपि तु सर्व एव जानाति ।।३३।।**

अर्थ- हे विभय! भय से रहित जिनेन्द्रदेव! यह संवेगभाव सम्यग्दर्शन की भा–दीप्ति से सूर्य को जीतने वाला है, पाप या दुःख से रहित है, भयानक है, पापरूप समुद्र को सुखाने के लिये वडवानल है और चञ्चल मनरूपी मृग के लिये भयानक शार्दूल है, यह कौन नहीं जानता ?।।३३।।

[३४]

संसारदेहभोगेभ्यो भीतिर्भवति सतां परा ।
यत् सा सदेह भोऽघेभ्यो ह्यीतिर्भवेऽमिता खरा ।।

भो संसारदेहभोगेभ्यः सतां परा भीतिः भवेत् यत् इह भवे सदा अघेभ्यो अमिता खरा सा ईतिः (भवेत्)।

ससारेति- जिना इति शेषः। संसारदेहभोगेभ्यः संसारश्च देहश्च भोगश्चेति संसारदेहभोगास्तेभ्यः संसारशरीरपञ्चेन्द्रियविषयेभ्यः। सतां साधूनां, परा सातिशया, भीतिः भय, भवेत्, यत् यस्मात् इह भवे अस्मिन् जगति, सदा सर्वदा, अघेभ्यः पापेभ्यः अमिता अपरिमिता अनवसानेत्यर्थः, खरा तीक्ष्णा कष्टदायिनीत्यर्थः सा प्रसिद्धा ईतिः पीड़ा (भवेत्)'ईतिः स्यादतिवृष्ट्यादिषट्के डिम्बप्रवासयोः' इति विश्वलोचनः। संवेगात् संसारशरीरभोगेभ्यो निर्विण्णता पापेभ्यो विरतिश्च भवतीति भावः ।।३४।।

अर्थ- हे भगवन्! ससार, शरीर और भोगों से सत्पुरुषों को सदा भय रहे, जिससे इस ससार मे पापों से वह अपरिमित एव सातिशय ईति – पीड़ा हो, पापों से पलायन हो।।३४।।

[३५]

ज्वलतात्र शङ्करेण त्यागो ह्यनाधृतोऽतोऽशङ्करेण ।
जगत् सुखि शङ्करेण त्रिशूलमहताऽशङ्करेण ।।

हे अशङ्क! अत्र रेण ज्वलता शङ्करेण त्याग हि अनाधृत अत त्रिशूलमहता अशङ्करेण शङ्करेण जगत् सुखि ? (कदापि नेत्यर्थ)।

ज्वलतात्रेति- हे अशङ्क! हे शङ्कातीत! अत्र जगति, रेण कामाग्निना 'रस्तु कामानले वह्नौ' इति विश्वलोचनः। ज्वलता दह्यमानेन, शङ्करेण शिवेन त्यागः एतन्नाम धर्मः हि यतः अनाधृत न सधृतः, अतः कारणात् त्रिशूलमहता त्रिशूलेन महान् त्रिशूलमहान् तेन त्रिशूलधारिणा, अशङ्करेण शः धर्मः न शः अशः तं अधर्मं करोति अशङ्करस्तेन अशङ्करेण अधर्मात्मना, शङ्करेण शः हिंसा तं करोति इति शङ्करस्तेन निर्दयिनेत्यर्थ जगत् भुवन, सुखि? काकुप्रयोगः कदापि नेत्यर्थ। 'शङ्करः पार्वतीनाथे त्रिषु कल्याणकारिणि' इति विश्वलोचनः। शङ्करस्त्रिशूलधारकत्वात् कल्याणकारी अभयदाता न भवतीति भावः ।।३५।।

अर्थ- हे अशङ्क! इस जगत् मे कामाग्नि से जलते हुये शिव ने त्यागधर्म का अनादर किया इसलिये त्रिशूलधारी और हिंसाकारी शङ्कर से जगत् सुखी है क्या? अर्थात् नहीं है।।३५।।

[३६]

विदधानमामोदकं नासां कुसुममिव रसनां मोदकम् ।
मोदयतु मा मोदकं तृषितमिह नुतसमामोदकम् ।।

हे नुतसम! हे अम! इह नासा आमोदकं विदधान कुसुमं रसना मोदकं तृषितं मोदकं उदक इव (अय त्यागधर्मः) मा (मां) मोदयतु।

विदधानमिति- हे नुतसम! नुतः स्तुतः समैः सर्वैरिति नुतसमः तत्सम्बुद्धौ हे नुतसम! हे सर्वजनस्तुत इत्यर्थः। हे अम! न विद्यते मा बन्धनं यस्य सः अमः तत्सम्बुद्धौ हे अम! 'स्त्रियां स्यान्मा रमायां च माक्षेपे मानबन्धयोः' इति विश्वलोचनः। अथवा नतसमाम इति पाठः इह जगति, नासां घ्राणं, आमोदकं आमोद एव आमोदकं सुगन्धं विदधानं कुर्वाणं कुसुमं पुष्पं रसनां जिह्वां मोदकं लड्डुकं, तृषितं पिपासातुरं मोदकं हर्षकरम् उदकमिव सलिलमिव, (अयं त्यागधर्मः) मा माम्, मोदयतु हर्षयतु। यथा सुगन्धोपेत कुसुमं नासां सुखयति, मोदकं रसनां सुखयति, हर्षकरं सलिलं पिपासातुरं जनं सुखयति तथायं त्यागधर्मो मां सुखयत्विति भावः ।।३६।।

अर्थ- हे नुतसम! सबके द्वारा स्तुत! हे अम! हे बन्धन से रहित! जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प नासिका को, लड्डू रसना को और पानी प्यासे मनुष्य को प्रमुदित करता है उसी प्रकार यह त्यागधर्म मुझे प्रमुदित करे ।।३६।।

[३७]

मोदेऽमुनाहमधुना नासानन्दनेनेवाम्रमधुना ।
लता कोकिलो मधुना नन्दनो जननीस्तनमधुना ।।

नासानन्दनेन आम्रमधुना कोकिल , जननीस्तनमधुना नन्दन , मधुना लता इव, अह अधुना अमुना (त्यागधर्मेण) मोदे।

मोद इति- नासानन्दनेन घ्राणानन्दकरेण आम्रमधुना रसालपुष्परसेन कोकिलः पिकः, जननीस्तनमधुना मातृस्तनक्षीरेण नन्दनः पुत्रः, मधुना जलेन लता इव वल्लीव, अहम्, अधुना साम्प्रतम्, अमुना एतेन (त्यागधर्मेण) मोदे हर्षामि। 'मधु पुष्परसे क्षौद्रे मद्यक्षीराप्सु न द्वयोः' इति विश्वलोचनः ।।३७।।

अर्थ- जिस प्रकार घ्राण को आनन्द देने वाले आम के मकरन्द से कोयल, माँ के स्तन से निकले दूध से बालक और जल से लता प्रसन्न होती है, उसी प्रकार मै इस समय इस त्यागधर्म से प्रसन्न हो रहा हू ।।३७।।

[३८]

शमयति नान्नं वसुकं ह्यतिघृतयुतमपि गतमधिकं वसुकम् ।
तथा भवक्षुद्वसुकं श्रुतोनो यियासो स्ववसुकम् ।।

अधिक वसुक गतं अतिघृतयुतं अपि वसुक अन्नं (यथा) क्षुधां न शमयति तथा स्ववसुकं यियासो! श्रुतोन. (शास्त्रविरुद्धत्याग.) भवक्षुद्वसुकं न शमयति।

शमयतीति- अधिकं प्रचुरं रौमकं लवणमित्यर्थः 'वसुकः शिवमल्ल्यां स्यादर्कपर्णेऽपि रौमके' इति विश्वलोचनः। रौमकं 'सांभरनमक' इति प्रसिद्धम्। गतं प्राप्तम्, अतिघृतयुतमपि प्रचुराज्ययुक्तमपि, वसुकं मधुरम् अन्नं खाद्यं (यथा) क्षुधां न शमयति न शान्तां करोति तथा स्ववसुकं आत्मधनं यियासोः यातुमिच्छोः जनस्येति शेषः। श्रुतोनः श्रुतेन शास्त्रेण शास्त्रोक्ताचारेण वा ऊनो रहितः शास्त्रविरुद्ध इत्यर्थः (त्यागः) भवक्षुद्वसुकं संसारक्षुदग्निं न शमयति न दूरीकरोति। 'वसुर्ना देवभेदे च योक्त्रे वह्नौ युधे त्रिषु। वसु वृद्धौषधे रत्नेऽपि श्यामे हट्टके धने ।। वाच्यवन्मधुरेऽपि स्यात्' इति विश्वलोचनः। वसु एव वसुकं स्वार्थे कप्रत्ययः ।।३८।।

अर्थ- जिस प्रकार अधिक नमक और अधिक घी से युक्त होने पर भी अन्न क्षुधा को शान्त नही करता है; उसी प्रकार हे आत्मधन को प्राप्त करने के इच्छुक साधो! शास्त्रविरुद्ध त्याग भी ससार की भूखरूप अग्नि को शान्त नहीं करता है ।।३८।।

[३९]

समुदिता सह साधुना समता-श्रीर्नेन वचसा साधुना।
मयावसिता साधुना साधुनाऽसाधुना साऽधुना ।।

साधुना (वृद्धेन) नेन साधुना वचसा सह समताश्री समुदिता (किन्तु) साधुना (मुनिना) असाधुना (यूना) साधुना (सुन्दरेण) मया सा अधुना अवसिता।

समुदितेति- साधुना वृद्धेन, नेन जिनेन, साधुना श्रुतिमधुरेण, वचसा वचनेन सह समताश्रीः साम्यभावलक्ष्मीः समुदिता सम्यक्प्रकारेण कथिता प्राप्ता वा। (किन्तु) साधुना मुनिना, असाधुना अवृद्धेन यूनेत्यर्थः, साधुना सुन्दरेण, मया सा समताश्रीः, अधुना साम्प्रतम्, अवसिता मोहिता संसेविता सर्वाङ्गे बद्धा। मम पूज्यगुरुणाचार्यज्ञानसागरेण वृद्धेनापि सता समताश्रीः समासादिता मया पुनर्यूना शरीरसौष्ठवसहितेनापि सा समताश्रीः समापिता, इत्ययमर्थोऽत्र निगूढः प्रतिभाति। 'साधुर्वार्धुषिके पुंसि चारुसज्जनयोस्त्रिषु' इति विश्वलोचनः ।।३९।।

अर्थ- साधु--वृद्ध जिनेन्द्र और साधु--श्रुति मधुर अथवा पूर्वापर विरोध से रहित वचन के साथ समतारूपी लक्ष्मी प्रकट हुई थी परन्तु मुझ युवा साधु के द्वारा वह समतारूपी लक्ष्मी इस समय अवसित-- समाप्त हो रही है ।।३९।।

[४०]

सत्यस्मिन्नेव संत्याग आलोको भास्करे यथा ।
सत्यं मुने ह्यसङ्गाङ्ग व्यलोलं भातु रे! तथा ।।

हे! अङ्ग असङ्ग मुने यथा भास्करे सति आलोकः भातु तथा अस्मिन् संत्यागे सति हि सत्यं व्यलोलं भातु।

सत्यस्मिन्निति- अङ्ग असङ्ग मुने! हे निर्ग्रन्थसाधो! यथा भास्करे सूर्ये, सति विद्यमाने, आलोकः प्रकाशो, भातु शोभताम्, तथा अस्मिन् संत्यागे शक्तितस्त्यागभावनायां सत्यामित्यर्थः 'नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय सम्मतौ' इत्युक्तेरनुस्वारन्यूनता चित्रभङ्गाय नास्ति। सति हि निश्चयेन सत्यं सत्यधर्मः व्यलोलं विशेषेण अलोल व्यलोलम् अतिस्थिरं भातु शोभताम्! 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः।।४०।।

अर्थ- अङ्ग असङ्ग मुने! जिस प्रकार सूर्य के रहते प्रकाश सुशोभित रहता है, उसी प्रकार इस त्यागधर्म के रहे हुए सत्यधर्म निश्चय से अत्यन्त स्थिर सुशोभित रहे।।४०।।

[४१]

स्थितिर्निजात्मनि काये तपो न मुनेः क्षणान्तात्मनि काये ।
रता वदन्ति निकायेऽन्यथा त्विति व्यथा मुनिका ये ।।

क्षणान्तात्मनि काये स्थिति मुने तप न (किन्तु) काये निजात्मनि स्थिति तप, अन्यथा तु व्यथा (भवेत्) इति निकाये ये रता मुनिका वदन्ति।

स्थितिरिति- क्षणान्तात्मनि क्षणभङ्गुरस्वरूपे काये शरीरे, स्थितिः ममत्वभावेन परिणतिः मुने साधोः तपो न तपश्चरणं न विद्यते (किन्तु) काये स्वभावे, निजात्मनि स्वकीयात्मनि, स्थितिः स्वकीयत्वपरिणतिः, तपः। अन्यथा तु निजात्मानं त्यक्त्वा शरीरप्रभृतिषु परपदार्थेषु ममत्वभावे सति तु व्यथा पीडा, (भवेत्) इति इत्थं, निकाये स्वभावे ये रता लीनाः, (ते) मुनिकाः मुनय एव मुनिका यतयः, वदन्ति कथयन्ति। 'कायो वर्ष्मस्वभावे च'। 'निकायः स्वात्मवेश्मनोः' इति च विश्वलोचनः ।।४१।।

अर्थ- 'क्षणभङ्गुर शरीर मे स्थित रहना—उसमे ममत्व रखना मुनि का तप नहीं है किन्तु निजात्मा मे रहना तप है, अन्यथा पीड़ा होती है' ऐसा निकाय— स्वभाव मे स्थित मुनि कहते है ।।४१।।

[४२]

तापसोऽतो विनाऽशं तपनतापतापिततनुर्विनाशम् ।
उद्गच्छतु भुवि ना शं विहाय विना शम् ।।

अत तपनतापतापिततनु तापस अश विना विनाश उद्गच्छतु भुवि नाशं विहाय विलम्बेन विना श (उद्गच्छतु)।

तापस इति- **अत. अस्मात्कारणात्, तपनतापतापिततनुः तपनस्य सूर्यस्य तापेन तापिता तनुः शरीर यस्य सः तथाभूतः, तापसः साधुः,अशं अहिंसां दयां विना विनाशं उद्गच्छतु प्राप्नोतु दयापरिणतिं विना तापनादियोगो व्यर्थ इत्यर्थः । भुवि पृथिव्यां ना पुमान्, श हिंसा विहाय त्यक्त्वा, विलम्बेन विना, शीघ्रमित्यर्थः, शं धर्मं कल्याणं (उद्गच्छतु) 'श शतायुषि हिंसाया शं धर्मे ' इति विश्वलोचनः ।।४२।।**

अर्थ- अत सूर्य के मताप से सतापित है शरीर जिसका ऐसा साधु दया के विना विनाश को प्राप्त हो,पृथिवी पर मानव हिंसा को छोडकर विलम्ब के विना – शीघ्र ही धर्म या कल्याण को प्राप्त हो ।।४२।।

[४३]

न याति लुञ्चिताङ्गजं परीषहजयिनं श्रीः कलिताङ्गजम् ।
वहन्तमविभुताङ्गजं सतां स्तुतिगताऽजिताङ्गजम् ।।

सता स्तुतिगत! अविभुताङ्गज वहन्त लुञ्चिताङ्गज कलिताङ्गज परीषहजयिन अजिताङ्गज श्री न याति।

नेति- **हे सता साधूना स्तुतिं स्तवनं गत प्राप्त! हे साधुस्तुत्य! अविभुताङ्गजं न विभुः अविभु तस्य भाव अविभुता, अविभुता एव अङ्गजः रोगः तं वहन्तं धारयन्त अप्रभुतारोगधारिणमिति भावः, लुञ्चिताङ्गजं लुञ्चिता अङ्गजाः केशा येन तम् समुत्पाटितकेशमित्यर्थः, कलिताङ्गज कलितो धृत अङ्गजः स्वेदो येन तम् परीषहजयिन परीषहाः क्षुत्पिपासादयस्तान् जयतीति परीषहजयी तम्, अजिताङ्गजं अजितो न पराजितः अङ्गजः कन्दर्पो येन तम्, श्रीः बाह्याभ्यन्तरलक्ष्मीः न याति न प्राप्नोति। 'अङ्गजः केशकन्दर्पे पदे पुत्रे गदे स्वजे' इति विश्वलोचनः। स्वजः स्वेद इत्यर्थः ।।४३।।**

अर्थ- हे साधुस्तुत्य! जो अविभुता रूप अङ्गज–रोग को धारण कर रहा है, जिसने अङ्गज-केशो का लोंच किया है, जो अङ्गज – पसीना को धारण किये हुए है, जो परीषहो को जीतने वाला है किन्तु अङ्गज–काम को जिसने नहीं जीता है ऐसे साधु को बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती ।।४३।।

[४४]

सतेति किं न वा सितं नैत्ययो रसाद्धेमतां वासितम् ।
उपधिना न नु वासितं तपसोऽपि च सिततां वासितम् ।।

वासित अयः रसात् हेमता न एति। उपधिना सितं वासितं अपि तपसः सिततां न एति, इति सता किं न नु सित? सितमित्यर्थ । वा वा समुच्चये।

सतेति- **वासितं वसनवेष्ठितम्, अयः लोहः, रसात् रसायनात्, हेमतां सुवर्णत्वं, न एति न प्राप्नोति। उपधिना परिग्रहेण सितं बद्धं सहितमित्यर्थः वासितं ज्ञानं परिग्रहवासनासहितमित्यर्थः। अपि तपसः तपश्चरणतः सिततां सितस्य भावः सितता उज्ज्वलता ताम्, न एति न प्राप्नोति केवलज्ञानं न याति। इतीत्थं सता साधुना किं न नु सितं किं न ज्ञातं, नु इति वितर्के, सितमित्यर्थः। वा वा समुच्चये। 'वासितं विहगारवे। ज्ञाने त्रिष्वेव वसनवेष्ठिते सुरभीकृते।' 'सितं श्वेतसमाप्तयोः। त्रिषु ज्ञानेऽपि बद्धेऽपि' इति च विश्वलोचनः ।।४४।।**

अर्थ- वस्त्र से वेष्टित लोहा रसायन से सुवर्णता को प्राप्त नही होता और परिग्रह से बद्ध—सहित ज्ञान तप की उज्ज्वलता को प्राप्त नहीं होता, ऐसा क्या साधु ने नहीं जाना ?।।४४।।

[४५]

यथा दहति सदागतिप्रेरितो वनजो वनं सदागतिः ।
विधिततिमिति सदागतिः सदागतिष्वाह सदा गतिः ।।

सदागतिप्रेरित वनज सदागति यथा वन दहति तथा (तप) विधिततिं (दहति) इति सदागतिषु सदागति सदागति आह।

यथेति- **सदागतिप्रेरितः वायुप्रेरितः, वनजो वनोत्पन्नः, सदागतिः अग्निः, यथा येन प्रकारेण, वन काननं, दहति भस्मसात्करोति, तथा (तप) विधिततिं कर्मसमूहं, (दहति), इतीत्थं, सदागतिषु सदागतिः मुनिः तेषु मुनिषु, सदागतिः ईश्वरः इति यावत्, आह जगाद। 'सदागतिर्गन्धवाहे निर्वाणेऽपि सदीश्वरे' इति विश्वलोचनः। ।।४५।।**

अर्थ- जिस प्रकार सदागति—वायु से प्रेरित वन की सदागति— अग्नि वन को जला देती है, उसी प्रकार तप कर्मसमूह को जला देता है—इस प्रकार सदागति—मुनियों मे सदागति—ईश्वर स्वरूप सदागति—मुनि ने कहा है।

[४६]

दृशान्वितं विदो युक्तं सत् तपो गीयते ह्यतः ।
आशातीतं ह्यदो व्यक्तं पूतधीर्गीर्यते सतः ।।४६।।

उ ! पूतधी ! यते ! दृशान्वित विदा युक्त हि अत. आशातीतं व्यक्त हि अद. सत् तप· गीयते इति सत गी ।

दृशान्वितमिति- **उ सम्बुद्धौ पूतधीः! हे पवित्रबुद्धे! हे यते! भो साधो! दृशा सम्यग्दर्शनेन अन्वितं सहितं, विदा सम्यग्ज्ञानेन, युक्तं हि निश्चयेन, अतः अत एव कारणात्, आशातीतं तृष्णारहितं, व्यक्तं स्पष्टं हि अदः प्रसिद्धं, सत् तपः समीचीनं तपः गीयते निगद्यते, इतीत्थं सतः साधोः गीः वाणी अस्तीति शेषः। सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसहितं भोगाकाङ्क्षातीतमेव च तपः प्रशस्यत इति यावत् ।।४६।।**

अर्थ- हे पवित्र बुद्धि से युक्त! जो सम्यग्दर्शन से सहित है, सम्यग्ज्ञान से युक्त है और इसीलिये जो आशातीत–तृष्णा से परे है, सुव्यक्त है, वही उत्तम तप कहलाता है, ऐसी साधु की वाणी है ।।४६।।

[४७]

साधोः समाधिकरण सुखकरं गुणानामाधिकरणम् ।
न कृतागमाधिकरणं करणोन! नु कामाधिकरणम् ।।

हे कृतागम! करणोन! सुखकर गुणानाम् आधिकरण कामाधिकरण, न आधिकरण च नु साधो समाधिकरण (अस्ति) ।

साधोरिति- **हे कृतागम! कृत आगमो येन तत्सम्बुद्धौ हे रचितशास्त्र! हे करणोन! करणैरिन्द्रियैः इन्द्रियविषयैरित्यर्थः ऊनो रहितस्तत्सम्बुद्धौ । सुखकर सुखोत्पादकम्, गुणानां वात्सल्यादीनाम्, आधिकरणम् अधिक्रियते यस्मिन् तदधिकरणम्, अधिकरणमेव आधिकरणम् स्वार्थेऽणप्रत्ययः आधारस्थानम्, कामाधिकरणं कामाना मनोरथानाम् आधिकरण पूरकम्, न आधिकरणं न मानसिकव्यथाया आधारः, च समुच्चये, नु वितर्के, समाधिकरण साधूनां सुस्थिरीकरणम् (अस्ति) ।।४७।।**

अर्थ- हे कृतागम! आगम के रचयिता! हे करणोन! इन्द्रियविषयों से रहित! जो सुखकारी है, गुणों का आधार है, काम–मनोरथों का पूरक है और मानसिकव्यथा को करने वाला नहीं है वही साधु का समाधिकरण है – साधुसमाधि नामक भावना है।।४७।।

[४८]

सर्वमन्यद् व्यलीकं ह्यदो विहाय विपश्चितां व्यलीकम् ।
अताम्येतद् व्यलीकं कदाप्यनिच्छन् भुव्यलीकम् ।।

विपश्चिता अदः विहाय हि अन्यद् सर्वं व्यलीक व्यलीकं (अस्ति अतः) भुवि अलीकं व्यलीकं कदापि अनिच्छन् एतत् अतामि ।

सर्वमिति- **विपश्चितां विदुषां 'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः' इत्यमरः। अदः एतत्, समाधिसाधनम् विहाय त्यक्त्वा हि निश्चयेन, अन्यत् सर्वम् इतरत् निखिलम्, व्यलीकम् अकार्यम्, व्यलीकं विप्रियम् (अस्ति अतः) भुवि पृथिव्याम् अलीकम्, व्यलीकं स्वर्गं, कदापि जात्वपि, अनिच्छन् अनभिलषन् (अहम्) एतत् अतामि गच्छामि प्राप्नोमीति यावत्। 'अत सातत्यगमने' इत्यस्य रूपम्। 'व्यलीकं विप्रियाकार्यवैलक्ष्येष्वपि पीडनम्' । 'अलीकं त्रिदिवे क्लीबं मिथ्यायामप्रिये त्रिषु' इति च विश्वलोचनः ।।४८।।**

अर्थ- विद्वानों के लिए इस साधुसमाधि को छोड़कर अन्य सब व्यलीक-- अकार्य है, अप्रिय है। मै पृथिवी पर मिथ्यास्वर्ग की इच्छा न करता हुआ इस साधुसमाधि को प्राप्त होता हूँ।।४८।।

[४९]

यो मदादिं न मन्तु मुञ्चति भुवीशो गन्तुं न मन्तुम् ।
तदूनस्तं न मन्तुं जातु स्वमिच्छामि नमन् तुम् ।।

य तदून (साधुसमाधिकरणविहीन) मदादिं मन्तु न मुञ्चति (स) मन्तु गन्तु न ईश स्वं नमन् तु मन्तु त जातु न इच्छामि ।

यो मदादिमिति- **यः तदूनः तेन साधुसमाधिकरणेन ऊनो विहीनः, मदादिं गर्वादिकं, मन्तुम् अपराधं, न मुञ्चति न त्यजति (सः) मन्तु परमेष्ठिनं, गन्तुं प्राप्तुं, न ईशः न समर्थः, स्वम् आत्मानं, नमन् नमस्कुर्वन्, तुं चौरं, तं मन्तुं मानवं, जातु कदाचित्, न इच्छामि नाभिलषामि। 'मन्तुः स्यादपराधेऽपि मानवे परमेष्ठिनि' इति विश्वलोचनः 'तुश्चौरक्रोडमुच्यते' इत्यपि च। यो गर्वादिभावमाश्रित्य साधुसमाधि न करोति तमहं नेच्छामीति भावः ।।४९।।**

अर्थ- जो साधुसमाधि से रहित हो अहंकार आदि अपराध को नहीं छोड़ता है वह मन्तु--परमेष्ठी को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। स्वकीय आत्मा को नमन करता हुआ मै उस चौरमानव-- परपदार्थों को अपना मानने वाले मानव की कभी इच्छा नहीं करता ।।४९।।

[५०]

ततस्तदाप्त्यै भगतस्तिष्ठाम्यहमतिदूरं न तु भगतः ।
एवास्यचलन् भगत परमपदमपीह वृषभ ! गतः ।।

तत. तदाप्त्यै (साधुसमाधिकरणाय) अह भगत अतिदूर तिष्ठामि न तु भगत. हे वृषभ! भगत अचलन् इह (त्वमपि) परमपद गत असि ।

तत इति- **तत. तस्मात् कारणात् तदाप्त्यै तस्य साधुसमाधेः आप्त्यै प्राप्त्यै, अहं भगत यशसः अतिदूरं तिष्ठामि न तु भगत वैराग्यात्। हे वृषभ! हे आद्यजिनेन्द्र! भगतः धर्मतः अचलन् नैव चलन् इह जगति (त्वमपि) परमपदं श्रेष्ठपदं मोक्षमिति भावः। गतः प्राप्त असि। 'भगं तु ज्ञानयोनीच्छायशोमाहात्म्यमुक्तिषु' इति विश्वलोचनः ।।५०।।**

अर्थ- इसलिये उस साधुसमाधि की प्राप्ति के लिये मै भग—यश से अतिदूर रहता हूँ, भग—वैराग्य से नहीं। हे वृषभजिनेन्द्र! भग—धर्म से विचलित न होते हुये आप भी परमपद को प्राप्त हुए है।।५०।।

[५१]

पवनो गत परागं मुनिमितमिदमिव शस्यतेऽपरागम् ।
गता तव गीः परागं सुललनाकरलतेप! रागम् ।।

हे ईप! पराग गत पवन , पराग गता सुललनाकरलता, तव ग गता (मम) परा गी इव अपराग मुनिं इत इद (समाधिकरण) शस्यते।

पवन इति- **हे ईप! ईं लक्ष्मीं पाति रक्षतीति ईपस्तत्सम्बुद्धौ हे लक्ष्मीपते! पराग पुष्परज गत प्राप्त, पवनः समीरः, पराग लोहितवर्णमयाङ्गरागं, गता प्राप्ता, सुललनाकरलता सुस्त्रीपाणिवल्ली, तव भवत, ग गीत गता (मम) परा श्रेष्ठा गीः वाणी इव, अपराग अपगतो विनष्टो रागो यस्य त वीतराग मुनिम्, इतं प्राप्तं, इदम् (समाधिकरण) शस्यते प्रशसितं भवति। 'पराग पुष्परजसि स्नानीयादौ रजस्यपि। विख्यातावुपरागेऽपि चन्दने पर्वतान्तरे'। 'ग गीते शास्त्रगातरि' इति च विश्वलोचन।।५१।।**

अर्थ– हे ईप! हे लक्ष्मीपते! जिस प्रकार पराग– पुष्परज को प्राप्त हुआ पवन, पराग – मेंहदी की लाली को प्राप्त हुई सुन्दर स्त्री की करलता और आपके गीत–गुणगान को प्राप्त हुई मेरी वाणी प्रशसनीय है, उसी प्रकार अपराग–वीतराग मुनि को प्राप्त हुई यह साधुसमाधि भावना प्रशसनीय है ।।५१।।

[५२]

भव्यकौमुददोषेशः कामधेनुः सुरागकः ।
दिव्यविद्मुक्तिदोमेश मामटेन्नु तरां तु क।।

हे दिव्यविद्मुक्तिद!उमेश! क! भव्यकौमुददोषेश कामधेनु सुरागक (साधुसमाधिकरण) मा तरा अटेत् नु (निश्चये) तु (पादपूर्तौ) ।

भव्येति- हे दिव्यविद्मुक्तिद! विच्च मुक्तिश्चेति विद्मुक्ती, दिव्ये विद्मुक्ती इति दिव्यविद्मुक्ती ते ददातीति दिव्यविद्मुक्तिदस्तत्सम्बुद्धौ हे दिव्यविद्मुक्तिद! दिव्यज्ञानमोक्षद! उमेश! उमायाः कीर्तेः ईशः उमेशस्तत्सम्बुद्धौ कीर्तिस्वामिन् ! क! ब्रह्मन्! भगवन्नित्यर्थः । भव्यकौमुददोषेशः कुमुदानां समूहः कौमुदं भव्या एव कौमुदं भव्यकौमुदं तस्य दोषेशश्चन्द्रः, कामधेनुः सुरगवी, सुरागकः सुराणां देवानाम् अगः सुरागः, सुराग एव सुरागकः कल्पवृक्षः (इदं साधुसमाधिकरणं) मां अटेत् तरां अतिशयेन प्राप्नुयात् यायात्। नु निश्चये, तु पादपूर्तौ। 'उमा गौर्यामतस्यां च हरिद्राकान्तिकीर्तिषु' इति विश्वलोचनः ।।५२।।

अर्थ- हे दिव्यज्ञान और मुक्ति के दाता! हे कीर्ति के स्वामी! हे ब्रह्मन् – हे जिनेन्द्र! भव्यरूप कुमुदसमूह को चन्द्रमा, कामधेनु और कल्पवृक्ष रूप यह साधुसमाधि मुझे निश्चय मे अच्छी तरह प्राप्त हो ।।५२।।

[५३]

यथोद्यतमिह रोहित सततं जगतां नु हिताय रोहितः ।
वान्तस्वार्थरोहित सत्सेवको भव परो हितः ।।

-यथा इह रोहित जगता हिताय रोहित नु उद्यत तथा (त्वमपि) वान्तस्वार्थरोहित (भवन्) (जगता) हित पर सत्सेवक भव ।

यथोद्यत इति- **यथा येन प्रकारेण, इह लोके, रोहितः वीरः राजेत्यर्थ जगतां लोकाना, हिताय कल्याणाय, उद्यतः तत्परः, यथा (च) रोहितः सूर्या जगता हिताय नु निश्चयेन (उद्यता उदिता) भवन्ति, तथा (त्वमपि) वान्तस्वार्थरोहितः वान्तं स्वार्थ एव रोहितं रुधिरं येन तथाभूतः (भवन्)जगतां जगज्जीवानां हितः कल्याणकारकः परः उत्कृष्टः सत्सेवकः सता साधूनां सेवको वैयावृत्यकरः, भव एधि। 'सरलेन्द्रायुधे वीरे रुधिरेऽपि च रोहितम्' इति, 'रोहिदर्के पुमानेव' इति च विश्वलोचनः ।।५३।।**

अर्थ- जिस प्रकार इस जगत् मे रोहित– वीर राजा जगत् जनों के हित के लिये उद्यत रहता है अथवा उगते हुए रोहित – सूर्य जगत् के हित के लिये तत्पर है, उसी प्रकार हे आत्मन्! तू स्वार्थरूपी रुधिर को वान्त करता हुआ जगत् का हितकारी उत्कृष्ट सेवक हो।।५३।।

[५४]

ममतमितन्मुदः कुमुदं तदूनमश्वे न जितमनःकुमुदम् ।
बन्धुरयति किं कुमुदं नलिनीदलनन्दनं कुमुदम् ।।

तदून (साधुसेवाऽकरणशील) न अञ्चे (किन्तु) जितमन.कुमुद मम उर कुमुदं इतं त (जिन) अञ्चे, कि बन्धु कुमृद अयति ? कि कुमुद नलिनीदलनन्दन अयति ? (नेत्यर्थ.)

ममेति- **तदूनं तेन ऊनस्तदूनस्तं साधुसेवाऽकरणशीलमित्यर्थः। न अञ्चे न पूजयामि, (किन्तु) जितमनःकुमुदं जिता मनसः कुमुद् कुत्सितहर्षो येन तं विषयानन्दरहितमित्यर्थ, मम, उरकुमुदं हृदयकैरवम्, इतं प्राप्तं, तं (जिनं) अञ्चे पूजयामि। किं बन्धु परिवारजनः,कुमुदं कृपण, अयति गच्छति प्रेम्णा प्राप्नोतीत्यर्थ, किं कुमुद कैरवं, नलिनीदलनन्दन सूर्यं, अयति गच्छति प्रेम्णा प्राप्नोति? अपि तु नेत्यर्थ। 'अयति' इति रूप 'इट किट कटी गतौ' इत्यत्र प्रश्लिष्टस्य इधातो रूपम् । 'कुमुदं कैरवे क्लीब कृपणे कुमुदन्यवत्' इति विश्वलोचन ।।५४।।**

अर्थ- साधुसेवा से रहित मानव की मै पूजा नहीं करता, किन्तु मन के कुमुद्--कुत्सित हर्ष-- विषयानन्द को जीतने वाले अपन हृदयकुमुद मे आये उन जिनेन्द्र की पूजा करता हूँ। क्या बन्धु--कुटुम्ब परिवार कुमुद--कृपण मनुष्य के पास जाता है ? अथवा कुमुद--कैरव मूर्य के पास जाता है। अर्थात् नहीं ।।५४।।

[५५]

हरति दययाऽमा नत प्ररक्षन् नमनो न! मनो मानतः ।
यो मुनिगतामानत स मुक्तिमेत्यघतोऽमानतः ।।

हे अमन! न! य दयया अमा नत मानत मन प्ररक्षन् मुनिगतामान् हरति (स) अत अमानत अधत मुक्ति एति।

हरतीति- **हे अमन ! न विद्यते मनो यस्य सः अमना तत्सम्बुद्धौ हे सर्वज्ञ ! य जन, दयया करुणया, अमा सह, नतः नम्रीभूत, मानत गर्वात्, मन चित्त, प्ररक्षन् प्रकर्षेण रक्षन् मुनिगतामान् मुनीन् गता प्राप्ता मुनिगता अमा रोगाः मुनिगतामाः तान् मुनिगतामान् साधुसमुद्भवरोगान् हरति दूरीकरोति । (स) अत मुनिजनवैयावृत्यकरणान् हेतो अमानत न विद्यते मान प्रमाण यस्य सः अमान अपरिमितः तस्मात्, अघत पापात् मुक्ति निवृत्तिम्, एति प्राप्नोति। अथवा मानतः मानकषायात् निवृत्तिम् एति। अथवा अमानत ईषत् मान प्रमाण अमान क्षायोपशमिकज्ञानमिति यावत्, तस्मात् अल्पज्ञानात् मुक्तिम् एति, केवलज्ञानी भवतीति भाव ।।५५।।**

अर्थ- हे अमन न! हे भावमन से रहित जिनदेव! जो दया के साथ नम्रीभूत तथा मान--गर्व मे मन की रक्षा करता हुआ मुनियों के रोगों को हरता है-- दूर करता है वह इसके फलस्वरूप अपरिमित पाप से मुक्ति पा जाता है ।।५५।।

[५६]

समौक्तिकोऽत्र कलिङ्गःकलितः कमनीयमणिना कलिङ्गः।
दुर्लभो भुवि कलिङ्गस्तथा युतोऽनेन सकलिङ्गः॥

यथा अत्र भुवि समौक्तिक. कलिङ्गः, कमनीयमणिना कलितः कलिङ्गः दुर्लभः, तथा अनेन युतः (वैयावृत्यान्वितः) सकलिङ्गः कलिङ्ग. दुर्लभः।

समौक्तिक इति- **यथा येन प्रकारेण अत्र भुवि अस्यां वसुधायां, समौक्तिकः मौक्तिकैः सहितः कलिङ्गो मतङ्गजः हस्तीत्यर्थः, कमनीयमणिना मनोहरफणारत्नेन, कलितः सहितः, कलिङ्गः भुजङ्गः, दुर्लभः दुष्प्राप्यः, तथा अनेन वैयावृत्येन, युतः अन्वितः, सकलिङ्गः कस्य आत्मनो लिङ्गं चिह्नं कलिङ्गं जातरूपमुद्रा तेन सहितः सकलिङ्गः, कलिङ्गः विदग्धः चतुरो जन इत्यर्थः, दुर्लभो दुष्प्राप्यः।'कलिङ्गो भूमिकूष्माण्डे मतङ्गजभुजङ्गयोः', 'नीवृद्भे कलिङ्गस्तु त्रिषु दग्धविदग्धयोः' इति च विश्वलोचनः।।५६।।**

अर्थ- जिस प्रकार इस भूमि पर मोतियों सहित कलिङ्ग–हाथी, और सुन्दर मणि से सहित कलिङ्ग–नाग दुर्लभ है उसी प्रकार इस वैयावृत्य से सहित सकलिङ्ग–निर्ग्रन्थ–नग्नमुद्रा से सहित कलिङ्ग–चतुर जन दुर्लभ है।।५६।।

[५७]

रतेन निजे पदे न न्विदं शोभते च वस्तुतोऽपदेन ।
सरसिजं षट्पदेन पदेन जनपदोऽलं पदेन ।।

हे न! वस्तुत निजे पदे रतेन अपदेन नु इद शोभते। सरसिज षट्पदेन, जनपद पदेन यथा (शोभते) पदेन अलम् (अस्तु)।

रतेनेति- **हे न! हे पूज्य! वस्तुतः परमार्थतः, निजे पदे स्वस्वभावेन रतेन, अपदेन पदं वस्त्ररूपं वस्तु न विद्यते यस्य सः अपदः तेन अपदेन दिगम्बरेण निर्ग्रन्थसाधुनेत्यर्थः, नु निश्चयेन, इद वैयावृत्यकरण शोभते। सरसिजं कमलं, षट्पदेन भ्रमरेण, जनपदः देशः, पदेन व्यवसायेन उद्योगेनेत्यर्थः । यथा येन प्रकारेण (शोभते) पदेन शब्देन व्यर्थवाग्जालेनेति भावः अलं पर्याप्तम् (अस्तु) व्यर्थेन शब्दाडम्बरेण को लाभः? नैर्ग्रन्थ्येनैवेदं वैयावृत्यं विशोभते इति भावः। 'पदं वाक्ये प्रतिष्ठायां व्यवसायापदेशयोः। पादातचिह्नयोः शब्दे स्थानत्राणाङ्घ्रिवस्तुषु' इति विश्वलोचनः ।।५७।।**

अर्थ- हे न! पूज्य! जिनवर! यथार्थतः निज स्वभाव मे लीन अपद–दिगम्बर–निर्ग्रन्थ साधु से ही यह वैयावृत्य सुशोभित होता है, उस प्रकार, जिस प्रकार कि षट्पद – भ्रमर से कमल और पद–व्यवसाय–उद्योग से जनपद–देश सुशोभित होता है।।५७।।

[५८]

श्रेयसा मनसा साधोः सेवा विधीयते मया ।
जायतां मयि साऽबन्धोऽहं वा सुधीर्यते यया ।।

हे यते! श्रेयसा मनसा साधो. सेवा मया विधीयते, यया अहं अबन्ध , मयि सा सुधी· जायता वा (इतिममानुमान सम्यक्)।

श्रेयसेति- **हे यते! हे साधो! श्रेयसा श्रेष्ठेन, मनसा हृदयेन, साधोः तपस्विनः, सेवा वैयावृत्यं, मया काव्यकर्त्रा, विधीयते क्रियते, यया भावनया, अहम् अबन्धः बन्धरहित स्यामेति शेषः। मयि काव्यकर्तरि, सा वैयावृत्यपरायणा, सुधीः प्रशस्तबुद्धिः, जायता वा समुत्पद्यता वा (इति ममानुमानं सम्यक्) ।।५८।।**

अर्थ- हे यते! श्रेष्ठ मन से मेरे द्वारा साधु की सेवा की जावे, जिस सेवा से मै बन्धरहित हो जाऊ और मुझ मे वह सुबुद्धि उत्पन्न हो सके ।।५८।।

[५९]

स्तुता यतिपतिना गता वस्तुगताश्च दशा गतानागताः ।
निजं जयन्तु ना गता यद्धियं बाधां विना गताः ।।

आगता गता अनागता च वस्तुगता दशा बाधा विना यद्धिय गता (ते) ना ये निज गता यतिपतिना स्तुता जयन्तु ।

स्तुता इति- **आगता वर्तमानाः, गता अतीता, अनागता च भविष्यत्कालसम्बन्धिन्यश्च, वस्तुगता द्रव्यगता दशाः अवस्थाः पर्यायाः इत्यर्थ, बाधा विना, निर्बाधरीत्या, यद्धिय यदीयबुद्धि गताः प्राप्ताः त्रिकालज्ञा इत्यर्थः (ते) ना जिनेश्वराः, 'नकारो जिनपूज्ययोः' इति विश्वलोचनः। ये निज स्वस्वरूप गताः प्राप्ताः, यतिपतिना यतिनायकेन गणधरपरमेष्ठिना, स्तुताः स्तवनविषयीकृताः, जयन्तु सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ताम् ।।५९।।**

अर्थ- अतीत, अनागत और वर्तमान सम्बन्धी द्रव्यगत पर्यायें बिना किसी बाधा के जिनके ज्ञान मे प्राप्त है,जो निज स्वभाव को प्राप्त कर चुके है और यतिपति— गणधर देवों के द्वारा जो स्तुत है, वे जिनेन्द्र जयवन्त हों ।।५९।।

[६०]

खगणः कामहा! लयं त्वयेत इन इतोसि दृङ्महालयम् ।
श्रिया तया महालयं कुरुषेऽये त्वात्र महालयम् ।।

हे कामहा! अत्र त्वया खगण लय इत (अत) दृङ्महालय इत. असि, तया श्रिया महालय कुरुषे (अत) इन असि (अत) त्वा महालय (अह) अये।

खगण इति- **हे कामहा! कामं जहातीति कामहा तत्सम्बुद्धौ जितकाम! अत्र अस्मिन् लोके, त्वया, खगणः इन्द्रियसमूहः, लयं बिनाशम्, इतो गतः (अतः) दृङ्महालयं सम्यग्दर्शनमहाभवनं, इतः प्राप्तः असि, तया प्रसिद्धया श्रिया मोक्षलक्ष्म्या, महालयं महांश्चासौ लयश्चेति महालयस्तं महाश्लेषं क्रीडां कुरुषे विदधासि (अत) इनः स्वामी असि, त्वा भवन्तं महालयं तीर्थस्वरूपं महानामुत्सवानामालयस्तं अमन्दानन्दभवनमित्यर्थः। (अहम्) अये शरण्यबुद्ध्या प्राप्नोमि 'अय गतौ' इत्यस्य लडुत्तमे प्रयोग। 'लयो नृत्यादिसाम्ये स्याद्विनाशाश्लेषयोर्लयः' इति विश्वलोचनः। 'मह उत्सवतेजसोः' इति विश्वलोचनः। 'खमिन्द्रियं हृषीकं च स्रोतोऽक्षं करणं विदुः इति धनञ्जयः ।।६०।।**

अर्थ- हे मदनविजयिन्! इस जगत् मे आपके द्वारा खगण–इन्द्रियों का समूह लय – विनाश को प्राप्त हुआ है अत. आप सम्यग्दर्शन रूप महाभवन को प्राप्त है। आप उस –अनिवर्चनीय मोक्षलक्ष्मी के साथ आलिङ्गन करते है अत· आप इन– स्वामी है। इसीलिये महालय–उत्सवों के आलय स्वरूप आपको प्राप्त होता हूँ –आपकी शरण मे आता हूँ ।।६०।।

[६१]

दक्षो दूरोऽक्षरतोऽतितापात् क्षितिं स्रवत् क्षरं क्षरतः ।
तथा मामिहारक्षरतो न रक्षरक्षाभरोऽक्षरतः ।।

(यथा) इह क्षरत स्रवत् क्षर अतितापात् क्षिति (रक्षति) तथा (त्व) अक्षरत. दूर दक्ष न अक्षरत अक्षरत अक्षर मा रक्ष रक्ष।

दक्ष इति- **(यथा) येन प्रकारेण इह जगति, क्षरतः मेघात्, स्रवत् क्षरत् क्षरं जल, अतितापात् तीव्रनिदाघात्, क्षिति पृथिवीं (रक्षति) तथा (त्वं) अक्षरतः अक्षरेभ्य इति अक्षरतः पञ्चम्यास्तसिल् अक्षरसमूहात्, दूरः दूरवर्ती वचनागोचर इत्यर्थः न अक्षरतः अक्षेषु इन्द्रियेषु रत इति अक्षरतः इन्द्रियविषयासक्तो न भवति, अक्षरतः अक्ष्णोति जानाति इत्यक्ष आत्मा तस्मिन् रतः अक्षरः न क्षरतीति अक्षरः अविनाशी, मां रक्ष रक्ष त्रायस्व त्रायस्व। 'क्षरो मेघे क्षरं नीरे' इति विश्वलोचनः। 'अक्षरं न द्वयो मोक्षे ब्रह्मणि व्योमवर्णयोः' इति, 'अक्षं स्यादिन्द्रिये क्लीबं' इति च विश्वलोचनः ।।६१।।**

अर्थ- जिस प्रकार मेघ से झरता हुआ पानी तीव्र तपन से पृथिवी की रक्षा करता है उसी प्रकार अक्षरतो दूर–अक्षरों से दूर रहने वाले– वचनागोचर, दक्ष – समर्थ अथवा चतुर, न अक्षरतः इन्द्रियों मे अनासक्त, अक्षरत–आत्मरत और अक्षर–अविनाशी आप मेरी रक्षा करे, रक्षा करे ।।६१।।

[६२]

मोहोरगरसायनं मुक्तेर्यद् दर्शितमुरसाऽयनम् ।
यजेऽलं च रसायनं निरञ्जनं नं स्वरसाय नम् ।।

मुक्ते अयन यद्दर्शित मोहोरगरसायन निरजन न न स्वरसाय उरसा यजे (किन्तु) रसाय अलम् ।

मोहोरगेति- **मुक्तेः मोक्षस्य अयनं वर्त्म 'अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः' इत्यमरः। यद्दर्शितं येन दर्शितं येन प्रकटितमित्यर्थ, मोहोरगरसायनं मोह एव उरगः सर्पस्तस्य रसायनो गरुडस्तं 'गरुडेऽपि रसायनः' इति विश्वलोचनः। निरञ्जनं निष्कलङ्कं, नं पूज्यं, नं जिनं, स्वरसाय आत्मप्रीत्यै, उरसा हृदयेन, यजे पूजयामि, (किन्तु) रसाय इन्द्रियविषयाय रागाय वा, अलं पर्याप्तम् । 'रसः स्वादेऽपि तिक्तादौ शृङ्गारादौ द्रवे विषे। पारदे धातुवीर्याम्बुरागे गन्धरसे तनौ' इति विश्वलोचन ।।६२।।**

अर्थ- मुक्ति का मार्ग जिसने दिखाया है जो मोहरूपी सर्प को रसायन–गरुड है, कर्मकालिमा मे रहित है और पूज्य है ऐसे जिनेन्द्र की मै आत्मप्रीति के लिये–स्वान्त सुखाय हृदय से पूजा करता हूँ। रस–इन्द्रियसुख मेरे लिये अपेक्षित नहीं है।।६२।।

[६३]

स्वीयं मनो जहार गुणमणिमयं पुनर्मनोऽज! हारम् ।
गतोऽस्ति मनोजहाऽरं न नंक्षति मेऽमनोऽज ! हारम् ।।

हे मनोजहा! अमन मनो! अज! अज! (भवान्) स्वीय मन जहार पुन गुणमणिमय हार गत अस्ति (इति हेतो) मे र अर कि न नंक्ष्यति ? हा।

स्वीयमिति- **हे मनोजहा! कामहा! कामविघातकेत्यर्थः, अमनः न विद्यते मनो यस्य स अमनाः तत्सम्बुद्धौ हे मनोव्यापाररहित! मनो! मनुसंज्ञाधारक! अज! न जायते इति अजः तत्सम्बुद्धौ हे अज! जन्मातीत! अज! हे आदिजिनेन्द्र! (भवान्) स्वीयं स्वकीयं, मनो जहार मनो हृतवान् स्वकीयमनोविषयसंकोचं कृतवान्, पुनः समुच्चये, गुणमणिमयं सम्यक्त्वादिगुणमणिनिर्मितं हारं मौक्तिकस्रजं, गतः प्राप्तः अस्ति, (इति हेतो) मे मम रं दुःखं कामानलं वा, अरं शीघ्रं किं न नंक्ष्यति? नष्टं न भविष्यति, अपि तु भविष्यत्येव। इति हा दुःखम्। 'रस्तु कामानले वह्नौ' इति विश्वलोचनः। 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः। हे भगवन्! भवान् मनोजहा कामविघातकोऽस्ति किन्तु मम मनोजं कामं न नाशयति, इति दुःखं मम मनसि वर्तते इति भावः। प्रथमचरणेऽनुस्वारहीनता यमकभङ्गाय नालम् ।।६३।।**

अर्थ- हे मनोजहा! कामविनाशक! हे मनोव्यापार से रहित! हे अज!

जन्मातीत! हे अज! आदिजिनेन्द्र! आपने अपने मन का हरण किया–उसे स्वाधीन किया है फिर गुणरूपी मणियों से निर्मित हार–कण्ठाभूषण को प्राप्त हुए हो, इसलिये मेरा दुःख अथवा कामाग्नि शीघ्र क्यों नहीं नष्ट होगी.? अवश्य होगी ।।६३।।

[६४]

अन्तं गतं ह्यनन्तं तं मानापहं यजेऽप्यजम् ।
शान्तं चान्तं जिनं कान्तं येनाऽयेऽहं निजे निजम् ।।

अन्तं गतं शान्त अन्त अनन्त कान्तं मानापह अज अपि च त जिनं अहं यजे येन हि निजे निजं अये।

अन्तमिति- **अन्तं स्वरूप, गतं प्राप्तं, शान्त शान्तस्वभावं, अन्तं विशुद्धं, अनन्तं नाशरहितं, कान्तं सुन्दरं, मानापहं मानरहितं, अज जन्मरहितं, अपि च तं जिनं अहं यजे पूजयामि, येन हि निजे निज स्वस्मिन् स्वं, अये गच्छामि। 'अन्तं विशुद्धे व्याप्ते स्यादन्तो नाशे मनोहरे। स्वरूपेऽन्तं मतं क्लीबं न स्त्री प्रान्तेऽन्तिके.त्रिषु' इति विश्वलोचन ।।६४।।**

अर्थ- जो अन्त–स्वभाव को प्राप्त है, शान्त है, अन्त– विशुद्ध है, अनन्त–अन्तरहित है, कान्त–सुन्दर है, मान को नष्ट करने वाले है और अज–जन्मरहित है उन जिनदेव की मै पूजा करता हू जिससे निज मे निज को प्राप्त हो रहूँ ।।६४।।

[६५]

काञ्चिदिच्छां भवनतः करोति दरमसितविदाभ! वनतः।
निजे लयो भवन्नतः सूरयेऽयि तस्मै भव नतः ।।

अयि असितविदाभ! यः निजे लय भवन् वनत दर न करोति, भवनत काञ्चित् इच्छां (न करोति) तस्मै सूरये त्व नत भव ।

काञ्चिदिति- **अयि असितविदाभ! असिता मलिना विदो ज्ञानस्य आभा यस्य तत्सम्बुद्धौ हे अज्ञानजन! यः सूरिः, निजे स्वस्वरूपे, लयो लीनः, भवन्, वनतः काननात्, दरं भयं, न करोति, भवनतः सदनात्, काञ्चित् कामपि, इच्छा वाञ्छां न करोति, तस्मै सूरये आचार्याय, त्वं नतः भव तं नमस्कुरु इत्यर्थः ।।६५।।**

अर्थ- अयि असितविदाभ! जिसके ज्ञान की आभा मलिन है ऐसा हे अज्ञानजन! जो निज स्वरूप मे लीन होते हुये वन से भय नहीं करते और भवन में कोई इच्छा नहीं करते, उन आचार्य के लिये तू विनत हो– उनकी भक्ति कर ।।६५।।

[६६]

स्वयमनुसमयञ्चरति परान् चारयति च न परे विचरति ।
मुञ्चत्यरतिञ्चरतिमस्तु मम तत्पादयोश्च रतिः ।।

य सूरि स्वय अनुसमय चरति, परान् चारयति च परे न विचरति, अरति रतिं च मुञ्चति, तत्पादयो मम रति च अस्तु।

स्वयमिति- **यः सूरि, स्वय अनुसमय यथाशास्त्र चरति, अपरान् इतरान् चारयति च। परे परद्रव्ये न विचर्रति न विहरति, अरति अप्रीतिं, रतिं प्रीतिं च मुञ्चति, तत्पादयो तच्चरणयो मम रति प्रीति, अस्तु भवतु ।।६६।।**

अर्थ– जो आचार्य स्वय शास्त्रानुसार आचरण करते है, दूसरों को आचरण कराते है, परद्रव्य मे विचरण नहीं करते है और अप्रीति तथा प्रीति को छोडते है उनके चरणो मे मेरी प्रीति हो ।।६६।।

[६७]

रजोगतमिव लोचक लोचक सगत मुनिपालो च कम् ।
मत्वात्र मालोचक मुविदा रक्ष कृपालो चकम् ।।

उ! मुनिपाल! क सगत कृपालो! मा लोचक च क मत्वा मुविदा रक्ष, अत्र रजोगत लोचक लोचक इव।

रजोगतमिवेति- **मुनिपालो मुनिपाल+उ इतिच्छेद। उ सम्बुद्धौ, मुनिपाल! मुनिरक्षक! क सुखम् आत्मान च 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु। क सुखे वारि शीर्षे च' इति विश्वलोचन। सगत! प्राप्त! कृपालो! दयालो! मा लोचक निर्बुद्धिनर, कम् आत्मान मत्वा, सुविदा सम्यग्ज्ञानेन, रक्ष त्रायस्व, अत्र जगति, रजोगत प्राप्त-धूलिक, लोचक नेत्रतारक, लोचक इव कज्जल इव। 'लोचको नेत्रतारके । मासपिण्डे च पिण्डे च योषिद्भालविभूषणे। कज्जले नीलचोले च मौर्व्यां भ्रूश्लथचर्मणि। कदल्या कर्णपूरे च निर्बुद्धिनृषु लोचक।' इति विश्वलोचन ।।६७।।**

अर्थ- हे मुनिपाल! मुनियों के रक्षक! क– मुख अथवा आत्मा को प्राप्त! दयालो आचार्य! मुझ निर्बुद्धि को आत्मा मान कर सम्यग्ज्ञान से मेरी उस प्रकार रक्षा करा, जिस प्रकार धूलि से युक्त नेत्र की कज्जल रक्षा करता है।।६७।।

[६८]

योगैश्च धाराधरः सुविधिध्वंसधृतधृतिधाराधरः ।
दुरितविषधाराधरः सज्जनमयूरधाराधरः ।।

(अयं सूरि) दुरितविषधाराधर., सज्जनमयूरधाराधर . कुविधिध्वंसधृतधृतिधाराधर., योगै. च धाराधर (अस्ति)।

योगैरति- (अयं सूरि) दुरितविषधाराधर: दुरितं पापमेव विषं गरलमिति दुरितविषं तस्य धारा प्रवाह: धरतीति धर: न धर: अधर:, दुरितविषधाराया अधर इति दुरितविषधाराधर:। सज्जनमयूरधाराधर: सज्जना एव मयूरास्तेषां धाराधरो मेघ:, कुविधिध्वंसधृतधृतिधाराधर: कुविधीनां दुष्टकर्मणां ध्वंसे विनाशने धृत: धृतिधाराधर: धैर्यकृपाणो येन स:, योगै: ध्यानैश्च धाराधर: धराधर एव धाराधर: पर्वत: (अस्ति) 'भवेद् धाराधरो वारिवाहिनिस्त्रिंशयो: पुमान्' इति विश्वलोचन: ।।६८।।

अर्थ- यह आचार्य पापरूपी विष की धारा को धारण करने वाले नहीं हैं, सज्जन रूपी मयूरों के लिये धाराधर–मेघ है, दुष्ट कर्मों का विध्वंस करने के लिये जिन्होंने धैर्य रूपी खड्ग को धारण किया है और ध्यान के द्वारा धाराधर–पर्वत है अर्थात् ध्यान धारण करने मे पर्वत के समान स्थिर है।।६८।।

[६९]

यो ज्येष्ठमासंगतप्रतापिन: प्रताप्य पि मासं गत:।
गत: स्वे वासं गत: स निस्पृहो जयतात् संगत: ।।

ज्येष्ठमासगतप्रतापिन अपि प्रतापी भासंगत. स्वे वास गत सङ्गत निस्पृहो य. स (सूरि.) जयतात्।

य इति- ज्येष्ठमासंगतप्रतापिन: अपि ज्येष्ठमासस्य सूर्यादपि, प्रतापी प्रतापयुक्त:, भासगत भासं कान्तिं गत:, अथवा भा दीप्ति: तया संगत: सहित:, स्वे स्वकीयशुद्धात्मनि वास निवासं गत प्राप्त, सङ्गत: परिग्रहत:, नि:स्पृह: निरीह: स: (सूरि:) जयतात् उत्कर्षेण वर्तताम् ।।६९।।

अर्थ- जो ज्येष्ठमाम के सूर्य से भी अधिक प्रतापी है, दीप्तिमान् है, स्वकीय आत्मा मे निवास को प्राप्त है और परिग्रह से नि:स्पृह है वे आचार्य जयवत रहे।।६९।।

[७०]

आचार्यस्य सदा भक्तिं भक्त्या ह्यये करोमि ताम् ।
वै चार्यस्य मुदा शक्तिं युक्त्याऽप्यये गुरोऽमिताम् ।।

अये गुरो! आर्यस्य आचार्यस्य भक्ति भक्त्या सदा हि करोमि वै युक्त्या मुदा ता अमिता शक्ति अपि च अये।

आचार्यस्येति- अये गुरो! आर्यस्य अभ्यर्हितस्य पूज्यस्येति यावत् 'आर्यस्त्वभ्यर्हिते त्रिषु' इति विश्वलोचन:। आचार्यस्य सूरे:, भक्तिं आराधनां, भक्त्या, अनुरागातिशयेन, सदा सर्वदा, हि निश्चयेन करोमि, वै निश्चयत:, युक्त्या योजनेन तत्संपर्कवर्धनेनेत्यर्थ: 'युक्तिर्नियोजने न्याये पृथक्संयुक्तयोर्मतम्' इति विश्वलोचन:। मुदा

हर्षेण, ता दुर्लभां, अमितां अपरिमितां, शक्ति वीर्यं, अपि च, अये प्राप्नोमि, आचार्यभक्तितोऽनन्तवीर्ययुत मोक्ष प्राप्नोमीत्यर्थः ।।७०।।

अर्थ- हे गुरो! मै पूज्य आचार्य की भक्ति मदा उत्कट अनुराग से करता हूँ। निश्चित ही उनके सपर्क से मैं हर्षपूर्वक उस अपरिमित शक्ति को प्राप्त हो रहा हूँ।।७०।।

[७१]

विदामिहाह रमतिः कदाप्येति न मदमिति मुधा रमतिम् ।
स्वस्मिन् स्मरति विरमति स्मरतु तं तु ते ह्युदारमतिः ।।

इह भुवि अह विदा रमति इति कदापि मुधा मद न एति। (स उपाध्यायपरमेष्ठी) रमति न स्मरति स्वस्मिन् विरमति ते उदारमति त हि स्मरतु तु पादपूर्तौ।

विदामिति- इह भुवि, अह विदा, ज्ञानाना, रमति नायक स्वामीत्यर्थः, इति हेतो, कदापि मुधा व्यर्थं, मद गर्वं, न एति न प्राप्नोति, (स उपाध्यायपरमेष्ठी) रमतिं स्वर्गं न स्मरति न ध्यायति। 'रमतिर्नायके स्वर्गे' इति विश्वलोचन। स्वस्मिन् स्वशुद्धात्मनि, विरमति विश्रान्तो भवति, ते उदारमति उत्कृष्टबुद्धिः (सती) त पालक 'पालने पालके त स्यात्' इति विश्वलोचन। तम् उपाध्यायपरमेष्ठिनम्, हि निश्चयेन, स्मरतु ध्यायतु, तु पादपूर्तौ ।।७१।।

अर्थ- इस पृथिवी पर मैं ज्ञानों का स्वामी हूँ इस प्रकार के व्यर्थ मद को जो कभी नहीं प्राप्त होते, जो स्वर्ग का स्मरण नहीं करते तथा अपने आप मे विश्राम करते हैं उन उपाध्याय परमेष्ठी का तेरी उदार बुद्धि निश्चय से स्मरण करे ।।७१।।

[७२]

कृतमदममतापचितिर्यस्मादाप्तनिजानुभवोपचितिः ।
तस्य ह्यपपाप ! चिति स्थितये क्रियते मयाऽपचितिः ।।

य (उपाध्यायपरमेष्ठी) कृतमदममतापचिति यस्माद् आप्त - निजानुभवोपचिति तस्य हि हे अपपाप! चिति स्थितये मया अपचिति क्रियते।

कृतमदेति- यः (उपाध्यायपरमेष्ठी) कृतमदममतापचितिः कृता मदममतयोः मानममत्वभावयो अपचितिर्हानिर्येन स । यस्मात् कारणात्, आप्तनिजानुभवोपचितिः आप्ता निजानुभवस्य आत्मानुभवस्य उपचितिर्वृद्धिर्येन सः। तस्य हि उपाध्यायपरमेष्ठिनः, हे अपपाप! अपगतं पाप यस्य तत्सम्बुद्धौ, चिति आत्मनि, स्थितये अवस्थानाय, मया अपचिति पूजा, क्रियते विधीयते। 'स्त्रियामपचितिः पूजानिष्कृतिक्षयहानिषु' इति विश्वलोचन। 'पूजानमस्यापचितिः' इति चामर।।७२।।

अर्थ- जो मद और ममता की हानि करने वाले हैं तथा जिन्होंने आत्मानुभव की वृद्धि को प्राप्त किया हैं, हे निरवद्य साधो! आत्मा में स्थिरता प्राप्त करने के लिये मेरे द्वारा उन उपाध्याय परमेष्ठी की पूजा की जाती है।।७२।।

[७३]

सकलङ्कःस मितितयाऽभयाञ्चित एणाङ्को भसमितितया ।
अकलङ्कःसमितितयाऽऽहेतो वरः सुरसमिति- तया ।।

स एणाङ्क. भयाञ्चित मिततया भया अञ्चित , भसमिततया (अञ्चित) (अत) सकलङ्क. (अयं उपाध्यायपरमेष्ठी) अकलङ्क तया समितितया (अञ्चित) अभयाञ्चित (तथा) सुरसमिततया अञ्चित (अत) वर इति सुरसं इत (जिन आह)।

सकलङ्क इति- **स एणाङ्कः चन्द्र, भयाञ्चित भययुक्त, मितितया मितेर्भावो मितिता तया मानत्वेन, भया कान्त्या, अञ्चित परिमितक्षेत्रे कान्तिसहित इत्यर्थ। 'मितिर्मानेऽप्यवच्छेदे' इति विश्वलोचनः, भसमितितया–भानि नक्षत्राणि तेषां समिति सभा समूहो वा तस्याः भावस्तत्ता भसमितिता तया भसमितितया (अञ्चित) (अत) सकलङ्कः कलङ्कसहित (अयम् उपाध्यायपरमेष्ठी) अकलङ्कः कलङ्करहित, तया प्रसिद्धया, समितितया समितीनामीर्याभाषादीना भाव कर्म वा समितिता तया, अथवा, समिते साम्यस्य भाव समितिता तया, (अञ्चितः) शोभितः, अभयाञ्चित न भयेन भीत्या अञ्चित सहितः (तथा) सुरसमितितया सुराणां देवानां समिति सभा सङ्गमो वा, तस्या भाव समितिता तया, अञ्चितः शोभितः 'समिति सङ्गरे साम्ये सभायां सङ्गमेऽपि च' इति विश्वलोचनः (अत) वरः श्रेष्ठ, इति इत्थम्, सुरस स्वभावम्, इतः प्राप्त., जिन आह – जिनेन्द्र कथयामास ।।७३।।**

अर्थ- वह चन्द्रमा भय से अञ्चित – सहित है तथा सीमित भा – कान्ति से अञ्चित है, नक्षत्रों के समूह से अञ्चित है अत सकलङ्क है,परन्तु यह उपाध्याय परमेष्ठी निर्भय है, असीमित आत्मज्ञानरूपी दीप्ति से सहित है, निष्कलंक हैं और देव-समूह से अचित – पूजित है, अत श्रेष्ठ है, ऐसा सुरस को प्राप्त जिनदेव ने कहा है।।७३।।

[७४]

परपरिणतेरवनितः स्वात्मानं स्वागमं योऽवन्नितः ।
तेनाप्यते ह्यवनित- द्रव्यमुरसि निजमृषिभिर्वनित ।।

हे ऋषिभिः उरसि वनित! यः परपरिणतेः अवनितः स्वात्मान अवन् स्वागम इत. तेन निजं अवनितद्रव्य आप्यते।

परपरिणतेरिति- हे ऋषिभि तपस्विभि, उरसि स्वकीयहृदये बनित! संशोधित! ऋषयो यस्य शुद्ध रूपं स्वहृदये दधतीत्यर्थ। य परपरिणतेः परेषु स्वेतरवस्तुषु या परिणतिः ममत्वभावना कषायपरिणतिरित्यर्थ, तस्या अवनित भूमित, अवनिशब्दात् तसिल् प्रत्ययः, स्वात्मानम् अवन् रक्षन्, स्वागमं सुष्ठु आगम स्वागमः, स्वस्य आत्मनो वा आगम स्वागम तम्, इतः प्राप्त, तेन जनेन, निज स्वकीयम्, अवनितद्रव्यं अवनितम् अयाचित स्वत सिद्धम्, आत्मद्रव्यम्, आप्यते प्राप्यते, 'वनितं याचिते क्लीबं शोधिते वनित त्रिषु' इति विश्वलोचन.।।७४।।

अर्थ- ऋषि समूह जिमे हृदय मे धारण करते है ऐसे हे प्रभो! जो परपरिणति की भूमिस्वरूप कषायभाव से स्वकीय आत्मा की रक्षा करते हुये उत्तम आगम को प्राप्त हुए है उन उपाध्याय के द्वारा स्वत सिद्ध आत्मद्रव्य प्राप्त किया जाता है।।७४।।

[७५]

निशापतिर्नालीकं तोषयति नायं गवा नालीकम् ।
निष्पक्षोऽनालीकं कोऽमुं न मनुतेऽनालीकम् ।।

निशापति न नालीक तोषयति अय तु (उपाध्याय) निष्पक्ष. नालीक अनालीक गवा (तोषयति) (ईदृक्कार्ये) क अनालीक अमु न मनुते ?

निशापतिरिति- निशापति चन्द्र, न नालीक कमलसमूह तोषयति संतुष्टं करोति, अय तु (उपाध्याय) निष्पक्ष पक्षातिक्रान्त सन् नालीकम् अज्ञं मूर्खम्, अनालीकं विज्ञ, गवा वाण्या, (तोषयति) ईदृक्कार्ये क अनालीकं अलीकः अप्रिय, अलीक एव आलीक, न आलीक अनालीक तं प्रियं क न मनुते? सर्वोऽपि मनुते इत्यर्थ। 'नालीक पिण्डजेऽप्यज्ञे नालीक शरशल्ययोः। नालीक पद्मखण्डेऽपि' इति विश्वलोचनः। 'गौः पुमान् वृषभे स्वर्गे खण्डवज्रहिमांशुषु। स्त्री गवि भूमिदिग्नेत्रवाग्बाणसलिले स्त्रिय' इति च विश्वलोचन ।।७५।।

अर्थ- चन्द्रमा गो–किरणों से नालीक कमल को सतुष्ट नहीं करता परन्तु यह उपाध्याय निष्पक्ष हो नालीक – अज्ञ और अनालीक – विज्ञ को अपनी गो वाणी से सतुष्ट करते हैं। इस प्रकार के कार्य मे उन्हें कौन प्रिय नहीं मानता ?।७५।।

[७६]

वैद्यो रोगविनाशीव ह्ययं कामविदारकः ।
वन्द्योऽतोऽङ्ग! जनानां व स्वयं कामप्रदायकः ।।

हे अङ्ग! रोगविनाशी वैद्य इव हि अय (उपाध्यायपरमेष्ठी) कामविदारक स्वय कामप्रदायक अत व जनाना वन्द्य (अस्ति)।

वैद्य इति- **'अङ्ग' इति सम्बुद्धिवाचकम्, हे भव्यजना! इति यावत्, रोगविनाशी रुगपहारी, वैद्य इव भिषगिव, हि निश्चयेन, अयम् उपाध्यायपरमेष्ठी, कामविदारकः स्मरविनाशकः, स्वयं कामप्रदायकः इच्छितवस्तुदायकः अस्तीति शेषः। अतः अस्मात्कारणात्, वो युष्माकं जनानां वन्द्यो वन्दनीयः (अस्ति) 'कामः स्मरेच्छयोः काम्ये' इति विश्वलोचनः ।।७६।।**

अर्थ- अङ्ग! हे भव्यजनो! रोग को नष्ट करने वाले वैद्य के समान यह उपाध्याय परमेष्ठी, काम– मदन अथवा क– आत्मा के अम–रोगों के विदीर्ण करने वाले और काम–मनोरथो के देने वाले है अत आप सब के वन्दनीय है।।७६।।

[७७]

तं जयताज्जिनागमः श्रय श्रेयसो न येन विना गमः ।
न हि कलयति मनागगस्त्वां मदो यद् भवेऽनागमः ।।

येन विना श्रेयस गम न (स.) जिनागम जयतात्, त (जिनागम) (त्व) श्रय, यत् त्वा मद, अग मनाक् न हि कलयति (तदा स्वय) भवे अनागम. (स्यात्)।

तमिति - **येन विना यमन्तरेण, श्रेयसो मोक्षस्य कल्याणस्य वा, गमः प्राप्तिः, न, भवतीति शेष । (सः) जिनागमः जिनसिद्धान्तः, जयतात्। तं (जिनागमं) (त्वं) श्रय सेवस्व। यत् यस्मात् कारणात्, त्वां, मदो गर्वः, अगो भुजङ्गः, मनाग् ईषदपि, न हि कलयति न हि प्राप्नोति, (तदा स्वयं) भवे संसारे, अनागमः आगमनम् आगमः न विद्यते आगमो यस्य स अनागमः (स्यात्) निर्गर्वतया जिनागमाभ्यासेन संसारे पुनरागमन न भवतीत्यर्थः। 'अगः स्यान्नगवद्वृक्षे शैले भानुभुजङ्गयोः' इति विश्वलोचनः ।।७७।।**

अर्थ- जिसके विना श्रेय–मोक्ष अथवा कल्याण का मार्ग नहीं मिलता वह जिनागम जयवत रहे। तू उस जिनागम का आश्रय ले जिससे तुझे अल्प भी अहंकार प्राप्त न हो और यह सव होने पर तेरा संसार मे आगमन नहीं हो ।।७७।।

[७८]

अन्येनालं मधुना वनं विविधतरुलतान्वितं मधुना ।
मुदमेति यथा मधुना ममात्मानेन चायमधुना ।।

विविधतरुलतान्वित वन यथा मधुना मुद एति (तथा) मम अय आत्मा अधुना मधुना (अनेन) (जिनागमेन) मुद एति च (अत.) अन्येन (विषयवासनाप्रवर्धककामादिशास्त्रेण) मधुना अल (अस्तु)।

अन्येनेति- **विविधतरुलतान्वितं नानावृक्षवल्लीसहितं, वनं काननं, यथा मधुना**

वसन्तर्तुना, मुद हर्षम्, एति प्राप्नोति, (तथा) मम अयम् आत्मा, अधुना इदानीम्, मधुना (अनेन जिनागमेन) जिनागमरूपक्षीरेण, मुदम् एति च (अतः) अन्येन (विषयवासनाप्रवर्धककामादिशास्त्रेण) मधुना मद्येन, अलं पर्याप्तं, अस्तु। कदागमोपासना व्यर्थेत्यर्थ।'मधु पुष्परसे क्षौद्रे मद्यक्षीराप्सु न द्वयोः। मधुर्मधूके सुरभौ चैत्रे दैत्यान्तरे पुमान्' इति विश्वलोचन ।।७८।।

अर्थ- अनेक प्रकार के वृक्ष और लताओं मे युक्त वन जिस प्रकार मधु--वसन्त मे हर्ष को प्राप्त होता है उमी प्रकार मेरा यह आत्मा इस समय जिनागम रूप मधु--दूध से हर्ष को प्राप्त हो रहा है। इसलिये अन्य विषयवासना को बढ़ाने वाले कामादिशास्त्र रूप मधु-मद्य की मुझे आवश्यकता नहीं है।।७८।।

[७९]

श्रयति श्रमणः समयं सममनसा समयति स समं समयम् ।
समेति निजवासमयं विस्मयोऽस्त्विह नो चिरसमयम् ।।

य श्रमण सममनसा सम समय श्रयति स समय समयति, निजवास समेति, स इह (भवे) चिरसमय नो अस्तु (अस्मिन् कार्ये) अय विस्मयोऽपि नो अस्तु।

श्रयतीति- य श्रमण साधु सममनसा एकान्तदुराग्रहरहितचेतसा, समं सह, समय सिद्धान्त जिनागममिति यावत्, श्रयति सेवते, स समय शुद्धात्मानं सम्यग्ज्ञानं वा समयति सम्यक्प्रकारेण प्राप्नोति। निजवासं स्वस्मिन् निवासं स्वरूपरमणमिति भाव। समेति प्राप्नोति। स इह (भवे) चिरसमय चिरकालं (यावत्) नो अस्तु नो भवतु शीघ्र परीतसंसारपारावारो भवतु। (अस्मिन् कार्ये) अयं विस्मयोऽपि आश्चर्यमपि नो अस्तु न स्यात्। 'समय पुंसि सिद्धान्तशपथाचारसविदि' इति विश्वलोचनः। 'साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः ।।७९।।

अर्थ- जो मुनि मध्यस्थ-- दुराग्रहरहित मन के साथ समय-- आगम का आश्रय लेता है वह समय-- आत्मा को प्राप्त होता है और वह इस ससार मे चिरसमय-- दीर्घकाल तक नहीं रहे, यह आश्चर्य नहीं है।।७९।।

[८०]

मुक्तास्ते प्रभावतः सभवन्ति जिना जनाश्च भावतः ।
रागादेर्विभावतस्त्वयि रतोऽकलये विभावतः ।।

(हे जिनागम!) ते प्रभावत जना जिना सभवन्ति। भावत मुक्ता सभवन्ति, रागादेः विभावत. च (मुक्ता सभवन्ति) अत अकलये विभौ त्वयि (अह) रत (भवामि)।

मुक्ता इति- (हे जिनागम!) ते प्रभावतः माहात्म्यात्, जनाः जिनाः तीर्थंकराः संभवन्ति सम्यक् प्रकारेण जायन्ते । भावतः भवः संसारः भव एव भावः तस्मात् संसारात् मुक्ताः संभवन्ति। रागादेः विभावतश्च रागद्वेषादिरूपविभावपरिणतेश्च (मुक्ताः संभवन्ति) अतः अस्मात् कारणात्, अकलये अकस्य दुःखस्य पापस्य वा लयो नाशो यस्मिन् स तस्मिन्, विभौ लोकोत्तरसामर्थ्यसहिते, त्वयि (अहं) रतः अनुरक्तः लीनो वा भवामि । 'अकं दुःखाघयोः' इति विश्वलोचनः ।।८०।।

अर्थ- हे जिनागम ! तेरे प्रभाव से सामान्य मनुष्य जिन हो जाते हैं, भव से मुक्त हो जाते है और रागादिक विभाव से छूट जाते है, अत अकलय – दुःख का विनाश करने वाले तुझमे रत लीन होता हूँ ।।८०।।

[८१]

दुःखमनुभवन्नवसु ह्यनधिगतागमोऽयं निधिषु नवसु ।
प्राप्तवान् सुखं नवसुभानतो विमलज्ञानवसु ।।८१।।

अय अनधिगतागम असुमान् हि नवसु निधिषु अवसु दु ख अनुभवन् विमलज्ञानवसु सुखं अत नो प्राप्तवान् ।

दु खमिति- अयम् एष, अनधिगतागमः अनधिगतः अप्राप्तः आगमो येन सः आगमज्ञानरहितः, असुमान् प्राणी, हि निश्चयेन, नवसु निधिषु कालमहाकालादिषु नवस्वपि निधिषु (प्राप्तेषु) अवसु दुःखं न विद्यते वसु धन यत्र तत् दुःखं दारिद्र्यकष्टम्, अनुभवन्, 'वसुतोये धने मणौ' इति विश्वः। नवसु निधिष्वपि असतुष्टः सन् विमलज्ञानवसु विमलज्ञानमेव वसु धनं यत्र तत्, सुखम्, अतः कारणात् नो प्राप्तवान् नालभत ।।८१।।

अर्थ- जिनागम को नहीं जानने वाला प्राणी निश्चय से नौ निधियों के रहने पर भी अवसुदु ख– निर्धनता के दु ख का अनुभव करता हुआ निर्मल ज्ञानरूपी धन के मुख को इसी कारण प्राप्त नहीं कर सका है ।।८१।।

[८२]

जिनागमं सदा श्रित्वा सादरं समतां व्रजेत् ।
यन्ना समं विदा मुक्त्वा वादरं स नतां भजेत् ।।

ना जिनागम श्रित्वा सादरं समतां व्रजेत् (चेत्) यत् स दर मुक्त्वा विदा समं नतां भजेत् (वा निश्चये)।

जिनागममिति- ना नरः जिनागमं सादरं सविनयं यथा स्यात्तथा जिनसिद्धान्तं

समधीत्य, सदा सर्वदा, समता मोहक्षोभरहितता पक्षातीततां वा, व्रजेत् प्राप्नुयात् (चेत्) यत् कारणात् स दर भय मुक्त्वा निशङ्को भूत्वेत्यर्थ, विदा ज्ञानेन, समं सार्धं, नतां नस्य भावो नता ता जिनत्व तीर्थकरत्वमिति यावत्, भजेत् प्राप्नुयात्, (वा निश्चये) 'नकारो जिनपूज्ययो' इति विश्वलोचन। प्रवचनभक्तिप्रभावेण जनस्तीर्थकरो भवतीति भाव ।।८२।।

अर्थ- यदि मनुष्य, आदर से जिनागम का आश्रय ले साम्यभाव को प्राप्त हो तो वह दर–भय छोडकर ज्ञान के साथ नता – पूज्यता अथवा जिनेन्द्र–तीर्थङ्कर पद को प्राप्त हो सकता है, यह निश्चय है।।८२।।

[८३]

निर्दोषो भुवि सुरभि सज्जनकण्ठमेति गुणेन सुरभिः ।
तथेह समता सुरभिर्न च सुरभीति नाम्ना सुरभिः ।।

यथा इह भुवि निर्दोष सुरभि, गुणेन सुरभि सुरभीति नाम्ना सुरभि सज्जनकण्ठ एति, तथा च समता (सज्जनकण्ठ एति) न सुरभि (सज्जनकण्ठ एति)

निर्दोषइति- यथा इह भुवि,निर्दोष मलरहित सुरभि कनक सुवर्ण सज्जनकण्ठं समेति। सुरभि चम्पकपुष्प, गुणेन सूत्रेण, सज्जनकण्ठे शोभते इति। सुरभीति नाम्ना सुरभि मातृभेद गौ 'गोमाता' इति सज्जनकण्ठम् एति। तथा च समता माध्यस्थ्यवृत्ति सज्जनकण्ठमेति सत्सु प्रशसा प्राप्नोति इति यावत्। किन्तु न सुरभि मद्य मदिरा सज्जनकण्ठ समेति तामसराजसप्रवृत्ति सज्जनै न समाद्रियते चेति भाव। 'सुरभिश्चम्पके चैत्रे वसन्ते गन्धके कवौ। स्वर्णे जातीफले चाब्जे त्रिषु मद्यसुगन्धयो' इति विश्वलोचन।।८३।।

अर्थ- जिस प्रकार इस पृथिवी पर निर्दोष सुरभि–स्वर्ण अपने गुण से हार बनकर सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होता है, सुरभि– चम्पा गुण– सूत्र मे गुम्फित हो सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होता है और 'सुरभि' इस नाम से प्रसिद्ध सुरभि–कामधेनु मनोरथों को पूर्ण करने वाले गुणों से सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होती है उसी प्रकार समता–साम्य परिणति सज्जन के कण्ठ को प्राप्त होती है, सुरभि–मदिरा नहीं ।।८३।।

[८४]

असमयवर्षास्तमित धान्यं वसुधातलममनस्तमितम् ।
फलति न कमपि स्तमितं ह्यकालिकीनुतिरकास्त! मितम् ।।

हे अकास्त! अमन! असमयवर्षास्तमित त वसुधातलम् इत धान्य यथा न फलति (तथा) हि अकालिकी नुति स्तमित मित क अपि न (फलति)।

हे अकान्त! अकं पापं यस्मिन् अस्तं नष्टं इति स अकान्तः तत्सम्बुद्धौ हे अकान्त! हे पापरहित! हे अमनः! हे मनोरहितसंज्ञ्यसंज्ञिव्यपदेशरहितेत्यर्थः। असमयवर्षास्तिमितं अकालवृष्ट्यार्द्रीभूतम् तं प्रसिद्धं, वसुधातलं पृथिवीपृष्ठम् इतं प्राप्तं, धान्यं सस्यं यथा न फलति (तथा) हि निश्चयेन, अकालिकी अकाले कृता, नुतिः स्तुतिः, स्तिमितं चञ्चलतारहितं स्थिरमिति यावत्। मितं परिमितम् अल्पमपीत्यर्थः कं सुखं न (फलति) 'स्तिमितं वीतचाञ्चल्येऽप्यार्द्रीभूतेऽपि वाच्यवत्' इति विश्वलोचनः।।८४।।

अर्थ- हे अकान्त! हे निष्पाप! हे अमन.! मनो व्यापार से रहित! जिस प्रकार असमय की वर्षा से भीगे पृथिवीतल को प्राप्त हुआ धान्य फलता नहीं है, उसी प्रकार निश्चय से अकाल – असमय मे की हुई स्तुति किञ्चित् भी स्थायी सुख को नहीं फलती है।।८४।।

[८५]

अशने सदंशनेन रस इनेन जयो वै सदंशनेन।
प्राप्यतेऽदंशनेन तथा कमगेनाऽदंशनेन।।

हे अदश! न! इन! यथा अशने मदशनेन रस प्राप्यते सदशनेन इनेन ***वै*** *जय (प्राप्यते)तथा अदशनेन* अगेन क (प्राप्यते)।,

अशन इति- **हे अदश! न विद्यते दंशो दोषो यस्य सः अदंशस्तत्सम्बुद्धौ हे निर्दोष! 'दंश सन्नाह वनमक्षिकयोर्भुजगक्षते। दोषेऽपि खण्डेन दंशो दंशो मर्मणि च स्मृतः' इति विश्वलोचन.। हे न! हे पूज्य! हे इन! हे स्वामिन्! 'भर्तेन्द्र इन ईशिता' इति धनञ्जय। यथा अशने भोजने, सदंशनेन सदन्तेन जनेन 'दंशन शिशिरे पुंसि दंशनं कवचे रदे' इति विश्व, रस स्वादः (प्राप्यते) अथवा अशने यथा दंशनेन दन्तेन स प्रसिद्धः रसः स्वाद प्राप्यते सदंशनेन कवचसहितेन, इनेन राज्ञा, वै निश्चयेन, जयः (प्राप्यते) तथा अदशनेन खण्डरहितेन अखण्डेनेत्यर्थ, अगेन अस्य भगवत ग गीत तेन भगवत्स्तुत्येत्यर्थ 'गं गीते शास्त्रगातरि' इति विश्वलोचन। कं सुखं (प्राप्यते)।।८५।।**

अर्थ- हे अदंश! हे निर्दोष! हे पूज्य! स्वामिन्! जिस प्रकार भोजन मे दन्तसहित मनुष्य के द्वारा रस – स्वाद प्राप्त किया जाता है और कवच सहित राजा के द्वारा निश्चयत विजय प्राप्त की जाती है उसी प्रकार अखण्ड स्तवन से सुख प्राप्त किया जाता है।।८५।।

[८६]

अवनितल इव पावनप्रसंगाद् भवति शीतलः पावनः।
अघहननात् स्वपावनप्रदायिन्नुपयोगः पावनः।।

हे स्वप! अवनप्रदायिन्! इह अवनितले, पावनप्रसगात् पावन शीतल इव श्रुतिमननात् उपयोग पावन भवति।

अवनितलेति- **हे स्वप! स्वम् आत्मानम् आत्मीयान् वा पाति रक्षतीति स्वपः तत्सम्बुद्धौ हे आत्मरक्षक! हे अवनप्रदायिन्! अवनं रक्षणं प्रददातीत्येवं शीलस्तत्सम्बुद्धौ हे रक्षादानशील! अथवा अवन आनन्दं सुख प्रददाति इति अवनप्रदायी तत्सम्बुद्धौ। हे सुखप्रदायक! 'अवन रक्षणे मुदि' इति विश्वलोचन। इह अवनितले भूतले, पावनप्रसगात् पावनस्य जलस्य प्रसंगस्तस्मात्, 'पावनं तु जले कृच्छ्रे' इति विश्वलोचन., जलसमर्गात्, पावन पवन एव पावन स्वार्थेऽण्प्रत्यय वायु, शीतलः शिशिर इव, अघहननात् भाविपापन्यजनान प्रत्याख्यानमित्यर्थ। उपयोग पावन पवित्र भवति। 'पावनं पावयितरि त्रिषु पूतेऽपि पावनम्' इति विश्वलोचन ।।८६।।**

अर्थ- हे स्वप! हे आत्मरक्षक! हे सरक्षण देने वाले! भगवन्! इस पृथिवीतल पर पावन – जल की सगति से जिस प्रकार पावन–वायु शीतल हो जाती है उसी प्रकार शास्त्र क मनन से उपयोग पावन–पवित्र हो जाता है।।८६।।

[८७]

सा श्रेयस कषायात् प्रियाऽलसाशोषायां सकषाया ।
लसतु तामसकषायान्न कतपनममानसकषाया ।।

हे अमानसकषाया! सा अलसा प्रिया श्रेयस कषायात् लसतु, उषाया सा आशा (प्राक्) सकषाया (लसतु) (किन्तु) कतपन तामसकषायात् न (लसतु)।

सेति- **हे अमानसकषाया! न विद्यन्ते मानसे हृदये कषाया क्रोधादयो येषा ते तत्सम्बुद्धौ हे निष्कषायहृदया! मुनिजना! सा प्रसिद्धा, अलसा आलस्यवती, प्रिया वल्लभा, श्रेयस श्रेष्ठात, कषायात् अङ्गरागात् ' अस्त्री कषायो निर्यासो रसे रक्ते विलेपने। अङ्गरागे सुगन्धे तु त्रिषु स्याल्लोहितेऽपि च' इति विश्वलोचन। लसतु शोभताम्। उषाया प्रभाते, सा प्रसिद्धा, आशा दिशा प्राचीत्यर्थ, सकषाया सलोहिता रक्तवर्णोपेतेति यावत् (लसतु) किन्तु कतपन के सूर्ये अग्निसमीपे च तपनं तपश्चरण 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु' इति विश्वलोचन। पञ्चाग्नितपश्चरणमातापनयोगश्चेत्यर्थ, तामसकषायात् तमोगुणप्रधानकषायात् न (लसतु) रागानुरञ्जित कायक्लेशस्तपो न शोभत इति भाव ।।८७।।**

अर्थ- हे अमानसकषाया! जिनके मन मे कषाय नहीं है ऐसे हे मुनीजनो! वह अलसायी स्त्री श्रेष्ठ कषाय–अङ्गराग से सुशोभित हो, और प्रभातकाल मे वह प्रसिद्ध पूर्व दिशा सकषाया–लालिमा से सहित होती हुई सुशोभित हो, परन्तु तमोगुण प्रधान कषायभाव से कतपन–पञ्चाग्नितप सुशोभित न हो (वह कुतप – बालतप है)।।८७।।

[८८]

दुर्वेदनात्मनो यातु लयतां त्वयि सा स्वतः ।
संवेदनाऽमुनो जा तु जायतां त्वय्यसावतः ।।

उ ! अयि!(मित्र) त्वयि असौ स्वत. जा सवेदना अमुना (प्रतिक्रमणेन) जायता (अत.) (अमुना) आत्मन सा दुर्वेदना तु लयतां यातु(तु पादपूर्तौ)।

दुर्वेदनेति- **उ! अयि! सम्बुद्धिवाचकौ, अयि (मित्र) इत्यर्थः। त्वयि भवति, असौ एषा, स्वतः स्वस्मात्, जा समुद्भूता 'जः स्याज्जीवेति जोद्भूतौ' इति विश्वलोचनः। संवेदना स्वानुभूति, अमुना (प्रतिक्रमणेन) जायताम् समुत्पद्यताम् प्रतिक्रमणावश्यककरणेन त्वयि स्वानुभूतिः समुत्पद्यतामिति भावः । (अतः) (अमुना) आत्मन सा गर्हिता, दुर्वेदना दुष्टा वेदना दुर्वेदना दुरनुभूतिः, तु किन्तु, लयतां लयस्य भावो लयता ता नाशं, यातु गच्छतु, तु पादपूर्तौ 'तु हि च स्म ह वै पादपूरणे पूजने स्वति' इत्यमरः ।।८८।।**

अर्थ- अयि मित्र! आप मे जा यह स्वानुभूति स्वत समुद्भूत हुई है वह इस प्रतिक्रमण - आवश्यक से उत्पन्न हो और इसी मे आत्मा की वह दु खद वेदना विनाश को प्राप्त हो।।८८।।

[८९]

भवता निजानुभवतः प्रभोः प्रभावना क्रियतां हि भवतः ।
मनोऽवन् मनोभवतः क्षणविनाशविभावविभवतः ।।

भवत क्षणविनाशविभावविभवत मनोभवत मन अवन् निजानुभवत. हि भवता प्रभो प्रभावना क्रियताम् ।

भवतेति **भवतः ससारतः, क्षणविनाशविभावविभवतः क्षणे विनाशो यस्य स क्षणविनाश., विभावस्य विकारस्य विभवो विभावविभवः, क्षणविनाशो विभावविभवो विकारसामर्थ्यं यस्य तथाभूतस्तस्मात्, मनोभवतः कामात् तसिलन्तप्रयोगः, मन. चित्तम्, अवन् रक्षन् दूरीकुर्वन्नित्यर्थः, निजानुभवत. स्वानुभूतेः हि निश्चयेन, भवता त्वया, प्रभो. जिनेन्द्रस्य, प्रभावना महत्वप्रसारः क्रियताम् विधीयताम् ।।८९।।**

अर्थ- समार से, क्षणभङ्गुरविभाव रूप विभव से तथा मनोभव—काम.से मन की रक्षा करते हुए आपके द्वारा निजानुभव से प्रभु—जिनेन्द्र की प्रभावना की जावे।।८९।।

[९०]

सागारकोऽप्यसारं क्षुत्तृड्रुजार्तेषु वितरति सारम् ।
मत्वा किल संसारं ह्यवतरति तत् कार्ये साऽरम् ।।

(यदा) मागारक अपि किल ससार (मार च) असार मत्वा क्षुत्तृड्रुजार्तेषु सार वितरति (तदा) तत्कार्ये (प्रभो. प्रभावना) मा अर हि अवतरति ।।

सागारकोऽपीति- **(यदा) सागारकोऽपि गृहस्थोऽपि किल, संसार जगत्, असारं सारहीन, मत्वा क्षुत्तृड्रुजार्तेषु क्षुत्पिपासारोगपीडितेषु, सारं वित्तं धनमिति यावत्, 'सार न्याय्ये जले वित्ते' इति विश्वलोचन। नितरति ददाति (तदा) तत्कार्ये सा (प्रभो. प्रभावना) धर्मप्रभावना, हि निश्चयेन, अवतरति समुत्पद्यते। क्षुधादिपीडितेष्वन्नादि वितरणेन गृहस्थजनकृता धर्मप्रभावना भवतीति भाव ।।९०।।**

अर्थ- जो गृहस्थ भी ससार को असार मान कर भूख, प्यास तथा रोग से पीडित मनुष्यों पर धन वितरण करता है तब उस कार्य मे वह प्रभावना – शीघ्र अवतीर्ण होती है । दीन दु.खी जीवों पर दयादृष्टि से दान देना भी जिन धर्म की प्रभावना होती है।।९०।।

[९१]

शिष्या स्युस्तके तव शशिशितवृषयश प्रसारकेतवः ।
दृग्विद्चरितकेतव कुमतवनाय धूमकेतव ।।

हे! (जिन!) तव तके शिष्या शशिशितवृषयश प्रसारकेतव कुमतवनाय धूमकेतव दृग्विद्चारितकेतव च स्यु ।

शिष्या इति- **हे!(जिन!) तव भवत, तके ते एव तके अकच्प्रत्ययान्तप्रयोग, शिष्या, शशिशितवृषयशप्रसारकेतव शशिशित चन्द्रवच्छुक्ल यत् वृषयशः धर्मकीर्ति तस्य प्रसारे प्रसारणे केतव ध्वजा, कुमतवनाय मिथ्यामतकाननाय, धूमकेतव अग्नयः, दृग्विद्चरितकेतव दृक् च विच्च चरित चेति दृग्विच्चरितानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तान्येव केतवश्चिह्नानि लक्ष्माणि वा येषां तथाभूता च स्यु भवेयु। हे भगवन्! त्वदीयाः शिष्या सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयुक्ता भूत्वा सर्वथैकान्तमतनिराकरण कृत्वा त्वदीयोज्ज्वलधर्मयश – प्रसारका भवन्त्विति भाव। 'केतुर्ग्रहान्तरोत्पातद्युति-लक्ष्मध्वजादिषु' इति विश्वलोचन। 'अग्न्युत्पातौ धूमकेतू' इत्यमर । 'शितः कृष्णे सिते भूर्जे' इति विश्वलोचन ।।९१।।**

अर्थ- हे जिन! आपके वे शिष्य, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश का प्रसार करने के लिये केतु–पताका, मिथ्यामतरूप वन के लिये धूमकेतु–अग्नि और दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप केतु – चिन्हों से महित होवें ।।९१।।

[९२]

भायाच्च तमां केन सरो रमाभालं कुङ्कुमाङ्केन ।
नानया समां केन श्रमणता गतेन मां के न ! ।।

हे न ! रमाभाल कुङ्कुमाङ्केन, मर. केन, के केन समां मा गतेन श्रमणता, ना अनया (धर्मप्रभावनया) च भायात् तमाम् ।

भायाच्चेति· **हे न! हे जिन! रमाभालं ललनाललाटं, कुङ्कुमाङ्केन केशरचिह्नेन, 'अङ्को रेखायां चिह्नलक्ष्मणोः' इति विश्व, सरः कासारः, केन जलेन, के आत्मनि केन आत्मना, समां समतां मां लक्ष्मीं गतेन समतालक्ष्मीपतिना इत्यर्थः, श्रमणता साधुता, तमा भायात् शोभताम्। ना पुमान्, अनया (धर्मप्रभावनया) च भायात् तमां अतिशयेन शोभताम्। 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु। कं सुखे वारि शीर्षे च'। 'स्त्रियां स्यान्मा रमायां च' इति च विश्वलोचनः ।।९२।।**

अर्थ- हे न! हे जिन! ललना का ललाट कुड्कुम के चिह्न से, सरोवर जल से, श्रमणता – साधुता आत्मा मे साम्यभाव रूपी लक्ष्मी को प्राप्त आत्मा से और मनुष्य इस धर्मप्रभावना से अत्यन्त सुशोभित हो।।९२।।

[९३]

गङ्गा गौश्च वामृतं ददाति गङ्गयालमपि गवाऽमृतम् ।
अस्या मानवामृतं मिलति वरं चिदनुभवामृतम् ।।

हे मानव! गङ्गा गौश्च अमृत ददाति (ततः) गङ्गया गवा अपि अल (किन्तु) अस्या (धर्मप्रभावनाया) अमृत अमृत वर चिदनुभवामृत च मिलति ।

गङ्गेति- **हे मानव! गङ्गा भागीरथी, गौः धेनुश्च, अमृतं जलं दुग्ध च ददाति, गङ्गा जल गौर्दुग्ध चेत्यर्थः। (तत) गङ्गया गवा अपि अल पर्याप्त, ताभ्या प्रयोजनं नास्तीति भाव। (किन्तु) अस्याः (धर्मप्रभावनायाः) अमृत न मृत अमृतं अविनश्वरं अथवा अयाचित याचनया रहितं, अमृतं मोक्ष, वरं श्रेष्ठं, चिदनुभवामृतं च चिदनुभव एवामृत आत्मानुभूतिपीयूषं, मिलति प्राप्यते 'अमृतं मोक्षपीयूषसलिले हृद्यवस्तुनि। अयाचिते यज्ञशेषे घृते दुग्धेऽतिसुन्दरे' इति विश्वलोचन ।।९३।।**

अर्थ- हे मानव! गङ्गा और गौ अमृत देती है – गङ्गा जल देती है और गौ दूध देती है, परन्तु गङ्गा और गौ बाज आवे, उनकी आवश्यकता नही है। इस धर्मप्रभावना से अमृत– अविनश्वर अमृत – मोक्ष और आत्मानुभवरूप अमृत प्राप्त होता है।।९३।।

[९४]

ससारागाधपाठीनाकरमज्जितदेहिनाम् ।
दासानगारपालानां साररार्जिः सदेह ना ।।

हे अनगारपालाना दास! (इय धर्मप्रभावना) ससारागाधपाठीनाकरमज्जितदेहिनां सदा इह साररार्जिः ना (अस्ति)।

समारेति- **हे अनगारपालाना दास! मुनिरक्षकाणां दास! त्वं प्रति सम्बोधनम्। (इय धर्मप्रभावना) संसारागाधपाठीनाकरमज्जितदेहिनाम् संसार एवागाधो गभीरः पाठीनाकरो मकराकर समुद्र इति यावत् तस्मिन् मज्जिता बुडिता ये देहिनः प्राणिनस्तेषाम्। सदा सर्वदा, इह लोके, साररार्जिः श्रेष्ठरेखाङ्किता ना नौका (अस्ति) 'राजिः स्त्री पङ्क्तिरेखयो' इति, 'नास्तु नेतरि नावि स्त्री' इति च विश्वलोचन।।९४।।**

अर्थ- हे मुनिरक्षकों के दास! यह धर्मप्रभावना, ससाररूपी गहरे समुद्र में निमग्न प्राणियों के लिये सदा इस ससार मे श्रेष्ठ रेखाओं से अकित नौका है।।९४।।

[९५]

सद्धर्मिणि धृतसम!यः वात्सल्यं वत्स इव गौः कृतसमय!।
करोत्याप्यते समयः श्रियस्तेन सदयेन समयः ।।

हे धृतसम! कृतसमय! य वत्से गौ इव सद्धर्मिणि वात्सल्य करोति, तेन सदयेन समय आप्यते, श्रिय समय च (आप्यते)।

सद्धर्मिणीति- **हे धृतसम! धृता रक्षिता समाः सधर्माणो येन तत्सम्बुद्धौ, हे कृतसमय! कृतः समय सिद्धान्त आचारो वा येन तत्सम्बुद्धौ, यो जन., वत्से गौः इव सद्धर्मिणि समीचीनधर्मसहिते सधर्मणि जने, वात्सल्य स्नेह करोति, तेन सदयेन दयासहितेन, समय शुद्धात्मा, आप्यते प्राप्यते, श्रियः लक्ष्म्या अनन्तचतुष्टयरूपायाः, समय समयन समय सङ्गमश्च (आप्यते) मोक्षलक्ष्मीस्तेन इति भावः ।।**

अर्थ- हे धृतसम ! सहधर्मा जनों की रक्षा करने वाले! हे कृतसमय — आगम अथवा आचार को करने वाले! बछडे पर गाय के समान जो समीचीन धर्म के धारक जनों पर वात्सल्य - स्नेह करता है उस दयालु मानव के द्वारा समय—शुद्धात्मा और मोक्ष लक्ष्मी का समय — समागम प्राप्त किया जाता है ।।९५।।

[९६]

अस्मिन् धृतभाव सति प्रभोऽस्तु हिंसात्मकवृत्तेर्वसतिः ।
लसति विहायसि वसति प्रभाकरे किं वसति वसतिः ।।

हे धृतभाव|प्रभो! अस्मिन् (वात्सल्ये) सति हिंसात्मकवृत्तेः किं वसतिः अस्तु? विहायसि वसति लसति प्रभाकरे किं वसतिः ? (नेत्यर्थः)।

अस्मिन्निति- **हे धृतभाव! धृतो भावः स्वभावो येन तत्सम्बुद्धौ 'भावः स्वभावचेष्टाभिप्राय सत्त्वात्मजन्मनि' इति विश्वलोचनः । प्रभो! भगवन्! अस्मिन् (वात्सल्ये) सति विद्यमाने, हिंसात्मकवृत्तेः क्रूरपरिणतेः, किं वसतिः स्थितिः अस्तु ? अपि तु न। लसति शोभमाने, विहायसि गगने, प्रभाकरे सूर्ये कृतनिवासे सति, किं वसतिः निशा, वसति? निवासं करोति? अपि तु न । 'वसतिः स्यान्निशा वेश्मावस्थानेष्वर्हदाश्रमे' इति विश्वलोचनः। अवस्थानं स्थितिरित्यर्थः ।।९६।।**

अर्थ- हे धृतभाव! हे स्वभाव के धारक प्रभो! इस वात्सल्यभाव के रहते हुये हिंसात्मक--क्रूरवृत्ति की क्या स्थिति हो? अर्थात् नहीं हो। आकाश मे देदीप्यमान सूर्य के रहते क्या रात्रि रह सकती है? अर्थात् नहीं ।।९६।।

[९७]

अनलयोगात् कलङ्कस्तथात्मनोऽस्माल्लयमेति कलङ्कः।
सकलं गतः कलं कः कलयति कलमेशोऽकलङ्कः।।

(यथा) अनलयोगात् कलङ्कः लयं (एति) तथा आत्मनः कलङ्कः अस्मात् (वात्सल्यात्) लयं एति (इति) सकल गत कल (गत च) कलमेशः अकलङ्कः कः कलयति ।

अनलेति- (यथा) **अनलयोगात्** अग्निसंयोगात्, **कलङ्कः कालायसदोषः 'कलङ्कोऽङ्के कालायसमले दोषापवादयोः' इति विश्वलोचनः, लयं विनाशं (एति) तथा आत्मनः कलङ्को दोषः, अस्मात् वात्सल्यात्, लयं विनाशं एति (इति) इत्थं सकलं कलाभिः सहितं, कलं शरीरं गतः प्राप्तः परमौदारिकशरीरयुक्त इत्यर्थः, कलमेशः कलस्य शरीरस्य मा लक्ष्मीः शोभा वा तस्या ईशः स्वामी, अकलङ्कः रागादिदोषरहितः, अथवा सकलं पदार्थसमूहं गतः विश्वंगतः दिव्यज्ञानेन सकलं जानाति इति सकलं गतः कलं वीर्यं अनन्तवीर्यं गतः प्राप्तः अमितबलशालीत्यर्थः। यः सर्वं जानाति स नियमरूपेण अनन्तबलं धारयति, वीर्यान्तरायकर्माभावादिति भावः। को ब्रह्मा अर्हत्परमेष्ठीत्यर्थः, कलयति जानाति निरूपयति च ।।९७।।**

अर्थ- जिस प्रकार अग्नि के संयोग से कलंक नाश को प्राप्त होता है उसी प्रकार वात्सल्यभाव से आत्मा का कलंक--द्वेष नाश को प्राप्त होता है ऐसा सकल -- कलाओं से सहित कल -- परमौदारिक शरीर को प्राप्त, लक्ष्मीपति, कलंकरहित जिनेन्द्र कहते है।।९७।।

[९८]

भवति स्म भो! भावतो भवति भवभवकृतशुभतो भावतः ।
न्विदं विभो! विभावतो वियुतो भवोभवो भावतः ।।

हे भो! विभो! भावत भावत भवति नु इद (वात्सल्य) भवभवकृतशुभत. भवति स्म अत. भावत· विभावत वियुत· अभव भव (अस्ति) ।

भवति स्मेति- **भो!विभो! हे भगवन्! भावतः सहजरूपेणैव निसर्गत· प्रयासेन बिना, भावतः जन्मतः, भवति भगवति, इदं (वात्सल्यं) भवभवकृतशुभतः जन्मजन्मविहितपुण्ययोगात् भवति स्म अभूत्, 'स्म' - योगाद्भूतकालबोध। अतः अस्मात् भावतः संसारतः, विभावतः रागादिकवैभाविकपरिणतेः, वियुतः विमुक्तः रहित', अभवः जन्मरहितः, भव· श्रेयः कल्याणरूप इति यावत् अस्तीति शेषः। 'भवः श्रीकण्ठसंसारश्रेयःसत्ताप्तिजन्मसु' इति विश्वलोचनः ।।९८।।**

अर्थ- भो विभो! हे भगवन्! सहज रूप से, जन्म से ही आप मे यह वात्सल्य अनेक भवों मे किये पुण्य योग से प्रकट हुआ था। अत संसार एव विभावपरिण ति से रहित अभव–जन्मातीत भव– सिद्धपर्याय प्राप्त होती है।।९८।।

[९९]

ननु रविरिव पयोऽङ्ग तं पयोजचयं प्रति पयः पयोगतम् ।
भूतमपापयोग तन्मनोऽस्त्वकं मे कृपया गतम् ।।

उ ! अङ्ग ! अपापयोग ! त पयोजचय प्रति रवि पयोगत पय प्रति पय इव अक गतं भूत (प्रति) मे तत् मन कृपया (सह) अस्तु ।

ननु रविरिवेति- **उ!अङ्ग!इति सम्बुद्धिवाचकौ, अपापयोग! हे अशुभयोगरहित! तं प्रसिद्धं, पयोजचयं प्रति कमलसमूहं प्रति, रविः सूर्यः इव, पयोगतं दुग्धगतं, पय· जलं प्रति, पय इव दुग्धमिव 'दुग्धे नीरे वटादीनां क्षीरेऽपि क्षीरपत्ययः' इति विश्वः। अक दुःखं प्राप्तं भूत प्राणिनं (प्रति) मे मम तद् वात्सल्यभावभावित मनः, कृपया करुणया (सह) ननु निश्चयेन अस्तु ।।९९।।**

अर्थ- हे अशुभोपयोग से रहित! प्रसिद्ध कमलसमूह के प्रति सूर्य के समान तथा दूध मे मिले पानी के प्रति दूध के समान दु खी प्राणी के प्रति मेरा वह मन करुणा से युक्त हो।।९९।।

[१००]

मनोहरं मदोन्मत्तं मनो हरं हरिं नय ।
एनोहरं त्वदो वित्तं रं नो ह्यरं ह्यरिं श्रय ।।

उ ! (त्वं) मदोन्मत्त मन. मनोहर हरिं हरं एनोहर (प्रथम) नय नु अदः (वात्सल्यं) वित्त अर श्रय नो हि रं अरिं (श्रय) हि (पादपूर्तौ)।

मनोहरमिति- **उ सम्बुद्धौ, (त्वं) हे आत्मन्! इत्यर्थः मदोन्मत्तं मनश्चित्तं मनोहरं चेतोहारिणं, हरिं गजारिं शार्दूलं हरं हरनामधेयं, एनोहरं पापापहारकं सिंहपक्षे मृगापहारकं जिनं (प्रथमं) सर्वतः प्रागित्यर्थः, नय प्रापय, नु वितर्के अदः एतत् (वात्सल्यं) वित्तं धनं, अरं शीघ्रं, श्रय, व्रज प्राप्नुहि, हि निश्चयेन रं कामानलं, अरिं शत्रुम्, नो श्रय नो सेवस्व, हि पादपूर्तौ ।।१००।।**

अर्थ- हे आत्मन्! तू यह वात्सल्यभाव सब से पहले मदोन्मत्त मन को, मन को हरण करने वाले सिंह को और पाप को हरने वाले हर को प्राप्त कराओ। इस वात्सल्य रूप धन का तू शीघ्र ही आश्रय ले, कामाग्नि रूप शत्रु का आश्रय मत ले ।।१००।।

गुरुस्मरणम्

श्रीज्ञानसागरकृपापरिपाक एव,
यद् 'भावनाशतककाव्य' – मघारिहन्तृ।
अध्यास्य सुश्रयमतोऽस्य सुशस्यकस्य,
विद्यादिसागरतनुर्लघु ना भवामि ।।१०१।।

(अयम्)श्रीज्ञानसागरकृपापरिपाक एव यत् अघारिहन्तृ भावनाशतककाव्यम् (मया रचितम्) अत. सुशस्यकस्य अस्य सुश्रयम् अध्यास्य ना अहम् लघु विद्यासागरतनु भवामि।

श्रीति – **अयंश्री ज्ञानसागरस्य मद्दीक्षागुरोः कृपायाः करुणायाः परिपाकः परिणामः फलमिति यावत्। यत् अघारिहन्तृ पापशत्रुविनाशकम् भावनाशतककाव्यम् एतन्नामधेयकाव्यं जातं मया रचितमितिभावः। अतोऽस्मात् कारणात् सुशस्यकस्य अतिशयेन शस्यः प्रशंसनीयः क आत्मा यस्य तस्य। अस्य ज्ञानसागरगुरोः सुश्रयं सम्यगाश्रयम् अध्यास्य अधिष्ठाय समवलम्ब्येत्यर्थः ना साधारणमनुष्योऽहं लघु शीघ्रं विद्यासागरतनु विद्यासागररूपी भवामि ।।१०१।।**

अर्थ – यह श्री ज्ञानसागर महाराज की कृपा का फल है कि मेरे द्वारा पापरूप शत्रुओ को नष्ट करने वाला'भावनाशतक'नाम का काव्य बन सका। अत अतिशय प्रशंसनीय आत्मावाले इन गुरु का आश्रय प्राप्त कर मै एक साधारण मनुष्य शीघ्र ही विद्यासागर हो रहा हूँ।

मङ्गलकामना

विद्याचारित्रसम्यक्त्वैः संसारपापपुण्यविद्।
धामनिच्छन् यतेर्भाव ऐहि ह्यलमविद्यया ।।१।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के द्वारा ससार और इसके कारण-भूत पुण्य-पाप को जानने वाला तथा स्वर्ग की इच्छा न करने वाला यति का जो भाव है वह मुझे प्राप्त हो, अविद्या अज्ञान दूर हो ।।१।।

सात्विकवृत्तिरादर्शाऽभूषाऽस्माक नु चेद्धि सा ।
गमिष्यामो यथा धाम श्रेयसः श्रेष्ठ ! सर्वग! ।।२।।

हे श्रेष्ठ! हे सर्वज्ञ! यदि हम लोगो की आदर्श भूत वह सात्विक वृत्ति हो जाये तो हम कल्याण के स्थान—मोक्ष को प्राप्त हो जावे ।।२।।

रतिरागविरक्तोऽसि सद्गुरो ! ज्ञानसागर! ।
रत्नाकराय दोषेशो दर्शनं देहि शङ्कर! ।।३।।

हे समीचीनगुरो ज्ञानसागरजी! आप रति तथा राग से विरक्त हो, रत्नाकर—रत्नत्रयरूप सागर की वृद्धिगत करने के लिये चन्द्रमा हो तथा शान्ति को उत्पन्न करने वाले हो, मुझे दर्शन दीजिये।।३।।

चिति स्थितेन काव्य न मया शब्दैः कृत शुचि।
तन्तुभिश्च पटो जातो मतेति किं न सम्मतम् ।।४।।

आत्मा मे स्थित आपके द्वारा ही यह निर्मल काव्य रचा गया है मेरे द्वारा नहीं। तन्तुओ से पट बनता है यह क्या सत्पुरुषो के द्वारा नहीं माना गया है।।४।।

भारत. सर्वदेशेषु भातु भेषु शशिप्रभा ।
वनेऽप्यत्र सन्त सन्ति मृगेन्द्रा विभया इव ।।५।।

भारतवर्ष सब देशो मे उस तरह सुशोभित हो जिस तरह नक्षत्रो मे चन्द्रमा की प्रभा। जिस प्रकार वन मे सिंह निर्भय रहते है उसी प्रकार इस देश मे सत्पुरुष वन मे भी निर्भय रहते है ।।५।।

नानान्स्वापत्तिषु श्रेयोमार्गी मुक्त्वा धृतिं न ना ।
शमी दमी यमीभूत्वाऽयते वृष ह्यकर्कशः ।।६।।

मोक्षमार्गी मनुष्य विविध-विपत्तियो में भी धैर्य को नहीं छोड़ता है वह शान्त, जितेन्द्रिय तथा मृदुपरिणामी साधु होकर धर्म को प्राप्त होता है ।।६।।

तले क्षितेर्जनाः सर्वे सुखिनः सन्तु सौगत ।
कं भजन्तु सदैवैते यान्तु कदापि नो ह्यकम् ।।७।।

हे भगवन्! पृथ्वीतल पर सब मनुष्य सुखी हों, ये सदा ही सुख को प्राप्त हो, कभी भी दु:ख को प्राप्त न हो यह मेरी भावना है ।।७।।

क्षायोपशमिकज्ञानात् स्खलनमत्र भावतः ।
विज्ञैरतः समाशोध्य पठितव्यं सुखप्रदम् ।।८।।

क्षायोपशमिक ज्ञान होने से इस ग्रन्थ मे अशुद्धिया हुई है अत. ज्ञानीजनो को भाव की अपेक्षा सशोधन कर इस सुखदायक ग्रन्थ को पढ़ना चाहिये ।।८।।

ख्याते क्षेत्रे 'महावीरे सर्वैर्जनै समादृते ।
गभीरनदकूलस्थे ससार - कूल - दर्शिनि ।।९।।
समुपयोग - योगाभ्रमोक्षे विक्रमवत्सरे ।
वैशाखीममामित्वेतीमामितिमितिं गतम् ।।१०।।

सब लोगो के द्वारा आदृत जो कि गभीरा नदी के तट पर स्थित है और संसार का किनारा दिखलाने वाले महावीरजी अतिशय क्षेत्र मे वैशाख वदी अमावास्या विक्रम सम्वत् 2022 को सस्कृत'भावना शतक'की रचना पूर्णता को प्राप्त हुई ।।९–१०।।

शोभे प्रभो परम पावन पा पदों को,
योगी करें नमन/ये जिनके मदों को ।
सौभाग्य मान उनको उर में बिठा लूँ,
साफल्यपूर्ण निज-जीवन को बना लूँ ।।१।।

ध्यानाग्नि से मदन को तुमने जलाया,
पीयूष स्वानुभव का निज को पिलाया ।
धारा सुरत्नत्रयहार, अतः कृपालो !
पूजूँ तुम्हें मम गुरो! मद मेट डालो ।।२।।

अन्धा विमोहतम में भटका फिरा हूँ,
कैसे प्रकाश बिन सवर भाव पाऊँ ।
हे शारदे ! विनय से द्वय हाथ जोड़ूँ,
आलोक दे विषय को विष मान छोड़ूँ ।।३।।

सम्मान मै समय का करता कराता,
हूँ 'भावनाशतक' काव्य अहो ! बनाता ।
मेरा प्रयोजन प्रभो ! कुछ और ना है,
जीतूँ विभाव भव को बस भावना है ।।४।।

आदर्श सादृश सुदर्शन शुद्धि प्यारी,
पाके जिसे जिन बने स्व-परोपकारी ।
ऐसा जिनेश मत है मत भूल रे ! तू,
साक्षात् भवाम्बुनिधि के यह भव्य सेतु ।।५।।

होता विनष्ट जब दर्शनमोह स्वामी,
जाती तथा वह अनन्त कषाय नामी ।
पाते इसे जन तभी जिन ! जैन जो हैं,
सद्भारती कह रही जनमीत जो हैं ।।६।।

जो अङ्ग अङ्ग करुणारस से भरा है,
शोभायमान दृग से बह हो रहा है ।
औचित्य है समक्ष में यत बात आती,
अत्युज्ज्वला शशिकला निशि मे सुहाती ।।७।'

हो प्राप्त, स्वर्ग तक पुण्यविधान से भी,
होता न प्राप्त दृग शस्त्र निदान से भी।
सत् साधना सहज साध्य सदा दिलाती,
लक्ष्मी अहो मृदुल हाथ तभी मिलाती ।।८।।

दुर्जेय मोहरिपु को जिनने दबाया,
शुद्धोपयोग मणिहार गले सजाया।
वे साधु बोध बिन भी दृग शुद्धि पाते,
जो बाह्य में निरत हैं दुख ही उठाते ।।९।।

आलोक दे सुजन को रवि से जगाती,
है भव्य कंज दल को सहसा खिलाती।
है पापरूप तम को क्षण में मिटाती,
ऐसी सुदर्शन विशुद्धि किसे न भाती?।।१०।।

ना पाप को, विनय को शिर मैं नमाता,
हे वीर! क्योंकि मुझको निज सौख्य भाता।
जो भी गया तपन तापतया सताया,
क्या चाहता अनल को, तज नीर छाया?।।११।।

सेना विहीन नृप ज्यों जय को न पाता,
त्यों हीन जो विनय से शिव को न पाता।
सत् साधना यदि करे दुख भी टलेगा,
संसार में सहज से सुख भी मिलेगा ।।१२।।

निर्भीक हो विनय आयुध को सुधारा,
हे वीर! मान रिपु को पुनि शीघ्र मारा।
पाया स्वकीय निधि को जिसने यदा है,
क्या माँगता वह कभी जड़ संपदा है ।।१३।।

वे व्यर्थ का नहिं घमण्ड कभी दिखाते,
सन्मार्ग को विनय से विनयी दिखाते।
पापी कुधी तक तभी भवतीर पाते,
विद्वान भी हृदय में जिनको बिठाते ।।१४।।

संसार में विनय के बिन तू चलेगा,
आनन्द भो अमित औ मित क्यों मिलेगा।
योगी सुधी तक सदा इसका सहारा,
लेते अतः नमन हो इसको हमारा ।।१५।।

विद्वेष जो विनय से करते कराते,
निर्भ्रान्त वे नहिं भवोदधि तैर पाते।
जाना उन्हें भव-भवान्तर क्यों न होगा,
ना मोक्ष का विभव संभव भव्य होगा ।।१६।।

कामाग्नि से जल रहा त्रयलोक सारा,
देखे जहाँ दुख भरा कुछ ना सहारा।
ऐसे जिनेश कहते, जग के विधाता,
जो काम मान मद त्याग बने प्रमाता ।।१७।।

पूजा गया मुनिगणों यति योगियों से,
त्यों शील, नीलमणि ज्यों जगभोगियों से।
सत् शील में सतत लीन अतः रहूँ मै,
लो! मोक्ष को निकट ही फलतः लखूँ मैं ।।१८।।

गङ्गाम्बु को न हिम को शशि को न चाहूँ,
चाहूँ न चन्दन कभी मन मे न लाऊँ।
जो शीलझील मन की गरमी मिटाती,
डूबूँ वहाँ सहज शीतलता सुहाती ।।१९।।

मैं भूत भावि सब साम्प्रत पाप छोडूँ,
चारित्र संग झट चञ्चल चित्त जोडूँ।
सौभाग्य मान जिसको मुनि साधु त्यागी,
हैं पूजते नमन भी करते विरागी ।।२०।।

'जैसे सती जगत में गजचाल हो तो,
शोभे उषा पवन मन्द सुगन्ध हो तो।
संसार शोभित रहे गतिचार होवें,
सर्वज्ञ सिद्ध सब वे गतिचार खोवें।

वैसा सुशीलव्रत संयमयोग से रे !
होते सुशोभित सुधी, न हि भोग से रे!।
सिद्धान्तपारग सभी गुरु यों बताते,
सद्ध्यान में सतत जीवन हैं बिताते ।।२१।।

निर्भीक मैं बढ़ रहा शिव ओर स्वामी,
आरूढ़ शीलरथ पै अतिशीघ्रगामी ।
लो ! काल व्याल-विकराल-कुचाल वाला,
है भीति से पड़ गया वह पूर्ण काला ।।२२।।

होता विनिर्विष रसायन से धतूरा,
है अग्नि से पिघलता झट मोम पूरा ।
ज्यों काम देख शिव को दश प्राण खोता,
विज्ञान को निरख त्यों मद नष्ट होता ।।२३।।

संयोग पा मदन मञ्जुल कान्त का वे,
जैसा नितान्त ललनाजन मोद पावे ।
किंवा सुखी कुमुद वारिधि चन्द्र से हो,
वैसा मदीय मन मोदित ज्ञान से हो ।।२४।।

ज्ञानोपयोग बन तू मम मित्र प्यारा,
ज्यों अग्नि का पवन मित्र बना उदारा ।
पीड़ा मिटे, सुख मिले, भव-जेल छूटे,
धारा अपूर्व सुख की न कदापि टूटे ।।२५।।

स्वामी! भले ही शिर पै शशि भा रहा हो,
विज्ञान से विकल शंकर ही रहा हो ।
श्रीकृष्ण पाकर इसे कुछ ही दिनों में,
होंगे सुपूज्य यतियों मुनि सज्जनों में ।।२६।।

ज्ञानोपयोग वर संवर साधता है,
चाञ्चल्यचित्त झट से यह रोकता है ।
भाई निजानुभवियों यति नायकों ने,
ऐसा कहा सुन! जिनेन्द्र उपासकों ने ।।२७।।

जाज्वल्यमान न कदापि चलायमान,
हो ज्ञानदीप कर में यदि विद्यमान ।
रूपी दिखे, पर पदार्थ सभी अरूपी
है स्पष्टरूप दिखते जिन चित्स्वरूपी ।।२८।।

माला सुमेरुमणि से जिस भाँति भाती,
वाणी गणेश मुख से जिनकी सुहाती ।
संवेग से मनुज भी उस भाँति भाता,
जो है सदैव जिनका गुणगीत गाता ।।२९।।

बोले विहंगम, उषा मन को लुभाती,
शोभावती वह निशा शशि से दिखाती ।
हो पूर्ण शान्तरस से कविता कहाती,
शुद्धात्म में मुनि रहे मुनिता सुहाती ।।३०।।

ज्यों मारता सहज अर्जुन कौरवों को,
संवेग त्यों दुरति कर्म अरातियों को ।
दावा यथा सघन कानन को जलाता,
संसाररूप वन को यह भी मिटाता ।।
ज्यों नाग नाम सुन मेंढक भाग जाता,
त्यों ही कषाय इसके नहिं पास आता ।
ऐसी विशेष महिमा इसकी सुनी रे!,
सवेगरूप धन पा बन जा धनी रे!।।३१।।

संवेग है परम सौख्यमयी उषा का,
धाता, परन्तु शशि है दुखदा निशा का ।
निर्दोष है यह सदा शशि दोष धाम,
सवेग श्रेष्ठ शशि से लसता ललाम ।।३२।।

सम्यक्त्वज्योति बल से रवि को हराता,
है तेज वाडव भवाम्बुधि को सुखाता ।
चाञ्चल्यचित्तमृग को यह व्याघ्र खाता,
संवेग आत्मिक महासुख का विधाता ।।३३।।

संसार से स्वतन से जड़ भोग से वे,
होते निरीह बुध हैं इनको न सेवें ।
पीड़ा अतीव इनसे दिन रैन होती,
शीघ्रातिशीघ्र बुझती निजबोध ज्योति ।।३४।।

कामाग्नि से जल रहा यदि पूर्ण रागी,
धाता नहीं वह न शंकर है न त्यागी ।
तो विश्व का अमित दुःख त्रिशूलधारी,
कैसे मिटाकर, बने स्वपरोपकारी ?।।३५।।

ले क्षीर स्वाद रसना अति मोद पाती,
पा फूल फूल—सम नासिक फूल जाती ।
संतुष्ट ओ तृषित शीतल नीर से हो,
मेरा सुतृप्त मन तो अघत्याग से हो ।।३६।।

संतुष्ट बाल जननीस्तनपान से हो,
फूले लता ललित लो ! जलस्नान से हो ।
हो तुष्ट आम्रकलिका लख कोकिला वे,
मेरा कषाय तज के मन मोद पावे ।।३७।।

शास्त्रानुसार यदि त्याग नहीं बना है,
लो ! दुःख ही न मिटता उससे अहो है ।
जो अन्न-सार रस से अति ही भरा है,
भाई कभी न मिटती उससे क्षुधा है ।।३८।।

क्या साधु से सुबुध से ऋषि से यमी से,
भाई ! प्रशंसित रही समता सभी से ।
सौभाग्य है मम घड़ी शुभ आ गई है,
सर्वांग में सुसमता सुसमा गई है ।।३९।।

मैं वीतराग बन के मन रोकता हूँ,
तो सत्य तथ्य निजरूप विलोकता हूँ ।
आलोक हो अरुण ओ जब जन्म लेता,
अज्ञात को नयन भी झट देख लेता ।।४०।।

शुद्धात्म में स्थिति सही तप ही वही हो,
तो नश्यमान तन में रुचि भी नहीं हो ।
ऐसा न हो सुख नहीं दुख ही अतीव,
हैं वीतराग गुरु यों कहते सदीव ।।४१।।

आतापनादि तप से तन को तपाया,
योगी बना, बिन दया निज को न पाया ।
पाया नहीं सुख कभी बहु दुःख पाया,
होता अहिंसक सुखी जिनदेव गाया ।।४२।।

दीखे परीषहजयी वह देखने मे,
है लीन यद्यपि महाव्रत पालने में ।
लक्ष्मी उसे तदपि है बरती न स्वामी,
जो मूढ़ है विषय लम्पट भूरिकामी ।।४३।।

लोहा सुवेष्ठित रहे यदि वस्त्र से जो,
होगा नहीं कनक पारस संग से ओ ।
तो संग के सहित जो तप भी करेंगे,
ना आत्म को परम पूत बना सकेंगे ।।४४।।

दावा यथा वनज हो वन को जलाता,
भाई तथा तप सही तन को जलाता ।
सम्यक्त्व पूर्ण तप की महिमा यही है,
देवाधिदेव जिन ने जग को कही है ।।४५।।

आशा निवास जिसमे करती नहीं है,
सम्यक्त्वबोध युत जो तप ही सही है ।
ऐसा सदैव कहती प्रभु सन्त वाणी,
तृष्णा मिटे, झटिति पी अति शीत पानी ।।४६।।

साधू समाधि करना भव मुक्त होना,
पा कीर्ति पूजन गुणी बन दुःख खोना ।
ऐसा जिनेश कहते शिवमार्गनेता,
वेत्ता बने जगत के मन अक्ष जेता ।।४७।।

ये आधि व्याधि समुपाधि सभी अनादि,
से आ रही, पर मिली न निजी समाधि।
चाहूं समाधि, नहिं नाक नहीं किसी को,
चाहें सभी चतुर चेतन भी इसी को ।।४८।।

मानी नहीं मुनि समाधि करा सकेगा,
तो वीरदेव निज को वह क्या? लखेगा।
सम्मान मैं न उसका मुनि हो करूँगा,
शुद्धात्म को नित नितान्त अहो स्मरूँगा ।।४९।।

वैराग्य का प्रथम पाठ अहो पढ़ाता,
पश्चात् प्रभो प्रथम देव बने प्रमाता।
मै भी समाधि सधने बनता विरागी,
ऐसी मदीय मन में बर ज्योति जागी ।।५०।।

लाली लगे करलता अति शोभती है,
शोभे जिनेन्द्रनुति से मम भारती है।
होता परागवश बात सुगन्धवाही,
शोभा तभी मुनि करे मुनि की समाधि ।।५१।।

है भव्यकौमुद शशी जगमें समाधि,
है कामधेनु सुर पादप से अनादि।
कैसे मुझे यह मिले कब तो मिलेगी ?
हे वीर देव! कब ज्ञानकली खिलेगी!।।५२।।

राजा प्रजाहित करे पर स्वार्थ त्यागे,
देता प्रकाश रवि है कुछ भी न मांगे।
कर्तव्य मानकर तू कर साधु सेवा,
पाले पुनः परम पावन बोधमेवा ।।५३।।

जो साधु सेवक नहीं उन मानियों को,
चाहूं न मैं, नित भजूं मुनि सज्जनों को।
क्या चाहता कृपण को परिवार प्यारा,
क्या प्यार से कुमुद ने रवि को निहारा ।।५४।।

जो पूर्ण पूरित दयामय भाव से है,
औ दूर भी विमलमानस मान से है ।
सेवा सुसाधु जन की करता यहाँ है,
होता सुखी वह अवश्य जहाँ तहाँ है ।।५५।।

ये साधु सेवक कहीं मिलते यहाँ हैं,
जो जातरूप धरते जग में अहा है ।
प्रत्येक नाग, मणि से कब शोभता है?
प्रत्येक नाग कब मौक्तिक धारता है?।।५६।।

जैसा सरोज अलि से सबको सुहाता,
उद्योग से जगत में यश देश पाता ।
वैसा विराग मुनि से यह साधु सेवा,
होती सुशोभित अतीव विभो सदैवा ।।५७।।

मैं काय से वचन से मन से सदैवा ,
सौभाग्य मान करता बुध साधु सेवा ।
होऊँ अबन्ध भवबन्धन शीघ्र छूटे,
विज्ञान की किरण मानस मध्य फूटे ।।५८।।

बाधा बिना सहज से जिनसे निहारे,
जाते अनागत गतागत भाव सारे ।
शुद्धात्म में निरत जो जिनदेव ज्ञानी,
वे विश्व पूज्य जयवन्त रहेंअमानी ।।५९।।

हो पूर्ण इन्द्रियजयी जितकाम आप,
पाके अनन्त सुख को तज पापताप ।
क्रीड़ा सदैव करते शिवनारि साथ,
जोड़ूं तुम्हेंसतत हाथ, अनाथ-नाथ ।।६०।।

पीयूष पावन पवित्र पयोद धारा,
ज्यों तृप्त भूमि तल को करती सुचारा ।
त्यों शान्ति दो दुखित हूँ भवताप से जो,
है प्रार्थना मम विभो! बस आप से यों ।।६१।।

हो मोह सर्प, तुम हो गरुडेन्द्रनामी,
हो मुक्तिपन्थ-अधिनायक, हो अमानी।
स्वामी, निरञ्जन, न अञ्जन की निशानी,
पूजूँ तुम्हें बन सकूँ द्रुत दिव्यज्ञानी ।।६२।।

है आदि में स्वमन को फिर मार मारा,
हे आदिनाथ! तुमने तज भोग सारा।
कामारि हो इसलिये जग में कहाते,
स्वामी! सुशीघ्र मम क्यों न व्यथा मिटाते ।।६३।।

वे शान्त, सन्त, अरहन्त अनन्त ज्ञाता,
वन्दूँ उन्हें निरभिमान स्वभाव धाता।
होऊँ प्रवीण फलतः पल में प्रमाता,
गाता सुगीत 'जिनका' वह सौख्यपाता ।।६४।।

इच्छा नहीं भवन की रखते कदापि,
आचार्य ये न बन से टरते प्रतापी।
होते विलीन निज में विधि पङ्क धोते,
पूजो इन्हें समय क्यों तुम व्यर्थ खोते ।।६५।।

शास्त्रानुसार चलते सबको चलाते,
पाते स्वकीय सुखको पर में न जाते,
ये रागरोष तजते सबकी उपेक्षा,
मैं तो अभी कुछ रखूँ उनकी अपेक्षा ।।६६।।

आचार्यदेव मुझको कुछ बोध देवो,
रक्षा करो शरण में शिशु शीघ्र लेवो।
क्या दिव्य अञ्जन प्रकाश नहीं दिलाता,
क्या शीघ्र नेत्रगत धूलि नहीं मिटाता ?।।६७।।

ये योग में अचल मेरु बने हुए हैं,
ले खड्ग कर्मरिपु को दुख दे रहे हैं।
आचार्य तो अमृतपान करा रहे हैं,
ये मेघ हैं, हम मयूर सुखी हुए हैं ।।६८।।

हो ज्येष्ठ में नित नहीं रवि ओ प्रतापी,
संतप्त पूर्ण करता जग को कुपापी ।
आचार्य कोटि शत भास्कर तेज वाले,
देते सदा सुख हमे समदृष्टि वाले ।।६९।।

आचार्य को विनय से उर में बिठालूँ,
मैं पूज्यपाद रज को शिरपै चढ़ा लूँ ।
हे मित्र! मोक्ष मुझको फलतः मिलेगा,
विश्वास है यह नियोग नहीं टलेगा ।।७०।।

ज्ञाता बने समय के निज-गीत, गाते,
तो भी कदापि मद को मन मे न लाते ।
वे ही अवश्य उवझाय वशी कहाते,
भाई उन्हें स्मरण में तुम क्यों न लाते ।।७१।।

कालुष्यभाव रतिराग मिटा दिया है,
आत्मावलोकन तथा जिनने किया है ।
पूजूँ भजूँ नित उन्हें दुख को तजूँगा,
विज्ञान से सहज ही निज को सजूँगा, ।।७२।।

तारा समूह नभ मे जब दीख जाता,
दोषी शशी न दिन मे निशि मे सुहाता ।
पै दोष मुक्त उवझाय सदा सुहाते,
ये श्रेष्ठ इष्ट शशि से जिन यों बताते ।।७३।।

स्वाध्याय से चपलता मन की घटा दी,
काषायिकी परिणती जिनने मिटा दी ।
पावें सुशीघ्र उवझाय स्वसंपदा वे,
आवें न लौट भव में गुरु यों बतावे ।।७४।।

साथी बना कुमुद का शशि पक्षपाती,
भाई सरोज दल का वह है अराती ।
पै साम्यधार उवझाय सुखी बनाते,
हैं विश्व को, इसलिये सबको सुहाते ।।७५।।

वे वैद्य लौकिक शरीर इलाज जाने,
ये वैद्यराज भवनाशक हैं सयाने ।
हैं वन्द्य, पूज्य, शिवपन्थ हमें बताते,
निःस्वार्थपूर्ण निज जीवन को बिताते ।।७६।।

था, है जिनागम, रहे जयवन्त आगे,
पूजो इसे तुम सभी उरबोध जागे ।
पावो कदापि फिर ना भवदुःख नाना,
हो मोक्षलाभ, भव में फिर हो न आना ।।७७।।

आता वसन्त वन में वन फूल जाता,
नाना प्रकार रस पी दुख भूल जाता ।
पीऊं जिनागम सुधा चिरकाल जीऊँ,
दैवादि शास्त्र मदिरा उसको न पीऊँ ।।७८।।

निष्पक्ष हो श्रमण आगम देखता है,
शुद्धात्म को सहज से वह जानता है ।
जाके निवास करना निज धाम में ओ,
संदेह विस्मय नहीं इस काम में हो ।।७९।।

आधार ले अयि! जिनागम पूर्ण तेरा,
है भव्य जीव करते शिव में बसेरा ।
मै भी तुझे इसलिये दिन रैन ध्याऊँ,
धारूँ तुझे हृदय में सुख चैन पाऊं ।।८०।।

ज्ञाता नहीं समय का दुख ही उठाता,
औ ना कभी विमल केवलज्ञान पाता ।
राजा भले वह बने, निधि क्यों न पाले,
भाई न खोल सकता वह मोक्ष ताले ।।८१।।

श्रद्धासमेत जिन आगम को निहारें,
जो भी प्रभो! हृदय में समता सुधारे ।
वे ही जिनेन्द्र पद का द्रुत लाभ लेते,
संसार का भ्रमण त्याग विराम लेते ।।८२।।

हो सूत्र में कुसुम सज्जन कण्ठ जाता,
निर्दोष ही कनक आदर नित्य पाता।
जैसी समादरित गाय सुधी जनों से,
वैसी सदैव समता मुनि सज्जनों से ।।८३।।

वर्षा हुई कृषक तो हल जोत लेगा,
बोया असामयिक बीज नहीं फलेगा।
तू देव वन्दन अकाल अरे! करेगा,
होगा न, मोक्ष तुझको भव में फिरेगा ।।८४।।

राजा सशस्त्र रण से जय लूट लाता,
हो दाँत, भोजन करो अति स्वाद आता।
सम्यक् जिनेन्द्रनुति भी सुख को दिलाती,
भाई निजानुभव पेय पिला जिलाती ।।८५।।

ज्यों वात जो सरित ऊपर हो चलेगा,
हो शीत, शीघ्र सब के मन को हरेगा।
आख्यान अन्त प्रति के बल पा, विधाता,
आत्मा अवश्य बनता सुख पूर्ण पाता ।।८६।।

प्राची प्रभात जब रागमयी सुहाती,
तो अंगराग लगता वनिता सुहाती।
पै राग से समनुरंजित कायक्लेश,
होता सुशोभित नहीं सुख हो न लेश ।।८७।।

दुर्वेदना हृदय की क्षण भाग जाती,
संवेदना स्वयम की झट जाग जाती।
ऐसी प्रतिक्रमण की महिमा निराली,
तू धार शीघ्र इसको बन भाग्यशाली ।।८८।।

भाई सुनो मदन से मन को बचाओ,
ससार के विषय में रुचि भी न लाओ।
पाओ निजानुभव को निज को जगाओ,
सद्धर्म की फिर अपूर्व प्रभावना हो ।।८९।।

संसार के विभव वित्त असार सारे,
सागार भी सतत यों मन में विचारे।
रोगी दुखी क्षुधित पीड़ित जो विचारें,
दे, अन्नपान उनके दुख को निवारें ।।९०।।

हे वीर देव! तव सेवक धर्म सेवें,
होवें ध्वजा विमल धर्म प्रसार में वे।
सम्यक्त्व बोध व्रत से निजको सजावें
ज्वाला बनें कुमत कानन को जलावें ।।९१।।

अच्छा लगे तिलक से ललना ललाट,
है साम्य से श्रमणता लगती विराट।
होता सुशोभित सरोवर कंज होते,
सद्भावना वश मनुष्य प्रशस्य होते ।।९२।।

गङ्गा प्रदान करती बस शीत पानी
तो गाय दूध दुहती जग में सयानी।
चाहूं इन्हें न, इनसे न प्रयोजना है,
देती निजामृत जिनेन्द्र प्रभावना है ।।९३।।

संसार सागर असार अपार खारा,
कोई न धर्म बिन है तुमको सहारा।
नौका यही तरणतारण मोक्षदात्री,
ये जा रहे, कुछ गये उस पार यात्री ।।९४।।

गो वत्स में परम हार्दिक प्रेम जैसा,
साधर्मि में तुम करो यदि प्रेम वैसा।
शुद्धात्म को सहज से द्रुत पा सकोगे,
औ मोक्ष में अमित काल बिता सकोगे ।।९५।।

वात्सल्य हो उदित ओ उर में जभी से,
हैं क्रूरभाव मिटते सहसा तभी से।
भानू उगे गगन भू उजले दिखाते,
क्या आप तामस निशा तब देख पाते ?।।९६।।

निर्दोष हो अनल से झट लोह पिण्ड,
वात्सल्य से विमल आतम हो अखण्ड ।
आलोक से सकललोक अलोक देखा,
यों वीर ने सदुपदेश दिया सुरेखा ।।९७।।

वात्सल्य तो जनम से तुम में भरा था,
सौभाग्य था सुकृत का झरना झरा था ।
त्रैलोक्य पूज्य जिनदेव तभी हुए हो,
शुद्धात्मा मे प्रभव वैभव पा लिया हो ।।९८।।

बन्धुत्व को लज के प्रति भानु धारा,
मैत्री रखे सुजल में वह दुग्ध धारा ।
'स्वामी ! परन्तु जग के सब प्राणियों में,
वात्सल्य हो, न मम केवल मानवों मे ।।९९।।

उन्मत्त होकर कभी मन का न दास,
हो जा उदास सबसे बन वीर दास ।
वात्सल्यरूप सर मे डुबकी लगाले,
ले ले सुनाम 'जिनका' प्रभु गीत गा ले ।।१००।।

गुरु-स्मृति

आशीष लाभ यदि मै तुमसे न पाता,
तो भावनाशतक काव्य लिखा न जाता ।
हे ज्ञानसागर गुरो! मुझको सभालो,
विद्यादिसागर बना तुममे मिला लो ।।१।।

मंगल कामना

विभो ! अर्ज मजूर हो सुखी रहें सब जीव ।
ध्यावें निज के विषय को तज के विषय सदीव ।।१।।

साधु बनो, न स्वादु बनो साध्यसिद्ध हो जाय ।
गमनागमन तभी मिटे पाप पुण्य खो जाय ।।२।।

रत्नत्रय मे रत रहो रहो राग से दूर ।
विद्यासागर तुम बनो सुख पावो भरपूर ।।३।।

रहो स्वपरोपकार मे रत निश्चय उरधार ।
चिर अपरिचित चित्त मे चिर पुनि करो विहार ।।४।।

तन मिला तुम तप करो करो कर्म का नाश ।
शशि रवि से भी अधिक है तुममे दिव्य प्रकाश ।।५।।

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर करुणा करो कर से दो आशीष ।।६।।

ज्ञानाराधन नित करू मुझ में कुछ नहिं ज्ञान ।
दोष यहाँ यदि कुछ मिलें शोध पढ़ें धीमान ।।७।।

बाहुबली के चरण मे वर्षायोग सहर्ष ।
सुहाग नगरी मे अहो स्थापित कर इस वर्ष ।।८।।

द्वय त्रय शून्य द्वय वर्ष की श्रावण की शित चौथ ।
जैन नगर मे लिख दिया निजानन्द का स्रोत ।।९।।

परीषहजय शतक

[१]

शिवसुखं प्रमुखं सुसमागमः,स्मृतिरियं तव चास्तु समागमः ।
कुमतये कुदृशा तु समागमः,स्वपरतेरुपयातु स मा गमः ।।

शिवेति - **हे भगवन्! प्रमुखं श्रेष्ठं शिवसुखं मोक्षसुखं, सुसमागमः सत्संगतिः, तव भवतः, इयं स्मृतिराध्यानम् समागमः समीचीनशास्त्रं च अस्तु भवतु । एषां प्राप्तिः सदा भवत्वित्यर्थः। तु किन्तु कुमतये कुबुद्धये, कुदृशा कुत्सिता दृग्यस्य स तेन मिथ्यादृष्टिना समागमः संगतिः स्वपरतेस्तीव्रविद्वेषस्य, स प्रसिद्धः, गमो मार्गः 'गमो द्यूतान्तरे मार्गे' इति विश्वलोचनः। मा उपयातु नो प्राप्नोतु।।१।।**

अर्थ - हे भगवन्! श्रेष्ठ मोक्षसुख, सत्समागम, आपका ध्यान और समीचीन शास्त्र प्राप्त हो किन्तु कुबुद्धि के लिये मिथ्यादृष्टि के साथ समागम और तीव्र विद्वेष का प्रसिद्ध मार्ग प्राप्त न हो ।।१।।

[२]

वियति को वियतिर्वियुतोऽयतः, गतियतिं ह्यगतो यतितोयतः।
शकलतो विकलं कलशंकर, किल यजे सकलं ह्यनिशं करम् ।।

वियतीति - **यो वियति कः सूर्यः सूर्य इवाभातीति यावत्। वियतिः विशिष्टो यतिर्वियतिर्यतिनाथक इति यावत्। अयतः कर्मोदयात् वियुतो रहितः। गतियतिं गतिर्ज्ञानं तस्य यतिः विश्रान्तिस्ता हि निश्चयेन अगतोऽप्राप्तः अनन्तज्ञानसम्पन्न इति यावत्। यतितोयतः यमनं यतिर्विषयनिवृत्तिः स एव तोयं जलं तस्मात् सहित इति शेषः। शकलतः खण्डतो विकलः रहितः सम्पूर्णलोकालोकं जानातीति शेषः पूर्वोक्तगुण विशिष्टं तं सकलं कलेन शरीरेण कलाभिः वैदग्धीभिर्वा सहितं करं कं सुखं राति ददातीति करस्तं सुखदायकम्। कलशंकरं सुखशान्तिकरं जिनेन्द्रम् अनिशं निरन्तरं यजे पूजयामि। किलेति वाक्यालङ्कारे। 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु। कः सुखे वारि शीर्षे च' इति विश्वलोचनः ।।२।।**

अर्थ - जो आकाश मे सूर्य के समान गतिशील हैं, यतियो मे श्रेष्ठ है, जो कर्मोदय से रहित है अथवा अय–शुभावह विधि से वियुत-विशेषरूप से सहित है,

गतियति-ज्ञान की विश्रान्ति से रहित है अर्थात् अनन्तज्ञान से सपन्न है, यतितोयतः - इन्द्रियदमनरूप जल से सहित है और अखण्ड--समस्त विश्व को जानने वाले है उन सकल-- परमौदारिक शरीर से सहित कर--सुखदायक, शान्तिविधायक जिनेन्द्र की मै पूजा करता हूँ ।।२।।

[३]

शुचिचिते श्रमणोऽत्र समानतः, सुखशुभाशुभदुःखसमानतः।
सयम-संयमभावविभावतः, श्रयमयेऽन्वितिरस्तु विभावतः ।।

शुचीति - **अत्र जगति यः श्रमणः साधुः शुचिचिते शुद्धचैतन्यस्वभावाय समानतः सम्यक्प्रकारेण विनतोऽस्ति शुद्धचैतन्यं प्राप्तुं सदा तत्परोऽस्तीति भावः । सुखदुःखयोः शुभाशुभयोश्च समानतो माध्यस्थ्यात् सहितोऽस्ति। अतोऽस्मात्कारणात् सयमसयमभावविभावतः यमेन यावज्जीवननियमेन सहितो यः संयमभावः चारित्र-परिणामस्तस्य विभावतः प्रभावतः। श्रयमये समालम्बरूपे विभौ भगवति मे अन्वितिः अनुगतिः अस्तु भवतु।।३।।**

अर्थ - इस जगत् मे श्रमण--साधु निर्मल चैतन्यस्वभाव के लिये समानत--नम्रीभूत है अर्थात् उसके लिये निरन्तर उद्यमशील है। सुख, दु ख, शुभ और अशुभ अवस्था मे समानता से सहित है, अत जीवनपर्यन्त के लिये धारण किये हुए संयमभाव के प्रभाव से आश्रय देने वाले उन विभु मे मेरी अन्विति--अनुगति--भक्ति हो।।३।।

[४]

समवलम्ब्य सतीं शुचिशारदां, विषयमार्दववल्लितुषारदाम् ।
यदिति पारिषह शतकं वदे, बुधमुदेऽघभिदे शितसंविदे ।।

समवेति - **विषयमार्दववल्लितुषारदां विषया एव पञ्चेन्द्रियभोगा एव मार्दववल्लयः कोमललतास्ताभ्यः तुषारं हिमं ददातीति तथाभूतां विषयेभ्यो निवृत्तिकारिणीम्। सतीं प्रशस्तां शुचिशारदां निरवद्यजिनभारतीं समवलम्ब्य समाश्रित्य, इति वक्ष्यमाणं यत् पारिषह परिषहाणामिदं पारिषहं परिषहसम्बन्धिशतकं शतं प्रमाणं यस्य तत् शतकं शतश्लोकप्रमाणप्रकरणं वदे ब्रुवे तद् बुधमुदे विज्ञजनप्रमोदाय, अघभिदे पापपरिहाराय, शितसंविदे समुज्ज्वलज्ञानाय भवत्विति शेषः। 'वदे' इत्यात्मनेपदप्रयोग आर्ष ।।४।।**

अर्थ - विषयरूपी कोमललताओ को तुषार देने वाली प्रशस्त जिनवाणी का

आश्रय ले, मैं जिस परिषहशतक को कह रहा हूं वह विज्ञजनो के हर्ष के लिये, पापों के विनाश के लिये और उज्ज्वल ज्ञान के लिये होवे ।।४।।

[५]

समुदितेऽसति वै सति मे विधौ, क्षुदनुभूतिरियं प्रथमे विधौ।
विधि -फलं ह्युदितं समयेऽयति, समतया सह यत्सहते यतिः।।

समुदित इति - **वै निश्चयेन मे मम यतेः असति अप्रशस्ते विधौ कर्मणि समुदिते समुदयं प्राप्ते सति। प्रथमे विधौ प्रथमभूमिकायां। इयमनुभूयमाना क्षुदनुभूतिः क्षुधोऽनुभूतिः क्षुदनुभूतिः क्षुत्पीडानुभवो भवति। यत् कर्म यतिः श्रमणः समतया मध्यस्थभावेन सहते तद् उदितमुदयागतं विधिफलं कर्मफलं समये स्वकाले फलदानानन्तर। अयति गच्छति। उदयागतं कर्मफलमवश्यमेव नश्यतीति संचिन्त्य क्षुत्परिषहः साधुना सोढव्यः इति भावः ।।५।।**

अर्थ - मेरे अशुभकर्म का उदय रहते हुए प्रारम्भिक भूमिका मे यह क्षुधा की अनुभूति हो रही है उदयागत कर्म का फल समय आने पर चला जाता है- नष्ट हो जाता है ऐसा विचार कर साधु समताभाव से क्षुधापरिषह का सहन करते है।।५।।

[६]

भवतु सा तु सतां वरभूतये, सुगतये विधिसंवरभूतये ।
कुगतये कुधियां किल कारणं, विषयतोऽसुखि चैतदकारणम् ।।

भवत्विति - **सा प्रसिद्धा क्षुधा सतां साधूना वरभूतये श्रेष्ठसम्पदे, सुगतये देवादिगतिप्राप्तये, विधिसंवरभूतये विधीनां कर्मणां संवर एव भूतिः सम्पत्तिः तस्यै भवतु। तु किन्तु कुधियां कुगतये नरकादिगतिप्राप्तये कारणं निमित्तं भवति। किलेति वाक्यालंकारे। एतद् जगत् विषयतः पञ्चेन्द्रियविषयेभ्यः अकारणं निर्निमित्तम् असुखि दुःखि वर्तते' इति शेषः।।६।।**

अर्थ - वह क्षुधापरिषह साधुओ को उत्कृष्ट संपत्ति के लिये, देवादिगति की प्राप्ति के लिये तथा कर्मो के संवररूप विभूति के लिये होता है परन्तु अज्ञानीजनो को दुर्गति के लिये होता है। यह जगत् विषयो से अकारण ही दु.खी हो रहा है ।।६।।

[७]

कनकतां दृशदोऽनलयोगतः, शुचिमिता अनया मुनयो गतः।
अभिनुता जितचित्तभुवा क्षुधा, शिवपथीत्युदिता निजवाक्षु धा।।

कनकतामिति - यथा अनलयोगतो वह्निसंयोगात् दृशदः स्वर्णपाषाणः कनकतां सुवर्णता प्राप्नुवन्ति तथा अनया क्षुधागता युक्ता मुनयः शुचिं निर्मलताम्। इताः प्राप्ताः। शिवपथि मोक्षमार्गे क्षुधापरिषहः। जितचित्तभुवा जितः पराभूतः चित्तभूः कामो येन तेन कामविजयिना मुनिना अभिनुता सस्तुता। इतीत्थं धा ब्रह्मणा जिनेनेति यावत् निजवाक्षु स्वकीयभारतीषु उदिता कथिता प्रकटितेति यावत्। 'धास्तु धातरि' इति विश्वलोचन।।७।।

अर्थ - जिस प्रकार अग्नि के सयोग से स्वर्णपाषाण स्वर्णता को प्राप्त होते है उसी प्रकार इस क्षुधापरीषह के योग से मुनि शुचिता–निर्मलता को प्राप्त हुए है। कामविजेता मुनियो ने मोक्षमार्ग मे इस क्षुधापरीषह की संस्तुति की है। ऐसा ब्रह्मा–जिनेन्द्रदेव ने अपनी वाणी मे कहा है ।।७।।

[८]

ननु कृतानशनेन तु साधुना, ह्यसमयेऽप्यशन न हि साधु ना।
स्वसमये वचसा शुचि साधुना, निगदित शृणु तन्मनसाऽधुना।।

नन्विति - ननु निश्चयेन कृतानशनेन कृतमनशनं येन तेन कृतोपवासेन साधुना यतिना असमये अकाले साधु निरवद्यमपि अशन, ना न गृह्यते। इत्थ शुचिसाधुना वीतरागजिनेन्द्रेण स्वसमये स्वकीयागमे वचसा वाण्या निगदित कथितं तत् अधुना साम्प्रत त्व मनसा चेतसा चित्त स्थिरीकृत्येति यावत्। शृणु समाकर्णय।।८।।

अर्थ–निश्चय मे उपवास करने वाले साधु को असमय मे– चर्या के प्रतिकूल समय मे निरवद्य भी आहार नहीं लेना चाहिये, ऐसा वीतराग साधु–जिनेन्द्रदेव ने अपने आगम मे वचन द्वारा कहा है। उसे तुम इस समय मन लगाकर सुनो।।८।।

[९]

अनघता लघुनैति सुसंगता, सुभगतां भगतां गतसंगताम्।
जितपरीषहक सह को विदा, विदुरिहाप्यघकासह! कोविदाः।।

अनघतामिति - हे अघकासह! अघानि पापान्येव अघकानि तेषा असहस्तत्सम्बुद्धौ हे पापासहनशील! जितपरीषहकः जिता परीषहा येन तथाभूतः परीषहाणां विजेतेत्यर्थ । कः आत्मा। लघुना शीघ्रेण 'लघु क्षिप्रमर द्रुतम्' इत्यमरः। अनघता पापरहितताम्, सुसंगता सुष्ठु संगो यस्य सुसगस्तस्य भावस्तां सुसंगतिमित्यर्थः। सुभगतां सौभाग्यशालिताम्। भगतां ऐश्वर्ययुक्तताम् । 'भगं तु ज्ञानयोनीच्छा–यशोमाहात्म्यमुक्तिषु' इति विश्वलोचन। गतसगता गत संगः परिग्रहो यस्य स गत–

संज्ञस्तस्य भावस्तां निर्ग्रन्थताम्। विदा ज्ञानेन सह सार्धम्। एति प्राप्नोति।इतीत्थम्। इहापि लोकेऽपि कोविदा विद्वान्सः 'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः' इत्यमरः। विदुः विदन्ति ।।९।।

अर्थ - हे पाप को न सहन करने वाले मुनिराज! परीषहो को जीतने वाला जीव, इसी लोक मे शीघ्र ही निष्पापता, सत्संगति, सौभाग्यशालिता, ऐश्वर्यसंपन्नता, और निर्ग्रन्थता को, सम्यग्ज्ञान को प्राप्त होता है, ऐसा विद्वान् जानते है - कहते हैं ।।९।।

[१०]

निजतनोर्ममता वमता मता, मतिमता समता नमता मता।
विमलबोधसुधां पिबताञ्जसा, व्यथति तं न तृषा सुगताज ! सा।।

निजेति - हे सुगताज! सुगतः सुज्ञातः अजो ब्रह्मा येन तत्सम्बुद्धौ। या तृषा निजतनो स्वशरीरस्य ममतां ममत्वबुद्धि वमता वान्तां कुर्वता मता स्वीकृता। या, मतिमता बुद्धिमता, समता नमता नमस्कुर्वता मता अनुमता । या च अञ्जसा परमार्थेन विमलबोधसुधां निर्मलज्ञानामृतं पिबता जनेन मता अङ्गीकृता। सा तृषा तं निजतनुममता वमन्त मतिमन्त समता नमन्त निर्मलज्ञानामृत च पिबन्तं जनं न व्यथति न पीडयति।।१०।।

अर्थ - हे आत्मज्ञ ! शरीर की ममता को छोडने वाले, भेदविज्ञान से सहित, समता के प्रति नम्रीभूत और यथार्थरूप से निर्मलज्ञानामृत का पान करने वाले मुनि ने जिसे स्वीकृत किया है वह तृषा तथोक्त कार्य करने वाले मुनि को पीडित नहीं करती।

भावार्थ - जिसे शरीर के प्रति ममताभाव है, जिसने शरीर और आत्मा का भेदज्ञान प्राप्त नहीं किया है, जिसने समता भाव को आदर नहीं दिया है तथा जिसने ज्ञानामृत का पान नहीं किया है उसे ही तृषा दुःख देती है ।।१०।।

[११]

शमवतोऽत्र यतेर्भवतो यतः, सभयतां गुणिनश्च सतो यतः ।
लसति मा पुरतो मुदिता सती, तदसहेति तृषा कुपिताऽसती ।।

शमवत इति - अत्र जगति यतो यस्मात् कारणात् । शमवतः प्रशमगुणोपेतस्य, भवतः संसारात् सभयतां भीरुतां यतः एतीति यन् तस्य गच्छतः, गुणिनो गुणवतः, सतः श्रेष्ठस्य यतेः श्रमणस्य पुरतोऽग्रे मा मुक्तिलक्ष्मीः मुदिता प्रहृष्टा सती लसति शोभते ततस्तस्मात् कारणात् तदसहा तस्या मुक्तिलक्ष्म्या असहा तां सोढुमसमर्था तृषा पिपासा कुपिता क्रुद्धा जाता। इति हेतोः असती अविद्यमानाऽभवत्। यतः पुरस्ताद् विलसन्तीं

मुक्तिलक्ष्मीं दृष्ट्वा स्त्रीस्वभावात् मात्सर्येण कुपिता तृषा यतिं नाङ्गीकुरुत इत्युत्प्रेक्षा।।११।।

अर्थ - यतश्च इस जगत् मे प्रशमगुण से सहित, ससार से भयभीत एवं अनेक गुणो से युक्त मुनि के आगे मुक्तिलक्ष्मी प्रसन्न होती हुई विलसती है। अत उसे सहन न करने वाली तृषारूपी स्त्री कुपित होकर मुनि के पास नहीं रहती। ईर्ष्यावश मुनि के पास नहीं आती।।११।।

[१२]

नहि करोति तृषा किल कोपिनः, शुचिमुनीनितरो भुवि कोऽपि न।
विचलितो न गजो गजभावतः, श्वगणकेन सहापि विभावतः।।

नहीति - **भुवि पृथिव्याम्। तृषा पिपासा। शुचिमुनीन्** निरवद्यचर्योपेतयतीन् **कोपिन क्रोधयुक्तान् न हि करोति नैव विदधाति। इतरस्तृषाभिन्न कोऽपि कश्चिदपि तान् कोपिनो न करोति। किलेति वाक्यालंकारे। गजोऽपि मतङ्गजोऽपि श्वगणकेन शुनां गण एव श्वगणक– स्तेनकुक्कुरसमूहेन सह विभावत क्रोधादिविकारपरिणामात् गजभावतः गजस्वभावाद् विचलितो न भवति। कुक्करगणैर्भष्यमाणो गजो यथा स्वगाम्भीर्यं न त्यजति तथा पिपासादिपीडित श्रमण स्वपदाद् विचलितो न भवतीति भाव ।।१२।।**

अर्थ - पृथिवी पर निर्दोषचर्या करने वाले मुनियो को पिपासा तथा अन्य कोई भी पदार्थ कुपित नहीं करता। जैसे हाथी कुक्कुरसमूह के द्वारा तग किये जाने पर भी क्रोधवश अपने गजस्वभाव-गम्भीर भाव से विचलित नहीं होता।।१२।।

[१३]

शमनिधौ निजचिद्विमलक्षिते– र्व्ययभवध्रुवलक्षणलक्षिते।
यदि यमी तृषित सहसा गरेऽ – वतरतीव शशी किल सागरे।।

शमेति - **यदि चेद् यमी यम सयमो विद्यते यस्य स साधुः जातुचित् गरे गले रलयोरभेदात् 'यमकादौ अवेदैक्य डलोर्वबोरलोस्तथा' इति वचनात् तृषितः तृषा संजाता यस्य तथाभूत पिपासायुक्तो भवेत्तर्हि स सहसा झटिति सागरे समुद्रे शशीव चन्द्र इव व्ययभवध्रुवलक्षणलक्षिते व्ययोत्पादध्रौव्यलक्षणसहिते निजचिद्– विमलक्षिते स्वकीयचैतन्यनिर्मलवसुधाया अन्तर्विद्यमाने शमनिधौ प्रशमकोषे अवतरति वगाहते**

निजशान्तस्वरूपं ध्यायतीत्यर्थः। क्षुत्तृड्व्यथातीतो मम शुद्धस्वभावोऽस्त्येवं चिन्तयन् साधुस्तृषापरीषहं सरलतया सहते। किलेति वाक्यालंकारे ।।१३।।

अर्थ - यदि कदाचित् मुनि कण्ठ मे तृषा से युक्त होता है अर्थात् प्यास से उसका गला सूखता है तो वह अपने चैतन्यरूप निर्मल वसुधा के भीतर विद्यमान एवं व्यय, उत्पाद और ध्रौव्य लक्षण से सहित प्रशमरस के भण्डार मे उस प्रकार शीघ्र अवगाहन करता है जिस प्रकार कि चन्द्रमा समुद्र मे ।।१३।।

[१४]

व्यथितनारकिणोऽपि पिपासव,कलितकण्ठगतापकृपासवः ।
इति विचार्य मुनिस्तदपेक्षया, मयि विपन्नयुतोऽयमुपेक्षया ।।

व्यथितेति - कलिता धृता कण्ठगता निःसरणोन्मुखा अपकृपा निर्दया असवः प्राणा यैस्तथाभूता। पिपासव पातुमिच्छवः पिपासातुराः व्यथितनारकिणोऽपि व्यथिताश्च ते नारकिणश्चेति तथाभूता पीडितनारका अपि सन्ति। तदपेक्षया नारकिणामपेक्षया मयि विपत् विपत्ति न विद्यते इतीत्थं विचार्य। अयं मुनि. एष श्रमण उपेक्षया तृषानिराकरणविषयिण्या युत सहितो विद्यते । ये नारकास्त्रयस्त्रिंशत्सागरावधिपर्यन्तं सलिलसीकर न प्राप्नुवन्ति तदपेक्षया मम कियत् कष्टमिति विचार्य मुनिस्तृषानिवारणं प्रति मन्दादरो भवतीति भाव. ।।१४।।

अर्थ—जिनके निर्दय प्राण कण्ठगत हो रहे है ऐसे प्यास से युक्त पीडित नारकी भी तो है उनकी अपेक्षा मेरी विपत्ति कोई विपत्ति नहीं है, ऐसा विचार कर मुनि प्यास के प्रति उपेक्षा से सहित है अर्थात् प्यास दूर करने का काई प्रयत्न नहीं करते।।१४।।

[१५]

चलतु शीततमोऽपि सदागति— रमृतभावमुपैतु सदागतिः।
जगति कम्पवती रसदा गतिः, स्खलति नो वृषतोऽपि सदागतिः।।

चलन्विति - शीततमोऽपि अतिशयेन शीतः शीततमः तथाभूतोऽपि सदागतिर्वायुश्चलतु प्रवहतु। सदागतिरग्निः अमृतभाव सुधात्वं शैत्यनिवारकत्वादिति यावत्। उपैतु प्राप्नोतु। जगति भुवने कम्पवती कम्पनकारिणी रसदा रसं शरीरं द्यति खण्डयतीति रसदा शरीरविदारिणी गति[illegible]ा च भवतु तथापि सदागति मुनि। वृषतो मुनिधर्मतः नो स्खलति भ्रष्टो न भवति। 'सदागतिर्गन्धवाहे निर्वाणेऽपि सदीश्वरे' इति। 'रसः स्वादेऽपि तिक्तादौ शृङ्गारादौ द्रवे विषे। पारदे धातुवीर्याम्बुरागे गन्धरसे तनौ' इति च विश्वलोचनः ।।१५।।

अर्थ– अत्यन्त शीत वायु चले, अग्नि अमृतभाव को प्राप्त हो और जगत् मे जीवो की दशा कम्पन से युक्त तथा शरीर को विदीर्ण करने वाली भले ही हो तो भी मुनि धर्म से विचलित नहीं होता।।१५।।

[१६]

तरुणतोऽरुणत किरणावली, प्रशमिता सविता सगुणाऽवली।
गुरुनिशा लघुतां दिवसं गतं, मुनिरित स्ववशं ननु सगतम्।।

तरुणत इति - **तरुणतो मध्याह्नसम्बन्धिन अरुणत सूर्यात् निसरन्ती किरणावली रश्मिसतति प्रशमिता शान्ता जाता। सविता सूर्योऽपि सगुणावली गुणसमूहसहित: प्रशमित शान्तिं प्राप्त। गुरुनिशा दीर्घरात्रिर्जाता। दिवसं दिनमपि लघुतां ह्रस्वतां गतं प्राप्तं। शीतसमये नैव प्रभाकरप्रचण्डरश्मयो मन्दा जाता इत्यर्थ। सगुणावली गुणसमूहसहित: सूर्य प्रशमं प्राप्त:। गुरुनिशा रात्रि र्गुरुत्वं प्राप्ता दिवसश्च लघुतां प्राप्त तथापि मुनि स्ववशं स्वाधीनं संगत ननु निश्चयेन इत प्राप्त: पावकादिवशतां नो प्राप्त इत्यर्थ: ।।१६।।**

अर्थ - शीत की अधिकता के कारण ही मानो मध्याह्न के सूर्य की किरणावली शान्त हो गई। स्वकीय गुणावली से सहित सूर्य शान्त हो गया, रात बडी और दिन छोटा हो गया, तो भी मुनि निश्चय से स्वाधीन सगति को ही प्राप्त रहे अर्थात् शीत निवारक परपदार्थों के अधीन नहीं हुए ।।१६।।

[१७]

विमलचेतसि पूज्ययते सति, महसि सत्तपसि ज्वलिते सति।
किमु तदा हि बहिर्हिमपातत, सुखितजीवनमस्य मपा: तत:।।

विमलेति - **पूज्ययतेरर्चनीयमुने सति प्रशस्ते विमलचेतसि निर्मलहृदये सत्तपसि समीचीनतपो रूपे महसि तेजसि प्रज्वलिते प्रदीप्ते सति जाते। हि निश्चयेन तदा तस्मिन् काले बहि बाह्यं शरीरोपरीति यावत् हिमपातत तुषारपतनात् किमु का चिन्ता? अस्य सत्तपोऽनलविभ्राजितस्य साधो: सुखितजीवनं सुखसम्पन्नजीवनं भवतीति शेष:। ततस्तस्मात् कारणात् हे साधो! त्वं मपा: मं ब्रह्माणमात्मानं पाति रक्षतीति मपा शरीररक्षां विहाय शुद्धात्मरक्षणतत्पर: स्यादिति शेष।**

अर्थ - पूज्य मुनिराज के प्रशस्त निर्मल चित्त मे जब समीचीन तपरूपी तेज देदीप्यमान हो रहा है तब बाह्य मे बर्फ के पडने से उसे क्या चिन्ता है? इसका जीवन तो उस समय भी सुखी रहता है इस कारण हे साधो! तुम ब्रह्मरूप आत्मा के रक्षक होओ।

भावार्थ - बर्फ के पड़ने से यदि अंगार का नाश होता हो तो तुम अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव वाले आत्मा की रक्षा करो।। १७।।

[१८]

नभसि कृष्णतमा अभयानका:, सतडित: सजलाश्च भयानका:।
अशनिपाततयाप्यचलाश्चला:, स्थिरमटेच्च मुनिं ह्ययवला चला:।।

नभसीति - **नभसि** गगने **कृष्णतमा** अतिश्यमला: **सतडित:** विद्युत्सहिता:, **सजला:** जलयुक्ता, **भयानका.** भीतिप्रदा आनका गर्जन्मेघा', 'आनक: पटहेभेर्यां मृदंगध्वनदम्बुदे' इति विश्वलोचन.। सन्तुतरामिति शेष:। **अशनिपाततया** वज्रपातत्वेन **अचला:** पर्वता अपि **चला:** चंचला भवेयुरिति शेष:। 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चया ' इत्यमर'। **अचला** पृथिवी **च चला** चंचला स्यादिति शेष । 'अचल पर्वते कीले निश्चलेऽप्यवला भुवि' इति विश्वलोचन:। तथापि हे अभय ! हे निर्भय ! मुनिं स्थिरं शीतपरिषहनाऽविचलितम् । अटेत् प्राप्नुयात । मुनि सदा स्थिर: परिषहविजयीभवतीति भाव ।। १८।।

अर्थ - आकाश में कौंदती हुई बिजली से सहित जलयुक्त, भयोत्पादक, काले काले गर्जते हुए मेघ भले ही छाये रहे, वज्रपात से पर्वत भी चंचल हो उठे और अचला--पृथिवी भी चला हो जावे -- काप उठे तो भी हे अभय ! मुनि को स्थिर ही पाते हैं। तथोक्त उपसर्गों के कारण मुनि कभी भी विचलित नहीं होते।। १८।।

[१९]

तपनता तपनस्य निदाघिका, व्रतवते स्ववते न निदाऽधिका।
समुचितं सवितु: प्रकरा: करा:,सलिलजाय सदा प्रखरा: करा:।।

तपनेति - **तपनस्य** सूर्यस्य **निदाघिका** ग्रीष्मर्तुसम्बन्धिनी **तपनता** उष्णता **स्ववते** आत्मवते जितेन्द्रियायेति यावत् । **व्रतवते** मुनये **निदाघका** दु:खदायिनी **न** भवतीति शेष.। इति **समुचितं** योग्यमस्तीति शेष । तदेवोदाह्रियते - **सवितु** सूर्यस्य **प्रकरा** प्रकृष्टरूपा: **प्रखरा** अतिशयेन तीक्ष्णा 'तिग्मं तीक्ष्णं खरं तद्वत्' इत्यमर:। **करा:** किरणा 'बलिहस्तांशव: करा ' इत्यमर । **सलिलजाय** कमलाय **करा** सदा कं सुखं रान्ति ददतीति करा. सुखकरा: सन्ति। 'पापेऽतौ व्यसने वाघं' इति विश्वलोचन:।। १९।।

अर्थ - सूर्य की ग्रीष्म कालीन तपनता आत्मविजयी मुनि के लिये दु:खप्रद नहीं होती यह उचित ही है क्योंकि सूर्य की अत्यन्त तीक्ष्ण किरणें कमल के लिये सदा सुखदायक होती हैं।। १९।।

[२०]

सरसि जन्तुसभा न कतापतः, सरसिजं तु कुतोऽम्बु वितापतः।
इयति घर्मणि शान्तिसुधारक— स्तदवरोधनभावविदारकः।।

सरसीति - कतापतः कस्य सूर्यस्य तापस्तस्मात् 'को ब्रह्मानिलसूर्याग्नियमात्मद्योतबर्हिषु' इति विश्वलोचनः। सूर्यसंतापात् सरसि कासारे जन्तुसभा जन्तूनां मीनादिजलचराणां सभा समितिः सम्मेलनं न वर्तते। वितापतः विशिष्टस्तापो वितापस्तस्मात् अम्बु जलं कुतः? सरसिजं सरोवरोत्पन्नं कमलं कुतः? तापातिरेकात् जल शुष्कं जलाभावे सरसिज शुष्कम्। इयति एतावत्प्रमाणे घर्मणि प्रचण्डातपे सति शान्तिसुधारकः शान्तिसम्पन्नो मुनिः तदवरोधनभावविदारकः तस्य घर्मातिरेकस्य अवरोधन निवारणं तस्य भावोऽभिप्रायस्तस्य विदारको विदारणकर्ता भवतीति शेष। मुनिरुष्णपरिषहजन्यबाधानिवारणं न चिन्तयतीति भाव ।।२०।।

अर्थ - सूर्य के सताप से सरोवर मे जलचरो का समूह नहीं रहा। ताप की अधिकता से जल सूख गया फिर कमल कैसे रह सकता है? ऐसी गर्मी मे शान्ति के धारक मुनि, उस गर्मी के रोकने वाले भाव को भी दूर करते है अर्थात् गर्मी को दूर करने का भाव भी नहीं करते है ।।२०।।

[२१]

त्रिपथगाम्बु सुचन्दनवासित, शशिकलां सुमणिं ह्यथवा सितम्।
प्रकलयन्ति न घर्मसुशान्तये, भुवि मता मुनयो जिनशान्त! ये।।

त्रिपथगेति - हे जिनशान्त! हे शान्तिनाथ! भुवि पृथिव्यां ये मुनयो निर्ग्रन्थश्रमणा मता प्रसिद्धा मुनित्वेन स्वीकृताः ते घर्मसुशान्तये निदाघपरिषहनिराकरणाय सुचन्दनवासितं सुचन्दनेन शोभनमलयजेन वासितं सुगन्धितं त्रिपथगाम्बु त्रिपथगाया गङ्गाया अम्बु सलिलं, शशिकलां चन्द्रकलां अथवा सितं शुक्लं सुमणिं चन्द्रकान्तमणिं न प्रकलयन्ति न सेवन्ते। औष्ण्यपरिषहनिराकरणाय लौकिकमुपचारं नेच्छन्तीति भाव ।।२१।।

अर्थ - हे शान्तिजिनेन्द्र! पृथिवी पर जो निर्ग्रन्थ मुनि माने गये हैं वे गर्मी की बाधा शान्त करने के लिये न चन्दनसुवासित गङ्गाजल की, न चन्द्रकला की और न शुक्ल चन्द्रकान्तमणि की इच्छा करते हैं — इनका सेवन करते हैं।।२१।।

[२२]

पतित पत्रकपादपराजितं, प्रतिवनं रविपादपराजितम्।
मुनिमनो नु ततोऽस्त्वपराजितं, नमति चैव तकं स्वपराजितम्।।

पतितेति - **पतितपत्रकपादपराजितं पतितानि पत्राणि पर्णानि येभ्यस्तथाभूता ये पादपा वृक्षास्तै राजितं शोभितम्। रविपादपराजितं रवेः सूर्यस्य पादैः किरणैः पराजितं पराभूतं प्रतिवनं वनं वनं प्रतीति प्रतिवनं प्रत्येकवनं तथाभूतम् अस्तु तथापि मुनिमनो निर्ग्रन्थश्रमणस्वान्तं ततस्तथाभूताद्वनात् अपराजितं अपराभूतम् अस्तु भवतु । नु वितर्के एषोऽहं स्वपराजितं स्वं आत्मानं पान्ति रक्षन्ति ते स्वपाः आत्मरक्षका ये गुणास्तै राजितं शोभितं तक तं स्वार्थेऽकच् प्रत्ययः नमति नमस्करोति ।।२२।।**

अर्थ - जब प्रत्येक वन पत्ररहित वृक्षो से युक्त तथा सूर्य की किरणो से पराभूत होता है तब मुनि का मन उससे अपराजित रहता है। उस शुष्क वन मे भयभीत नहीं होता, किन्तु स्वप-राजित—आत्म रक्षक गुणो से सुशोभित रहता है। उन मुनि को यह स्तोता नमन करता है।।२२।।

[२३]

परिषहं कलयन् सह भावतः, स हतदेहरुचिर्निजभावतः।
परमतत्त्वविदा कलितो यतिः, जयतु मे तु मनः फलतोऽयति।।

परिषहमिति - **निजभावत निजे स्वकीयशुद्धस्वरूपे भावः सद्भावस्तस्मात् हतदेहरुचि हता नष्टा देहे शरीरे रुचिः प्रीतिर्यस्य सः। भावतः सह अभिप्रायेण सह सार्वविभक्तिकस्तसिल्। मनोयोग पूर्वकमित्यर्थः परिषहं निदाघपरिषहं कलयन् सहमानः। परमतत्त्वविदा श्रेष्ठतत्त्वज्ञानेन कलितो युक्तः। अथवा परमतत्त्वविद्भिः आकलितः श्रद्धावनतः। स प्रसिद्धो यतिर्निर्ग्रन्थश्रमणः जयतु जयवान् भवतु। फलतः फलरूपेण स मुनिः मे मम मनः अयति प्राप्नोति। तं प्रति मम मनसि महानादरो वर्तत इत्यर्थः।।२३।।**

अर्थ - आत्मस्वभाव मे विद्यमान होने से जिनकी शरीर सम्बन्धी प्रीति नष्ट हो चुकी है, जो समीचीन अभिप्राय—ख्यातिलाभादि की भावना से रहित मन से परिषह को सहन कर रहे हैं तथा उत्कृष्ट तत्त्वज्ञान से सहित है वे मुनि जयवत हो। इसके फलस्वरूप वे मुनि मेरे मन को प्राप्त हो रहे है अर्थात् मै उनका निरन्तर ध्यान करता हूं।।२३।।

[२४]

विषधरैर्विषमैर्विषयातिगः, परिवृतो व्रतवानवर्तितः ।
नहि ततोऽस्य तु किंचन मानसं, कलुषितं किल तच्छुचिमानसम् ।।

विषधरैरिति - **विषयातिगः विषयान् पञ्चेन्द्रियविषयानतीत्य गच्छतीति विषयातिगः पञ्चेन्द्रियविजयी। अदयातिगः अदयां निष्कारुण्यमतीत्य गच्छतीति अदयातिगो जीवदयासहितः। व्रतवान् मुनिर्यद्यपि विषमैर्भयङ्करैः विषधरैः सर्पैः परिवृतो वेष्टितो वर्तत इति शेषः। तु किन्तु अस्य व्रतवतो मुनेः तत् प्रसिद्धं शुचिमानसं पवित्रचित्तं मानसं मानससरः विषमविषधरपरिवृतत्वात् किञ्चन किमपि ईषदपीत्यर्थः कलुषितं मलिन न भवति। किलेति वाक्यालंकारे। विषमविषधरैर्वेष्टितोऽपि न किञ्चिद् विभेति, न तत्प्रतिकार च करोतीत्यर्थः।।२४।।**

अर्थ - पञ्चेन्द्रियो के विषयो से रहित दयालुमुनि, यद्यपि विषम विषधरो - सर्पो से वेष्टित रहते है तथापि इनका पवित्र मन रूपी मानसरोवर उनसे कुछ भी कलुषित नहीं होता।।२४।।

[२५]

असुमतः प्रति यो गतवैरतः, शुभदयागुणके सति वै रतः।
व्यथित नो मनसा वचसाङ्गतः, सदसि पूज्यपद विदुषांगतः।।

अमुमत इति - **यो मुनि असुमतः प्राणिन प्रति गतवैरतः गतं नष्टं यद् वैर तस्मात्। वैररहितत्वात्। सति प्रशस्ते शुभदयागुणके शुभदयारूपगुणे स्वार्थे कः वै निश्चयेन रतो लीनः सन् मनसा वचसा अङ्गत योगत्रयेण नो व्यथति न व्यथामनुभवति स विदुषा सुधियां सदसि सभायां पूज्यपद पूज्य स्थानं गत प्राप्तो भवतीति शेषः। 'विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञ सन् सुधीः कोविदो बुध' इति 'पदं व्यवसित त्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इति चामरः।।२५।।**

अर्थ - जो मुनि प्राणियो के प्रति वैर रहित होने से निश्चयत श्रेष्ठ दयागुण मे लीन रहते हुए मन, वचन, काय से दु खी नहीं होते, वे विद्वानो की सभा मे पूज्य स्थान को प्राप्त होते है।।२५।।

[२६]

रुधिरकं तु पिबन्ति पिबन्तु ते, स्तुतिसुधां सुखिनोऽज पिबन्तु ते।
मम न हानिरिहास्ति हि वस्तुतः, इति तनोः पृथगस्मि भवस्तुत!।।

रुधिरकमिति - **हे भवस्तुत! भवेन समस्तसंसारेण स्तुतः स्तुतिविषयीकृतः तत्सम्बुद्धौ। हे अज!हे ब्रह्मन्! यदि ते मत्कुणमशकादयः रुधिरकं किञ्चिद् रुधिरं रक्तं पिबन्ति, पिबन्तु नाम। यदि ते सुखिनः सुखयुक्ता जना स्तुतिसुधां स्तवनपीयूषं पिबन्ति, तर्हि पिबन्तु। दुर्जनाः सुजनाश्च स्वस्वकार्यं कुर्वन्तु नामेत्यर्थः। इहास्मिन् विषये वस्तुतो**

यथार्थतः।मम मुनेः हानिः हि निश्चयेन नास्ति। इति विचारेण तनोः शरीरात् अहं पृथग् अस्मि पृथग्भूतो वर्ते इति भावः।।२६।।

अर्थ - हे भवस्तुत! अज! हे समस्त संसार के द्वारा स्तुत ब्रह्मन्! यदि वे खटमल तथा मच्छर आदि कुछ रुधिर पीते हैं तो पियें और वे सुखीजन यदि स्तुतिरूपी अमृत पीते है तो पिये, इस विषय मे परमार्थ से मेरी हानि नहीं है; क्योकि मै शरीर से पृथग् हूँ।।२६।।

[२७]

मशकदंशकमत्कुणकादयः, प्रविकला क्षुधिता अनकादय !
स्वकममी प्रभजंतु नु क कदा, त्विति सतामनुचिंतनकं कदा ।।

मशकेति - **हे अनकादय! अकं पापं च अदया करुणाभावश्चेति अकादये, न विद्येते अकादये यस्य तत्सम्बुद्धौ हे जिन! मशकदंशकमत्कुणकादयः मशकदंशकखट्वामल्लादयः क्षुधिता क्षुधायुक्ताः प्रविकलाः प्रकर्षेण विकला विह्वलाः सन्ति, अमी एते स्वकं स्वकीयं कं सुखं क्षुधानिवृत्तिजन्यम् कदा कर्हि प्रभजन्तु प्राप्नुवन्तु। नु इति वितर्के। इति तु सतां साधूनामनुचिन्तनकं भूयोभूयश्चिन्तनकं, स्वार्थे कः कदा कस्मिन् काले भवत्विति शेषः। अथवा कद+आ इतिच्छेद आ कद! कं सुखं ददातीति कदस्तत्सम्बुद्धौ आ इति निपातः सम्बुद्ध्यर्थकः ।।२७।।**

अर्थ - हे अनकादय! हे पाप और अदया से रहित जिनदेव! जो डांश, मच्छर तथा खटमल आदि जीव क्षुधा से युक्त हो अत्यन्त विकल दुखी हो रहे है ये अपने सुख को कब प्राप्त हो, साधुओ का ऐसा चिन्तन कब हो।।२७।।

[२८]

स्वपददं च पदं हि दिगम्बरं, निरुपयोग्यघदं तु धिगम्बरम्।
इति विचार्य विमुञ्चितपाटकाः, शिवपथेऽत्र जयन्तु नपाटकाः।।

स्वपददमिति - **हि निश्चयेन दिगम्बरं दिश एवाम्बरं वस्त्रं यस्मिन् तद् दिगम्बरं पदं स्वपददं स्वस्यात्मनः पदं ददातीति स्वपददं मुक्तिप्रदम्। अस्तीति शेषः। निरुपयोगि अनुपयोगि अघदं पापप्रदं अम्बरं वस्त्रं तु धिक् निन्दार्हमित्यर्थः। इतीत्थं विचार्य विमुञ्चितपाटकाः परित्यक्तवस्त्राः नपाटकाः दिगम्बरा अत्र शिवपथे मोक्षमार्गे जयन्तु जयवन्तो भवन्तु।।२८।।**

अर्थ - निश्चय से दिगम्बर पद ही आत्मपद—मोक्ष को देने वाला है। किन्तु अनुपयोगी तथा पाप को देने वाले वस्त्र को धिक्कार हो। ऐसा विचार कर जिन्होंने वस्त्र

का परित्याग किया है ऐसे दिगम्बर साधु मोक्षमार्ग मे जयवन्त रहे।।२८।।

[२९]

कृतकृपा निजके च्युतवासना , हृततृपास्तु विसर्जितवासनाः।
समुपयान्तु शिवं ह्यभव तु ते, धृतपटा मुनयो न भवन्तु ते।।

कृतकृपा इति - **निजके निज एव निजकस्तस्मिन् अथवा निजस्य स्वस्य क आत्मा निजकस्तस्मिन्। कृतकृपाः कृता विहिता कृपा दया यैस्ते तथाभूताः 'ममात्मा विषयासक्त्या मलिनो न भवेदिति' विचारसहिता इत्यर्थ.। च्युतवासना च्युता त्यक्ता वासना विषयसंस्कारो यैस्ते। हततृपा लज्जारहिता। विसर्जितवासनाः वसनानां वस्त्राणा समूहो वासन विसर्जित त्यक्त वासनं यैस्ते तथाभूता। एवभूता ये सन्ति ते हि निश्चयेन शिव श्रेयो मोक्ष वा अभवं जन्मराहित्य समुपयान्तु। ये तु जना श्वेताम्बरादय धृतपटा वस्त्रधारका सन्ति ते मुनयो निर्ग्रन्थश्रमणा न भवन्तु। निर्ग्रन्था एव मुनयो मुक्तिप्राप्त्यर्हाश्च भवन्त्विति भाव.।।२९।।**

अर्थ - जो निज आत्मा पर दयालु है अर्थात् उसे विषय प्रपञ्च से दूर रखते है, जिन्होने विषयो की वासना–सस्कार छोड दिये है, जो लज्जा से रहित है तथा वस्त्र समूह से रहित है, वे निश्चय से मोक्ष को तथा जन्माभाव को प्राप्त हो। इनके विपरीत जो वस्त्रधारक है वे परमार्थ से मुनि नहीं है और मुक्ति एव जन्माभाव को प्राप्त करने के योग्य नहीं है।।२९।।

[३०]

जगदिदं द्विविधं खलु चेतनं, यदितरं स्वयमेव विचेतनम्।
विविधवस्तुनिकायनिकेतनं, शृणु निरावरणं हि निकेतनम्।।

जगदिति - **खलु निश्चयेन इद जगत् द्विविध चेतनाचेतनभेदेन द्विप्रकारमस्ति। तत्र यच्चेतन तत् स्वयमेव तथाभूतमस्ति यच्च विचेतन विगता चेतना यस्य तथाभूत तत् स्वयमेव तथाभूत वर्तते। चेतनमचेतनं न भवति, अचेतनं च चेतन न भवति। एतद् जगद् विविधवस्तुनिकायनिकेतन विविधानि नानाप्रकाराणि यानि वस्तूनि तेषां निकायस्य समूहस्य निकेतनं स्थानमस्ति। निकेतनं नियतं केतन लक्षणं यस्य तथाभूतमेतत् जगद् हि निश्चयेन निरावरणमावरणरहितमस्ति। यत्र जगति सकलानि वस्तूनि निरावरणानि सन्ति तत्र मुनिभिरपि निरावरणैर्भवितव्यम्। इति रहस्यं हे भव्य! त्व शृणु समाकर्णय। 'केतन लक्षणं गृहे' इति विश्वलोचन।।३०।।**

अर्थ - यह जगत् चैतन अचेतन के भेद मे दो प्रकार का है। उनमे जो चेतन

अथवा अचेतन है वह स्वयं तथाभूत है। अर्थात् चेतन अचेतन रूप और अचेतन चेतन रूप नहीं हो सकता। सब अपने अपने नियत लक्षणो से युक्त है। समस्त वस्तुसमूह के घर स्वरूप यह जगत् निरावरण है--पर के आवरण से रहित है अतः मुनि को भी निरावरण रहना प्रकृति सिद्ध है। हे भव्य! इस रहस्य को तू सुन, समझ तथा अङ्गीकृत कर।।३०।।

[३१]

अत इतो न घृणां कुरुते मनो, भुवि मुदार्षिरिदं ह्ययते मनो!
कुलहितं तनुजं जननी हते, भवति शोकवती गुणिनी हते।।

अत इति - हे मनो! हे ब्रह्मन्! अतोऽस्मात् कारणात्। इतो नाग्न्यं प्रति मनो मुनेश्चित्तं घृणां जुगुप्सां न कुरुते न विदधाति। भुवि पृथिव्याम् ऋषिर्मुनिः इदं नाग्न्यं मुदा हर्षेण अयते प्राप्नोति। तदेवोदाह्रियते - यथा गुणिनी गुणवती जननी कुलहितं वंशश्रेयस्करं तनुजं पुत्रम् ईहते वाञ्छति तस्य लालनं पालनं च करोतीत्यर्थः। हते मृते च तस्मिन् तनूजे शोकवती शोकयुक्ता भवति। जननी कुलहितं तनूजमिव मुनिर्नाग्न्यं समीहत इत्यर्थः ।।३१।।

अर्थ - हे मनो! इसलिये मुनि का मन इस नाग्न्यव्रत की ओर घृणा नहीं करता है। पृथिवी पर मुनि इसे हर्ष से प्राप्त होते है--धारण करते है। जिस प्रकार गुणवती माता कुल का हित करने वाले पुत्र की इच्छा करती है, उसका लालन पालन करती है और उसके नष्ट हो जाने पर शोकयुक्त होती है। इसी प्रकार मुनि नाग्न्यव्रत की इच्छा करते है -- उसका निर्दोष पालन करते है और उसमे बाधा आने पर दुखी होते है ।।३१।।

[३२]

करणमोदपदार्थरसं प्रति, विरतिभावयुतो भुवि सम्प्रति।
सुविजितोऽरतिनाम परीषहः, करुणयाह कवाक् तु करी सह।।

करणेति - सम्प्रति निर्ग्रन्थमुद्रावसरे यो मुनिः भुवि पृथिव्याम् करणमोदपदार्थरसं प्रति करणानामिन्द्रियाणां मोदो हर्षो येभ्यस्ते करणमोदाः ते च ते पदार्थाश्च तेषां रसः स्वादस्तं प्रति। विरतिभावयुतो विरक्तिपरिणामेन युतः सहितो वर्तते, तेन अरतिनाम परिषहः सुविजितः सुखेन विजितः। इति, करी करोतीति करी कर्तव्यनिर्देशतत्परा कवाक् कस्य जिनस्य वाग् वाणी करुणया दयया सह सार्धम् आह जगाद।।३२।।

अर्थ-- पृथिवी पर निर्ग्रन्थमुद्रा के समय जो मुनि, इन्द्रियो को हर्षित करने वाले

पदार्थो के रस के प्रति विरक्तिभाव से सहित होता है अर्थात् अनुकूल रस वाले पदार्थों के स्वाद मे अनुरक्त नहीं होता है उसके द्वारा अरतिनाम का परिषह सुख से जीता जाता है ऐसा कर्तव्य का निर्देश करने वाली जिनवाणी दयापूर्वक कहती है।।३२।।

[३३]

विकृतरूपशवादिकदर्शनात्, पितृवने च गजाहित गर्जनात्।
अरतिभाव - मुपैति न कंचन, समितभावरतोऽञ्चतु कं च न! ।।

विकृतेति - हे न! हे जिन! 'नकारौ जिनपूज्ययो' इति विश्वलोचनः। पितृवने श्मशाने, विकृतरूपशवादिकदर्शनात् विकृत रूपं येषां ते विकृतरूपाः ते च ते शवादिकाश्च मृतकदेहाश्च तेषां दर्शनादवलोकनात् । गजाहितगर्जनाच्च गजानां हस्तिनाम् यत् अहितगर्जन भयावहशब्दस्तस्मात्। य कंचन कमपि अरतिभावं अप्रीतिपरिणाम नोपैति न प्राप्नोति। समितभावरत मध्यस्थपरिणामलीन. स मुनि कं सुखं शुद्धात्मान च अञ्चतु गच्छतु प्राप्नोत्विति यावत्।।३३।।

अर्थ - हे जिन! जो मुनि श्मशान मे विकृत रूप - मडे गले मृतक शरीर के देखने और हाथियो की अहितकारी-भयावह गर्जना से कुछ भी अरतिभाव-अप्रीति भाव को प्राप्त नहीं होता है, साम्यभाव मे लीन रहने वाला वह मुनि, सुख को प्राप्त हो।।३३।।

[३४]

विरमति श्रुततो ह्यघकारत , वचसि ते रमते त्वविकारत।
स्मृतिपथ नयतीति न भोगकान्, विगतभावितकाश्च विभोऽघकान्।।

विरमतीति - हे विभो! हे भगवन्! यो मुनि हि निश्चयेन अघकारत पापकारकात् श्रुतत शास्त्रात् विरमति विरतो भवति। तु किन्तु अविकारत्वं विकाररहितत्वात् ते तव वचसि रमते रमण करोति। इति हेतोः स अघकान् पापरूपान् विगतभावितकान् अतीतानागतकान् भोगकान् पञ्चेन्द्रियविषयान् स्मृतिपथंस्मरणमार्गं न नयति नो प्रापयति। कुशास्त्राद्विरतः सुशास्त्रे च सुरत साधुः अतीतानागतवर्तमानान् भोगान् नाकाङ्क्षीत्यर्थः ।।३४।।

अर्थ - हे विभो! जो मुनि पापकारक शास्त्र से विरत रहता है तथा विकार रहित आपके वचन मे-सुशास्त्र मे रमण करता है वह पापकारक अतीत-अनागत भोगों का स्मरण नहीं करता ।।३४।।

[३५]

सुविधिना यदनेन विलीयते, मनसिजा विकृतिः किल लीयते।
बलवती शुचिदृक् प्रविजायते, ध्रुवमतो लघु मायमजायते।।

सुविधिनेति - **यद् यस्मात्कारणात् अनेन मुनिना सुविधिना सम्यक्प्रकारेण विलीयते कर्मणि प्रयोगः। स्वस्मिन् विलीनो निरतो भवतीत्यर्थः। मनसिजा मानसोद्भूता विकृतिः किल निश्चयेन लीयते नश्यति। बलवती सुदृढा शुचिदृक् निर्मलसम्यग्दर्शनं प्रविजायते प्रकर्षेण समुत्पद्यते। अतोऽस्मात् कारणात् यमजा चारित्रोत्पन्ना मा लक्ष्मीः ध्रुवं निश्चयेन लघु क्षिप्रं अयते प्राप्नोति। 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः ।।३५।।**

अर्थ - जिस कारण मुनि विधिपूर्वक आत्मस्वरूप में लीन होता है, मानसिक विकृति को नष्ट करता है और उसके सुदृढ़ निर्मल सम्यग्दर्शन होता है अतः उसे संयम से उत्पन्न होने वाली मा–मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही नियम से प्राप्त होती है।।३५।।

[३६]

मदनमार्दवमानसहारिणी, लसितलोलकलोचनहारिणी।
मुदितमञ्जुमतङ्गविहारिणी, यदि दृशे किमु सा स्वविहारिणी।।

मदनेति - **मदनमार्दवमानसहारिणी मदनस्य कामदेवस्य मार्दवेन मृदुत्वेनोपलक्षित यन्मानसं चित्तं तद् हरतीत्येवंशीला। लसितलोलकलोचनहारिणी लसिते शोभिते लोलके चञ्चले ये लोचने नयने ताभ्यां हारिणी मनोहरा। मुदितमञ्जुमतङ्गविहारिणी मुदितः प्रहृष्टो यो मञ्जुमतङ्गो मनोहरगजस्तद्वद् विहरति भ्रमतीत्येवशीला, गजगामिनीत्यर्थः स्त्री यदि दृशे दृष्टये प्राप्ता तर्हि निर्ग्रन्थश्रमणो मनसि विचारयति–सा तथोक्ता स्त्री किम् स्वविहारिणी स्वस्मिन् शुद्धात्मस्वरूपे विहरतीत्येवंशीला अस्ति अपि तु नास्ति। उ वितर्के ।।३६।।**

अर्थ - कामदेव के कोमल चित्त को हरने वाली, सुन्दर एव चञ्चल नेत्रों से मनोहर और प्रसन्न मनोहर हाथी के समान चालवाली स्त्री यदि दृष्टि के लिये प्राप्त होती है अर्थात् देखने मे आती है तो निर्ग्रन्थ साधु विचार करता है क्या वह स्त्री स्वविहारिणी है ? अपने आप मे रमण करने वाली है ? अर्थात् नहीं ।।३६।।

[३७]

सततमुक्तचरा मदमोहिता, यदिति या प्रमदाप्तयमोदिता।
यदि वने विजने स्मितभाषया, वदति चास्तु यतिर्न विभाषया।।

सततेति - **यद् यस्मात् कारणात् इयं सततमुक्तचरा सततं निरन्तरं मुक्तं**

स्वच्छन्द यथास्यात्तथा चरति भ्रमतीति तथा शश्वत्स्वच्छ न्दचारिणी। मदमोहिता मदेन गर्वेण मादकद्रव्यसेवनजनितविभ्रमेण वा मोहिता मोहयुक्ता अस्ति, इति हेतोः या स्त्री प्रमदा प्रकृष्टो मदो यस्या सा इत्थम् आप्तयमोदिता आप्तस्य जिनेन्द्रस्य यमे संयमे उदिता कथिता। जिनागमे प्रमदा नाम्ना प्रसिद्धेत्यर्थ। सा स्त्री यदि विजने एकान्ते वने स्मितभाषया मन्दहसितवाण्या वदति स्पष्टं ब्रवीति तर्हि यतिः विभाषया निर्ग्रन्थश्रमणपदविरुद्धभाषया युक्तो नास्तु न भवतु । यतिस्तथोक्तप्रमदया सह विजने वार्तालाप न विदधात्विति भाव ।।३७।।

अर्थ - यतश्च जो स्त्री निरन्तर स्वच्छन्द घूमती है और मद से मोहित होती है उसे जिनेन्द्र के सयम मे 'प्रमदा' कहा गया है। ऐसी स्त्री मुसक्याती हुई निर्जन वन मे सराग वाणी मे यदि कुछ कहती है तो साधु अपने पद से विरुद्ध भाषा से युक्त न हो अर्थात् उसमे बात न करे ।।३७।।

[३८]

विमलरोचनभासुररोचना, विलसितोत्पलभासुररोचना।
जनयितु विकृति न हि सा क्षमा, ह्यविचलात्र यतौ सरसा क्षमा।।

विमलेति - विलसितोत्पलभासुररोचना विलसितं शोभितं यत् उत्पल नीलकमल तद्वद् भासुरे रोचने लोचने यस्याः सा रलयोरभेदाद् रोचनशब्दस्य लोचनार्थे प्रयोग 'यमकादौ भवेदैक्य डलो र्वबोर्रलोस्तथा' इत्युक्ते। विमलरोचनभासुररोचना विमलमवदात यद् रोचन रक्तकमलं तद्वद् भा कान्ति र्यस्या सा, तथाभूता सुररोचना सुरस्य देवस्य रोचना स्त्री देवाङ्गनेत्यर्थ 'रोचनो रक्तकह्लारे कूट शाल्मलिशाखिनि। अपि गोपित्तमङ्गलरचितस्त्रीषु रोचना।।' इति विश्वलोचनः। सा तथोक्ता देववल्लभापि विकृति विकार जनयितुमुत्पादयितु हि निश्चयेन न क्षमा नो समर्था। यतो यस्मात् कारणात् क्षमाभूमि सरसा कासारेण अविचला चलयितुमयोग्या भवतीति शेष। 'क्षितौ क्षान्तावपि क्षमा। क्षम युक्ते क्षम शक्ते' इति विश्वलोचन।।३८।।

अर्थ- सुशोभित नीलकमल के समान सुन्दर नेत्रो वाली एवं निर्मल लालकमल के समान कान्ति से युक्त देवाङ्गना भी निर्ग्रन्थ साधु को विकार उत्पन्न करने मे समर्थ नहीं है क्योकि क्षमा--पृथिवी सरोवर से अविचल ही रहती है ।।३८।।

[३९]

श्रमणतां श्रयता श्रमणेन या, त्वरमिता रमिता भुवनेऽनया।
किमु विहाय सुधीरविनश्वरां, त्विह समामभिवाञ्छति नश्वराम्।।

श्रमणतामिति - श्रमणतां साधुतां श्रयता धृतवता श्रमणेन साधुना सह तु या समता अरं शीघ्रम् इता प्राप्ता भुवने जगति अनया एतया समतया सह रमिता रमणकर्ता सुधी विज्ञो जनः अविनश्वरां स्थायिनीं समतां विहाय त्यक्त्वा इह जगति नश्वराम् विनाशिनीम् समा मया शोभया सहिता समा तां सुन्दरस्त्रीं किमु अभिवाञ्छति? समभिलषति? अपि तु न ।।३९।।

अर्थ - साधुता को धारण करने वाले साधु के द्वारा जो समता शीघ्र प्राप्त की गई इसके साथ रमण करने वाला ज्ञानी पुरुष इस अविनाशिनी समता को छोड़ क्या विनाशिनी सुन्दर स्त्री की इच्छा करता है? अर्थात् नहीं।।३९।।

[४०]

कठिनसाध्यतपोगुणवृद्धये, मतिमलाहतये गुणवृद्ध! ये।
पदविहारिण आगमनेत्रका, धृतदया विमदः भुवनेऽत्र काः।।

कठिनेति - हे गुणवृद्ध! गुणैर्वृद्धस्तत्सम्बुद्धौ, हे गुणातिशयसपन्न! कठिनसाध्यः क्लेशसाध्यो यस्तपो गुणस्तपोरूपगुणस्तस्य वृद्धये वर्धनाय। मतिमलाहतये बुद्धिदोषनिराकरणाय ये पदविहारिण पदाभ्यां विहरन्तीत्येवशीला । आगमनेत्रकाः आगम एव नेत्र येषां ते शास्त्रलोचना चरणानुयोगनिर्देशानुसारं प्रवर्तमाना इत्यर्थ धृतदया धृता दया यैस्ते दयासंपन्ना विमदा विगतो मदो येषां ते तथाभूता गर्वरहिता का आत्मान अत्र भुवने लोके सन्तीति शेष। अस्मिन् लोके खल्वेवभूता साधव सन्ति ये चरणानुयोगनिर्देशमङ्गीकुर्वन्त पदविहारं कुर्वन्ति जीवत्राणं विदधति, गृहस्थावस्थायां मतङ्गजादिवाहनै जात मदं मुञ्चन्ति, बुद्धिवैमल्योपायमन्वेषमाणा विहरन्ति तपोगुणवृद्धि च वाञ्छन्ति ।।४०।।

अर्थ - हे गुणवृद्ध! इस जगत् मे जो आगमरूप नेत्र से युक्त, दयालु और मद से रहित आत्माएं-साधु है वे कठिनसाध्य तपरूप गुणो की वृद्धि के लिये एव बुद्धि सम्बन्धी मल–दोषो को नष्ट करने के लिये पैदल ही विहार करते है ।।४०।।

[४१]

अथ निवारितकापदरक्षका, श्रममितास्तु निजापदरक्षका।
अकुशलाध्वचलत्पदलोहिताः, किमु तदा सुधियोऽन्तरलोहिताः।।

अथेति - निवारितकापदरक्षका निवारितान्येव निवारितकानि, निवारितकानि आ समन्तात् पदरक्षकाणि विविधपादत्राणानि यैस्ते। श्रमम् चर्याजन्यखेदम् इताः प्राप्ताः। निजापदरक्षका निजस्य स्वस्य कण्टकादिजन्या या आपद् आपत्तिस्तस्या अरक्षका

अनिवारका। अकुशलाध्वचलत्पदलोहिता अकुशले अश्रेयसि कण्टकादिकीर्णेऽध्वनि मार्गे चलद्भि पदैश्चरणै लोहिता निःसरद्रुधिर क्तवर्णा सुधियो मुनयो यदा भवन्ति तदा ते किमु अन्तरे हृदयमध्ये लोहिता रक्ता भवन्ति? अपि तु न। विरक्तान्तःकरणा एव चर्यापरिषहं सोढुं शक्नुवन्तीति भाव ।।४१।।

अर्थ - जिन्होने सब प्रकार के पादत्राण--जूता-चप्पल आदि छोड दिये ८, जो पैदल चलने से खेद को प्राप्त है, आपत्ति से अपनी रक्षा-बचाव नहीं करते है तथा अकुशल--कण्टकादि से व्याप्त मार्ग मे चलने वाले पैरो से लहूलुहान हो रहे हैं, ऐसे विवेकी मुनिराज क्या उस समय अपने अन्त करण मे लोहित--रागी होते है? अथात् नहीं।।४१।।

[४२]

कमलकोमलकौ ह्यमलौ कलौ, ह्यभवता सुपदौ सबलौ कलौ।
इति विचार्य तनौ भव मा रत, स्मर कथां सुपदां सुकुमारत।।

कमलेति - सुकुमारस्वामिन कमलकोमलकौ कमलवन् मृदुलौ, अमलौ मलरहितौ, कलौ मनोहरौ सुपदौ शोभनचरणौ कलौ कलिकाले हि निश्चयत सबलौ बलसम्पन्नौ अभवताम् जातौ। इत्येव विचार्य हे साधो! तनौ शरीरे रतो लीन समासक्त मा भव नो एधि। किन्तु सुकुमारत सुकुमारस्य सार्वविभक्तिकस्तसिल् सुपदा शोभनपदप्रदायिनीं सुन्दरपदावलिसहिता वा कथा स्मर स्मृतिपथमानय। सुकुमारस्वामिन कथा स्मृत्वा चर्यापरिषह समतया सहस्वेति भाव।।४२।।

अर्थ - सुकुमाल स्वामी के कमल के समान कोमल, निर्मल और मनोहर सुन्दर चरण कलिकाल मे सबल--शक्तिसपन्न हुए थे, ऐसा विचार कर हे साधो! शरीर मे रत- लीन न होओ, उनकी उत्तमपद-- प्रदायिनी अथवा सुन्दरपदावलि से युक्त कथा का स्मरण कर।।४२।।

[४३]

समधिरोहितबोधसुयानका,स्तनुसुखावहविस्मृतयानकाः।
पथि चलत्स्वतनो किल दर्शका, तयिति सन्तु जयन्तु तु दर्शका।।

समधीति - समधिरोहितबोधसुयानका बोध एव सम्यग्ज्ञानमेव सुयान सुवाहन, समधिरोहितं समधिष्ठित बोधसुयानं यैस्ते। तनुसुखावहविस्मृतयानका तनुसुखावहं शरीरसुखदायक विस्मृतं यान यैस्तथाभूता। पथि मार्गे चलत्स्वतनोः चलन्ती या स्वतनु तस्या किल दर्शका दर्शनकर्तारः एव भवन्ति तेभ्य केमपि साहाय्यं नाकाङ्क्षन्ति।

दर्शकाः प्रवीणाः साधव इतीत्थं सन्तु भवन्तु जयन्तु च। 'दर्शकस्तु प्रतीहारे दर्शयितृप्रवीणयोः' इति विश्वलोचनः।।४३।।

अर्थ - जो सम्यग्ज्ञानरूपी सवारी पर अधिरूढ़ है, शरीर के सुखदायक वाहनो को भूल चुके हैं तथा मार्ग मे चलते हुए अपने शरीर को जो दिखाते हैं अर्थात् देखने वाले लोगो से किसी प्रकार की सहायता की इच्छा नही करते, किन्तु यही चाहते हैं कि दर्शक लोग भी इसी तरह पद विहार करने वाले हों। इस प्रकार चर्यापरिषह को सहन करने वाले साधु जयवंत रहे।।४३।।

[४४]

विदचलीकृतचञ्चलमानसः, प्रगतमोहतरङ्गसुमानसः।
बहुदृढासनसंयतकायक, स्तदनुपालितजीवनिकायकः।।

विदिति -मुनयः कथंभूता भवन्तीत्याह- विदचलीकृतचञ्चलमानसः विदा ज्ञानेन अचलीकृतं स्थिरीकृतं चञ्चलमानसं च लचेतो येन तथाभूतः। प्रगतमोहतरङ्गसुमानसः प्रगतः प्रणष्टो मोहतरङ्गो यस्मात् तथाभूतं सुमानसं यस्य तथाभूतः मोहविकल्परहितहृदयः। बहुदृढासनसंयतकायकः बहुदृढेनातिस्थिरेणासनेन संयतः स्ववशीकृतः कायो देहो येन तथाभूतः स्थिरासन इत्यर्थः। तदनुपालितजीवनिकायकः तेन स्थिरासनेनानुपालितः सुरक्षितो जीवनिकायः प्राणिसमूहो येन तथाभूतः एवंभूता मुनयो निषद्यापरिषहजेतारो भवन्ति ।।४४।।

अर्थ - निषद्यापरिषह महन करने वाले मुनि कैसे होते है? –ज्ञान के द्वारा जिन्होने चञ्चल मन को स्थिर कर लिया है जिनका हृदय मोहरूप तरङ्गो–मोहजनितविकल्पो से रहित है, अत्यन्त दृढ़ आसन से जिन्होने शरीर को स्वाधीन कर लिया है और दृढ आसन होने से जिन्होने जीव समूह की रक्षा की है, ऐसे मुनि निषद्यापरिषह को जीतने वाले होते है ।।४४।।

[४५]

चरणमोहकबन्धनहानये, रुचिमितश्च सदालसहा नये।
नदतटे च नगे विहितासन, ऋषिगणो जयताच्च्युतवासनः।।

चरणेति - चरणमोहश्चारित्रमोह एव चरणमोहकः स एव बन्धनं तस्य हानये निराकरणाय नये व्यवहारचारित्रमार्गे रुचिमिच्छां श्रद्धां वा इतो गतः। सदालसहा सदा सर्वदा, आलसहा आलसं प्रमादं हन्तीति आलसहा। नदतटे सरित्तीरे नगे पर्वते च विहितासनः कृतनिषद्यः। च्युतवासनः च्युता वासनः विषयसंस्कारो यस्य तथाभूतः

ऋषिगणो मुनिसमूहो जयतात् सर्वोत्कर्षेण वर्तताम् ।।४५।।

अर्थ - चारित्रमोह रूप बन्धन का निराकरण करने के लिये जो व्यवहारचारित्ररूप नीतिमार्ग मे रुचि-इच्छा अथवा श्रद्धा को प्राप्त है, सदा आलस को नष्ट करते रहते है, नदी, तट अथवा पर्वत पर आसन लगाते है तथा जिनकी विषयवासना छूट चुकी है ऐसे मुनियो का समूह जयवन्त रहे।।४५।।

[४६]

इह पुरागतकेऽस्य च योगता, मुपगता स्वपदं मुनयो गताः।
इति मत नुतसाधुबुधार्य! ते, यदिति सज्जगताप्यवधार्यते।।

इहेति - हे नुतसाधुबुधार्य! साधुबुधैर्नुतो नुतसाधुबुधः, स चासावार्यश्चेति नुतसाधुबुधार्य स्तत्सम्बुद्धौ हे साधुजनवन्दित। पूज्य! इहात्र लोके। अथवा इह वर्तमानकाले पुरागतके च अतीता नागतकाले च। अस्य निषद्यापरिषहस्य मध्ये योगतां ध्यानतामुपगता प्राप्ता मुनय स्वपदमात्मस्थान मुक्तिधाम गता प्राप्ताः। इति ते भवतो यत् मत दर्शन सिद्धान्तो वा तद् सज्जगतापि सल्लोकेनापि। इतीत्थमेव अवधार्यते निश्चीयते। 'योग सनाहसधानसङ्गतिध्यानकर्मणि' इति विश्वलोचन।।४६।।

अर्थ - यहा वर्तमान, भूत और भविष्यत् काल मे जो मुनि इस निषद्यापरीषह के मध्य ध्यानता को प्राप्त हुए वे स्वपद-आत्मपद-मुक्तिधाम को प्राप्त हुए है, ऐसा जो आपका मत था वह अब भी विद्यमान जगत् के द्वारा इसी प्रकार माना जाता है ।।४६।।

[४७]

विमुख! किं बहुना निजभावत, सभय! हे शृणु चेद् यदि भावत।
इह युतोऽप्यमुना नतिमागत, ऋषिवरैः श्रय तच्च समा गताः।।

विमुखेति - बहुना किम्? अतिनिरूपणेन को लाभ ? निजभावतो निजस्वभावात् हे विमुख! हे पराङ्मुख! हे सभय! हे ससाराद् भीरो! चेद् त्वं निजभावतो विमुखोऽसि, यदि ससारात् सभयोऽसि च, तर्हि भावतो विशुद्धपरिणामात् शृणु समाकर्णय। इह जगति अमुना निषद्यापरिषहजयेन युत महितोऽपि मुनि ऋषिवरैर्मुनिश्रेष्ठै नति नमस्कृति आगत प्राप्त.। अतस्त्वमपि तच्च निषद्यापरिषहजयनं श्रय सेवस्व, निषद्यापरिषहजय विधेहीत्यर्थ.। समा वर्षा गताः व्यतीता। आयुषो विपुल समयो व्यपगत इत्यर्थ. 'हायनोऽस्त्री शरत्समा' इत्यमर।।४७।।

अर्थ - अधिक कहने से क्या लाभ है? यदि तू निज स्वभाव से विमुख हो रहा है और यदि चतुर्गति रूप ससार मे भयभीत है तो शुद्धभाव से सुन। इस जगत् मे जो इस

निषद्यापरिषहजय से सहित है वह भी मुनिवरों से नमस्कार को प्राप्त हुआ है। तू भी उस परिषहजय का आश्रय ले, जीवन के अनेक वर्ष निकल गये है ।।४७।।

[४८]

श्रममितः श्रमणोऽत्र भुवि श्रुते, तपसि तत्परतः खलु विश्रुते।
इति मतं निशि यः श्रयते यते-रतिशयं तु जिनाशय! तेऽयते।।

श्रममित इति - **अत्र भुवि अस्या वसुधायां श्रुते श्रुताभ्यासे विश्रुते प्रख्याते तपसि तपश्चरणे च तत्परतः समुद्यतत्वात् श्रमं खेदं इतः प्राप्त यः श्रमणः साधुः निशि रात्रौ श्रयते सेवते शय्यामिति शेषः। स तु श्रमणः हे अशय! शयनक्रियारहित! हे जिन! यतेः मुनिरूपस्य ते भवत। अतिशयं प्रभावम् भवत्तुल्यप्रभावं अयते प्राप्नोति। इतीत्थं मतं दर्शनमस्तीति शेषः ।।४८।।**

अर्थ - इस वसुधा पर शास्त्राभ्यास और प्रख्यात तप मे तत्पर रहने से खेद को प्राप्त हुआ जो साधु रात्रि मे शय्या का आश्रय लेता है वह हे शयनरहित जिनेन्द्र! यति -मुनिरूप आपके अतिशय को प्राप्त होता है, ऐसा सिद्धान्त है।।४८।।

[४९]

तृणशिलाफलके च सकारणं, भुवि तुरीयव्रतोन्नतिकारणम्।
न हि दिवा शयनं निशि यामकं, स कुरुते मुनिको विनियामकम्।।

तृणेति **शयनं कुत्र कथं वा करणीयमिति स्पष्टीकरोति । सकारणं स्वाध्यायादिजनितखेद निवारणरूपकारणसहित तुरीयव्रतोन्नतिकारण तुरीयश्चतुर्थं यमो ब्रह्मचर्यमहाव्रत तस्योन्नतेः कारणं निमित्तम्। तथाभूतं शयनं भुवि पृथिव्यां तृणशिलाफलके च तृणाः पलालादयस्तृणनिर्मितकटप्रभृतयश्च शिला पाषाणपट्टः फलकः काष्ठमञ्चिका च एषां समाहारद्वन्द्वः एषु शयनं कर्तव्यम्। दिवा दिवसे शयनं न हि कर्तव्यम्। स मुनिकः षष्ठगुणस्थानवर्ती मुनिः विनियामकं स्वच्छन्द यामक अधिकयामपर्यन्तं न हि कुरुते नो विदधाति। रात्रावपि स्वल्पकालपर्यन्तं शयन करोतीत्यर्थः।।४९।।**

अर्थ - षष्ठगुणस्थानवर्ती मुनि स्वाध्यायादिजनित खेद को दूर करने तथा ब्रह्मचर्य व्रत की उन्नति के लिये पृथिवी, तृण, शिला अथवा काष्ठफलक पर शयन करते है। दिन मे शयन नहीं करते और रात्रि मे भी स्वच्छन्दता पूर्वक अधिक समय तक शयन नहीं करते ।।४९।।

स उपसर्ग इहाजगता सुरै, र्जडजनै र्गुणिभिर्महताऽसुरैः।
निशि न चैति मुनिस्तु पदान्तरं, ह्यविचलं सत एव सदान्तरम्।।

स इति - इह भुवि, अजगना अजङ्गमेन अचेतनपदार्थेनेति यावत् 'जगद्वाते पुमान् क्लीबे भुवने जङ्गमे त्रिषु' इति विश्वलोचन। सुरैर्देवै. जडजनैरज्ञानिमानवैः गुणिभिः मतविद्वेषिभि पण्डिताभासै । महता राज्येन 'महद्राज्ये नपुंसकम्' इति विश्वलोचनः। असुरैर्दानवै । उपसर्गे उपद्रवे कृते सति स मुनिः निशि नक्त पदान्तरं स्थानान्तरं न चैति न च गच्छति। सत एव तत्रैव निश्चितस्थान एव सतो विद्यमानस्य मुनेः अन्तरं अन्तःकरणं सदा सर्वदा हि निश्चयेन अविचलं स्थिरमेव भवतीति शेषः ।।५०।।

अर्थ - पृथिवी पर अचेतन, देव, अज्ञानिमानव, मन से द्वेष रखने वाले गुणीजन, राज्य अथवा दानवा के द्वारा उपसर्ग किये जाने पर मुनि रात्रि मे दूसरे स्थान पर नहीं जाते। उसी स्थान पर रहते हुए उन मुनि का अन्त करण अविचल रहता है।।५०।।

[५१]

विजितनिद्रक एव सदा दर, त्यजति चेदमरर्द्धिसदादरम्।
यदुपपत्तययिच्छितभोजन, रसयुतं प्रजहाति च भो! जन।।

विजितेति - शय्यापरिषहविजयाय श्रमण समुपदिशत्याचार्य भो जन! हे निर्ग्रन्थश्रमण! विजितनिद्रक एव विजिता निद्रा येन तथाभूत एव सदा सर्वदा दरं भय त्यजति । चेद्यदि शय्यापरिषहविजयमिच्छसि तर्हि अमरर्द्धिसदादरम् अमराणामृद्धिषु य सदादर समीचीन आदरभावस्त त्यजति मुञ्चति यदुपपत्तये यस्य शय्यापरिषह जयस्योपपत्तये सपादनाय रसयुत षड्रससहित इच्छितभोजन अभिलषितभोजनं च प्रजहाति त्यजति ।।५१।।

अर्थ - हे साधुजन ! निद्रा को जीतने वाला ही सदा भय को छोडता है तथा देव सम्बन्धी वैभव मे समीचीन आदरभाव का परित्याग करता है। शय्यापरिषहजय की उपपत्ति–प्राप्ति के लिये रसीले इच्छित भोजन का भी त्याग करता है।।५१।।

[५२]

ससमयश्च मुनेश्शयनं हित, शयनमेवमटेच्छयन हि तत् ।
समुदितेऽप्यरुणे ह्युदयाचलेऽप्युडुदलो न हि खे सदयाऽचलेत् ।।

ससमयमिति - हे सदय ! दयया सहितः सदयः सकृपस्तत्सम्बुद्धौ। ससमयं समयानुरूप शयनं स्वापो मुने साधोः हित हितकर भवति। एवमित्थ शयनं स्वाप एव तत्

प्रसिद्धं शयन शय्यां निश्चयतः अटेत् प्राप्नुयात्। हि यतः। उदयाचले अरुणे सूर्ये समुदिते सति उडुदलो नक्षत्रसमूहः खे विहायसि न हि आचलेत् आसमन्तात् चलेत् लुप्तो भवेदित्यर्थः।।

अर्थ - हे सदय! दयायुक्तसाधो! समयानुरूप शयन मुनि के लिये हितकारी है। इस तरह शयन ही शयन (शय्या) को प्राप्त होता है। उचित ही है क्योकि उदयाचल पर सूर्य के उदित होने पर नक्षत्र- समूह आकाश मे सब ओर नहीं चलता किन्तु अस्त हो जाता है।।५२।।

[५३]

उपगता अदयैरुपहासतां, कलुषितं न मनो भवहाः ! सताम्।
शमवतां किमु तत् बुधवन्दनं, न हि मुदेऽप्यमुदे जडनिन्दनम्।।

उपगता इति - हे भवहा! भवं संसार जहातीति भवहास्तत्सम्बुद्धौ क्विबन्तः प्रयोग। सन्त सत्पुरुषा अदयैर्दयारहितै र्जनै। उपहासतामनादरतामुपगताः प्राप्ताः तथापि सता साधूनां मनश्चित्त कलुषित मलिन न भवतीति शेषः। तत् प्रसिद्ध बुधवन्दनं बुधैर्विद्वद्भि कृतं वन्दन बुधवन्दन विद्वज्जननमस्कारः शमवता साधूनां कि मु? किमस्ति न किमपीत्यर्थ। तेषां शमवतां साधूनां जडनिन्दनमज्ञजनकृतनिन्दनं न हि मुदे हर्षाय न हि अमुदे हर्षाभावाय भवतीति शेष।।५३।।

अर्थ - सत्पुरुष, निर्दय मनुष्यो के द्वारा उपहास—अनादर को प्राप्त होते है परन्तु उससे उनका मन कलुषित नहीं होता। विद्वानो का नमस्कार साधुओं के लिये क्या है? अर्थात् कुछ भी नहीं है तथा अज्ञानीजनो के द्वारा की हुई निन्दा न उनके हर्ष के लिये होती है और न अहर्ष— अप्रीति के लिये।।५३।।

[५४]

कटुककर्कशकर्णशुभेतरं, प्रकलयन् स इहासुलभेतरम्।
वचनक विबुधस्त्विव विश्रुतिर्बलयुतोऽप्यबलश्च भुवि श्रुतिः।।

कटुकेति - आक्रोशपरिषहं सहमानो मुनिः कीदृग् भवतीत्याह-सः विबुधो विशिष्टज्ञानी मुनीश्वर इह जगति असुलभेतरं सुलभं कटुककर्कशकर्णशुभेतरं कटुकं मर्मभेदि, कर्कशं कठोरं कर्णयोः शुभेतरमशुभं वचनकं निन्द्यं वचनं वचनकं विश्रुतिरिव बधिर इव प्रकलयन् गणयन् उपेक्षत इति शेषः। अत एव भुवि पृथिव्यां इति श्रुतिः प्रसिद्धा यदसौ मुनीश्वरः बलयुतोऽपि अबलो बलहीनः प्रतीयत इति।।५४।।

अर्थ - आक्रोशपरिषह को सहन करने वाले ज्ञानी मुनिराज इस जगत् मे सुलभ,

कटुक, कठोर और कानो के लिये अप्रिय निन्द्यवचन की ऐसी उपेक्षा करते है मानो उन्होने सुना भी न हो, बहरे हो। इसीलिये पृथिवी पर ऐसी श्रुति प्रसिद्ध हुई कि वह बलसहित होकर बलरहित थे ।।५४।।

[५५]

गतमलो विरसस्त्विति कारणात्, वचनतः पृथगस्मि च कारणात् ।
मम न हानिरतोऽस्तु सुचिन्तति, प्रलभतेऽत्र मुनेः स्वशुचिं ततिः ।।

गतमल इति - **यतश्चाहं गतमलो मलरहितः विरसो रसरहितश्चास्मीति कारणात् हेतो वचनतो दुष्टजनवचनात् कारणाच्च वधाच्च 'कारण हेतुवधयोः पीडायां करणेऽपि च' इति विश्वलोचन। पृथगस्मि पृथग्भूतोऽस्मि। अतो वचनाच्छारीरिकवधाच्च मम मुने हानिर्नाशो नास्तु ना भवतु। इति सुचिन्तति सुविचारयति निर्ग्रन्थश्रमण। उपर्युक्तचिन्तनेन मुनेः साधो तति समूह। अत्र जगति स्वशुचिमात्मपवित्रता प्रलभते प्रकर्षेण प्राप्नोति ।।५५।।**

अर्थ - मै मल से रहित हू और रस से रहित हू, इस कारण दुष्टजन के वचन तथा कारण–वध से मेरी कुछ भी हानि नहीं है, ऐसा चिन्तवन करते है। इस प्रकार के चिन्तन से मुनियो का समूह आत्मशुद्धि को अच्छी तरह प्राप्त होता है।।५५।।

[५६]

कुमतिभिर्दलितोऽपि सखेदित, सुपथवञ्चित एव सखेऽर्दित ।
अविरतो विमुख प्रतिकारत, जयतु यस्य स वै समकारतः ।।

कुमतिभिरिति - **कुमतिभिर्मिथ्यामतिभिः दलितोऽपि पीडितोऽपि सखेदित खेदखिन्नोऽपि, सुपथवञ्चित एव सुमार्गपरिभ्रष्ट एव सखे कुशसहिते वनक्षेत्रे अर्दितः दुखीकृतोऽपि योऽविरत स्वात्मध्यानाद् विरतो न भवति। प्रतिकारत निराकरणकार्यादि विमुख पराङ्मुखो भवति। समकारतो माध्यस्थ्यभावात् वै निश्चयेन यस्यैवभूता परिणतिरस्ति स आक्रोशपरिषहजयी जयतु जयवान् भवतु ।।५६।।**

अर्थ - यदि मुनिराज मिथ्यादृष्टियो – मतद्वेषी लोगों के द्वारा खिन्न **किये जाते** है, तथा समीचीन मार्ग भूलकर कुश तथा कटकाकीर्ण वनक्षेत्र मे चलकर खेद [illegible] [illegible] अपने गृहीतमार्ग– सयम की साधना से विरत नहीं होते है। आयी विपत्ति का प्रतिकार [illegible] रहते। समताभाव से युक्त रहते है ऐसे मुनि जयवन्त रहे ।।५६।।

[५७]

फलमिदं तु पुराकृतशावरे, समुदिते न पराकृतशावरे।
इह परे प्रभवो व्यवहारतः, स मनुते हि निजेऽव्रतहा रतः।।

फलमिति - **पुराकृतशावरे पुराकृतं पूर्वजन्मकृतं यत् शावरं पापं तस्मिन् समुदिते सति उदयागते सति इदं फलं उपसर्गरूपं प्राप्तं। पराकृतशावरे परेण आसमन्तात् कृतं विहितं शावरमपराधस्तस्मिन् सति न तु प्राप्तम्। इह जगति परेऽन्यस्मिन् प्रभवः प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणमिति कथनं व्यवहारत उपचाराद् भवति। हि निश्चयेन निजे स्वात्मनि रतो लीनः अव्रतहा अव्रतं हन्तीति अव्रतहा स मुनिः एवं मनुते मन्यते। 'शावरो लोध्रवृक्षे स्यात्तथा पापापराधयोः' इति विश्वलोचनः ।।५७।।**

अर्थ - यह उपसर्गरूप फल पूर्वकृत पाप के उदित होने पर प्राप्त हुआ है न कि अन्यकृत अपराध के होने पर। इस जगत् मे परपदार्थ मे जो कारण का कथन होता है वह व्यवहार– उपचार से होता है। निजात्मा मे लीन साधु ऐसा मानते हैं ।।५७।।

[५८]

तनुरुषोऽरुणताऽशुचिसागरा, वधमिता भवदाशु च सा गरा ।
मम ततः क्षतिरस्ति न काचन, चरणबोधदृशो ध्रुवकाश्च न ! ।।

तनुरिति - **हे न! जिन! मम मुनेः सा तनुः मूर्तिः शरीरमित्यर्थः। उषोऽरुणता उषसः प्रत्यूषकालस्यारुणता लालिमा प्रातःकालिकलालिमवत्क्षणभङ्गुरास्ति। अशुचिसागरा अशुचेरपवित्रायाः सागरः सिन्धुर्यस्यां तथाभूतास्ति आशु शीघ्रं च भवदा भवं ससारं ददातीति भवदा संसारवर्धिनी अथवा भवं पर्यायं द्यति खण्डयतीति भवदा वर्तमानपर्यायनाशकरी अस्ति। किञ्च आगरा आसमन्तात् गरो विषं गरं रोगो वा यस्यां तथाभूतास्ति। एवभूता तनुर्यदि वधं विनाशं इता प्राप्ता तर्हि ततस्तनुवधात् मम काचन कापि क्षतिर्हानिर्नास्ति न विद्यते। किञ्च मम चरणबोधदृशः चरणं च बोधश्च दृक् च चरणबोधदृशः चारित्रज्ञानसम्यग्दर्शनानि ध्रुवका नित्याः सन्ति। तनुविनाशेऽपि रत्नत्रयविनाशो न भवतीत्यर्थः।।५८।।**

अर्थ - वध का प्रसङ्ग आने पर साधु ऐसा विचार करता है कि हे जिन! मेरा वह शरीर प्रातःकाल की लालिमा है। अशुचिता का सागर उसमे लहरा रहा है, भव को देने वाला है अथवा वर्तमान पर्याय को नष्ट करने वाला है और सब ओर से विषरूप अथवा रोगो से सहित है। ऐसा शरीर यदि वध को प्राप्त हो रहा है तो इससे मेरी कुछ भी हानि नहीं है क्योकि मेरे दर्शन, ज्ञान और चारित्र ध्रुवरूप हैं - नष्ट नहीं हुए है।।५८।।

[५९]

विविधकर्मलयास्रवहेतवः, किल हिताहितका जड हे! तव ।
पथि सतीति मुनेर्मुनिचालकाः, सुकथयन्त्यनघाघविचालकाः ।।

विविधेति - **हे जड! हे अज्ञात्मन्! ये विविधकर्मलयास्रवहेतवः विविधानामनेकप्रकाराणां कर्मणा लयास्रवयोः सवरास्रवयो हेतवः कारणभूताः सन्ति त एव किल निश्चयेन सति प्रशस्ते मार्गे मोक्षमार्गे तव मुनेः साधोः हिताहितकाः हिताश्चाहिताश्च हिताहिताः स्वार्थे क. हिताहितका. सन्ति। इतीत्थं अनघाघविचालकाः पुण्यपापविचारका रलयोरभेदात् प्रयोगः। मुनिचालका मुनीनां चालका मुनिसङ्घप्रवर्तका आचार्या इत्यर्थ सुकथयन्ति निरूपयन्ति। बधकर्तृषु शत्रुबुद्धिर्न कार्येति भावः।।५९।।**

अर्थ - वध का प्रसङ्ग आने पर मुनि इस प्रकार आत्मसबोधन करते है- हे अज्ञ आत्मन्! नाना प्रकार के कर्मों के सवर और आस्रव मे कारणभूत जो भाव है वे ही यथार्थत कल्याणमार्ग मे तेरे मित्र और शत्रु है। अर्थात् जो सवर के कारण है वे हित रूप है और जो आस्रव के कारण है वे अहितरूप है। इस तरह पुण्य-पाप का विचार करने वाले आचार्य कहते है ।।५९।।

[६०]

वसतिकाप्रभृतेर्नहि याचना—मृषिरिहायति दीनतया च ना ।
यदनया लयते निजतन्त्रता, न भजिता विदुषा परतन्त्रता ।।

वसतिकेति - **इहात्र जगति ऋषि मुनिपदविभूषितो ना पुरुष 'ना पुमान् पुरुषो गोधा' इति धनजय। दीनतया दैन्येन वसतिकाप्रभृते निवासस्थानादे याचनां याञ्चा नायति न प्राप्नोति न करोतीत्यर्थ। यद् यस्मात् कारणात्। अनया याचनया निजतन्त्रता स्वाधीनता लयते विनश्यति विदुषा विपश्चिता परतन्त्रता न भजिता न सेविता।।६०।।**

अर्थ - इस जगत् मे ऋषिपदधारी मनुष्य दीनता मे वसतिका आदि की याचना नहीं करता क्योकि इस याचना मे स्वाधीनता नष्ट हो जाती है। तथा विद्वान् के द्वारा परतन्त्रता का सेवन नहीं होता ।।६०।।

[६१]

यदनुवृत्ति ऋषिं हि सदोषतां, नयति चैव लयं गतदोषताम् ।
उडुपतिर्ग्रसितो निशि केतुना, त्विति विचिन्त्य वसेन्निजके तु ना ।।

यदनुवृत्तिरिति - **यदनुवृत्ति यस्या याचनाया अनुवृत्तिर्यदनुसरणम् ऋषिं मुनिं**

सदोषतां दोषसहिततां नयति प्रापयति, गतदोषतां निर्दोषतां च लयं विनाशं नयति। तदेवोदाह्रियते—निशि नक्तम् उडुपतिश्चन्द्रः केतुना राहुणा ग्रसितः सन् यथा सदोषतां याति तथा याचनया ग्रसितो मुनिः सदोषतां याति। इति विचिन्त्य ना पुरुषः निजके निजात्मनि वसेत् निवासं कुर्यात्। तु पादपूर्त्यर्थः ।।६१।।

अर्थ - याचना का अनुसरण साधु को सदोषता प्राप्त कराता है और निर्दोषता को नष्ट करता है। जिस प्रकार रात्रि मे राहु के द्वारा ग्रसित चन्द्रमा सदोषता को प्राप्त होता है उसी प्रकार याचना से ग्रसित साधु सदोषता को प्राप्त होता है। ऐसा विचारकर मनुष्य को निजात्मा मे ही निवास करना चाहिये ।।६१।।

[६२]

सुकुफल मिलतीह नियोगतः, स्वयमयाचितकं विधियोगतः ।
अथ मुने! भव हे त्वमयाचकः— श्चलिततत्त्वविधिर्भुवि याचकः ।।

सुकुफलमिति - **इह जगति विधियोगतः कर्मयोगतः सुकुफलं प्रशस्ताप्रशस्तफलम् अयाचितकम् अप्रार्थित नियोगत नियमेन स्वयं स्वतः मिलति प्राप्यते। अतः हे मुने! त्वम् अयाचको भव याचनकर्ता नो भव। अथ पक्षान्तरे यदि भुवि याचको याचनकर्ता भवसि तर्हि त्व चलिततत्त्वविधि वस्तुतत्त्वश्रद्धानंरहितो भवेः। सुखदुःखप्राप्तिः स्वकर्मोदयाधीना भवतीति निश्चेतव्यम् ।।६२।।**

अर्थ - इस जगत् मे कर्मयोग से अच्छा—बुरा फल नियम से स्वयं मिलता है। अत हे मुने! तुम अयाचक रहो किसी वस्तु की याचना न करो। इसके विपरीत यदि याचक होते हो तो निश्चित ही तुम तत्त्वश्रद्धा से विचलित होगे ।।६२।।

[६३]

व्रजति चैव मुनिर्मृगराजतां, जितपरीषहको मुनिराजताम् ।
इति न चेल्लघुतामुपहासतां, सुगत एव गतोऽशुभहा सताम् ।।

व्रजतीति - **जितपरीषहकः जिता परीषहा येन स तथाभूतो मुनिः मृगराजतां सिंहतां स्वनिर्भरता स्वतन्त्रतामित्यर्थः मुनिराजतां मुनीनां राजा मुनिराजस्तस्य भावस्तां श्रेष्ठमुनितां चैव नियमेन व्रजति प्राप्नोति। चेत् यदि, इति न स्यात् परिषहजयी न स्यात् तर्हि अशुभहा अशुभं हन्तीति अशुभहा अशुभयोगापहारको मुनिः सुगतः सुज्ञानोऽपि लघुता हीनतां सतां सत्पुरुषाणा मध्ये उपहासता हास्यास्पदत्वं च एव नियमेन गतः प्राप्तः। परीषहविजयी साधुषु स्वगौरव रक्षति श्रेष्ठता च प्राप्नोति। अन्यथा साधुषु हीनतां हास्य च गच्छतीत्यर्थः ।।६३।।**

अर्थ - परिषहो को जीतने वाला मुनि ही सिंह के समान स्वात्मनिर्भरता और मुनियो के आधिपत्य को प्राप्त होता है। यदि इसके विपरीत है तो अशुभ को नष्ट करने वाला मुनि ज्ञानी होने पर भी लघुता और सत्पुरुषो के बीच उपहास को प्राप्त होता है।।६३।।

[६४]

अनियतं विहरन्नपि स क्षम, शृणु कृतानशनः खलु सक्षमः ।
अलभमान ऋषिर्ह्यशनं कर ! सुलभमान इवाऽऽवदनंकरः ।।

अनियतमिति - **हे कर! कं सुखं राति ददातीति करस्तत्सम्बुद्धौ हे कर! हे सुखद! सक्षम क्षमया तितिक्षया सहित स मुनि । अनियत नियमरहित यथा स्यात्तथा जात्वधिक जातुचिदल्पमित्यर्थ विहरन्नपि विहार कुर्वन्नपि, कृतानशनोऽपि कृतमनशन येन कृतोपवासोऽपि खलु निश्चयेन क्षम समर्थ शक्तिसंपन्नो भवतीति शृणु समाकर्णय । हि यतो निश्चयेन वा अशनमाहारम् अलभमानोऽप्राप्नुवान ऋषि साधु सुलभमान इव सुष्ठुरूपेणाहार प्राप्नुवान इव आवदनकरः आसमन्तात् वदन करोतीति तथाभूतः प्रसन्नवदन इत्यर्थो भवतीति शेष ।।६४।।**

अर्थ - हे कर! हे सुखद! सुनो क्षमाधर्म से विभूषित मुनि अनियत विहार करते हुए तथा उपवास से युक्त होते हुए भी अपनी दिनचर्या मे समर्थ रहते है। आहार न मिलने पर भी उनका मुख आहार मिलने वाले के मुख के समान अत्यन्त प्रसन्न रहता है।।६४।।

[६५]

रसयुते मिलिते न हि नीरसे, परिगतो विरति स मुनी रसे ।
प्रमुदित क्षुभितो न हि मे विधे, प्रतिफलं त्विति वै मनुते विधे ! ।।

रसेति - **हे विधे! हे विधात! रसे घृतदुग्धादौ विरति विरक्ति परिगत प्राप्तः स मुनिर्यति रसयुते घृतदुग्धादिरससहिते नीरसे रसेभ्यो निष्क्रान्त इति नीरसस्तस्मिन् रसरहिते आहारे मिलिते प्राप्ते सति प्रमुदित प्रहृष्टः क्षुभित प्राप्तक्षोभो न हि भवतीति शेष। तु किन्तु प्राप्ताहारो मे मम विधे कर्मण प्रतिफल वर्तते। कर्मोदयानुरूपं हि सरस नीरस भोजन प्राप्यते। इतीत्थं वै निश्चयेन मनुते मन्यते - जानातीत्यर्थ ।।६५।।**

अर्थ - हे विधात! घृतदुग्धादिरसो मे विरक्ति को प्राप्त हुआ मुनि सरस अथवा नीरस आहार के मिलने पर प्रसन्न अथवा कुपित नहीं होता। किन्तु यह हमारे कर्म का फल है, निश्चय से ऐसा मानता है।।६५।।

[६६]

श्रुतिसुधामशनं समितातपः, स समुपात्ति शमी शमितातप!
उपरि दृश्यत एव सदाऽसुखी, कृशतनु र्ह्यतनौ विमदा सुखी ।।

श्रुतीति– **हे शमितातप! शमी जितेन्द्रियो यस्तातोऽनुकम्प्यस्तं पाति रक्षतीति शमि-तात-पस्तत्सम्बुद्धौ 'तातोऽनुकम्प्ये' इति विश्वलोचनः। जितेन्द्रिय शिष्यसंरक्षक! इति यावत्। शमी लोकोत्तरशान्तियुक्तः स मुनिः श्रुतिसुधां शास्त्रामृतं समितातपः सम्यक्तपश्च अशनमाहारंसमुपात्ति सम्यक्प्रकारेण भुङ्क्ते। आहारालाभेऽपि स शास्त्रसुधापानं करोति तपश्चरणरूपमशनं च खादतीत्यर्थः। स उपर्येव सदा कृशतनुः कृशकायः असुखी दुःखी च दृश्यते। अतनौ न तनुरतनुस्तस्यामात्मनीति यावत् विमदो मदातीत सुखी सुखयुक्तश्च भवतीति शेषः।।६६।।**

अर्थ - हे शमि-तात-प! हे जितेन्द्रिय-दयापात्र शिष्यो के रक्षक भगवन्! लोकोत्तर शान्ति से युक्त वे मुनिराज शास्त्ररूपी सुधा और सम्यक् तपरूप आहार का अच्छी तरह उपभोग करते है। कृश शरीर वाले वे मुनि बाहर से ही सदा दु खी दिखाई देते है। आत्मा मे तो मद रहित सुख सम्पन्न ही रहते है।।६६।।

[६७]

बुधनुत स मुनिप्रवरो गतः, सभयतां नितरां भवरोगतः ।
न हि बिभेति सुधीस्तनुरोगत , स्तुतिरतो जिन! ते गतरोगतः ।।

बुधेति - **हे जिन! हे अर्हन्! भवरोगतो भव एव रोगस्तस्मात् जन्मजरामरणरूपससाररोगात् नितरामत्यन्तं सभयता भीरुतां गतः प्राप्तः। बुधनुतो बुधैर्विद्वद्भिर्नुत स्तुतः सुधी सुबुद्धि स मुनिप्रवरो मुनिश्रेष्ठ। तनुरोगत शरीररोगाद् न हि बिभेति त्रस्यति। गतरोगतो रोगरहितस्य ते तव स्तुतौ स्तवने रतो लीनो भवतीति शेषः।।६७।।**

अर्थ - हे जिन! जन्मजरामरणरूपससार सम्बन्धी रोग से अत्यन्त भय को प्राप्त, बुधस्तुत श्रेष्ठ मुनि शरीरसम्बन्धी रोग से भयभीत नहीं होता। वह तो रोगरहित होने से आपकी भक्ति मे लीन रहता है ।।६७।।

[६८]

विधिदलाः बहुदुःखकरामया, बहव आहुरपीह निरामयाः ।
अशुचिधामनि चैव निसर्गतः, क्षरणमेव विधेरुपसर्गतः ।।

विधीति - निसर्गत स्वभावादेव अशुचिधामनि अपवित्रास्थाने इह शरीरे बहवो

भूयामो बहुदु खकगमया प्रचुरदु खकारिरोगा. विधिदला· कर्मसमूहा. सन्ति। इति निरामया रोगरहिता जिना आहु कथयन्ति। अत उपसर्गत उत्पातात् विधेः कर्मण क्षरण निर्जरणमेव भवति ।।६८।।

अर्थ - स्वभाव से ही अपवित्रता के स्थानभूत इस शरीर मे अनेक दु खप्रद रोगों को करने वाले कर्मसमूह विद्यमान है, ऐसा रोगरहित जिनेन्द्र भगवान् कहते है। उपसर्ग से तो कर्म की निर्जरा ही होती है ।।६८।।

[६९]

सुरभिचंदनलेपनरञ्जनात्, विरहितोऽपि सुधी र्मुनिरञ्जनात् ।
अनघभेषजकं तु विधेयक, भजतु रोगलयाय विधेऽयकम् ।।

गुरभीति - **अयकम् एष सुधी प्रज्ञावान् मुनि सुरभिचन्दनलेपनरञ्जनात् सुरभिचन्दनस्य सुगन्धिमलयजस्य लेपनेन यद रञ्जनं रागस्तस्मात्। अञ्जनात् नयनकज्जलाद् विरहितोऽपि रोगलयाय रोगविनाशाय विधेयक कर्तुंयोग्यम् अनघभेषजकं निर्दोषौषध भजतु सेवताम् हे विधे! इति सम्बोधनम् ।।६९।।**

अर्थ - ह विधे! यह विवकवान् मुनि, सुगन्धित चन्दन के विलेपनरूप अङ्गराग तथा नेत्रो के कज्जल से रहित होने पर रोग का नाश करने के लिये योग्य निर्दोष औषध का सेवन कर सकता है।।६९।।

[७०]

ध्रुवममु मुनिना भजतामित, सुकृतज निजकं स्ववता मितम् ।
प्रणिहित बहुना किमु सादर, विजहत श्रय त सहसा दरम् ।।

ध्रुवमिति **ध्रुव नित्य निजक स्वात्मान स्ववता सुष्ठु प्रकारेण अवता सरक्षता, अमु रोगपरिषह भजता प्राप्नुवता ततश्च सकृतज पुण्योद्भूत मित स्वर्गादिजमल्पं पुनश्च अमित सीमातीत निजकमात्मसुख भजता सेवमानेन मुनिना प्रणिहित धृत अमु त रोगपरिषह सादर यथा स्यात्तथा श्रय प्राप्नुहि। त प्रसिद्ध दर भय सहसा झटिति विजहत त्यजत। बहुना किमु? अधिककथनेन कि प्रयोजनम्? ।।७०।।**

अर्थ - ध्रुव-नित्य निज आत्मा की रक्षा करते, इस रोगपरिषह को सहते और उसके फल स्वरूप पुण्य से उत्पन्न स्वर्गादिक के मित-सीमित तथा अमित-अपरिमित आत्मसुख को प्राप्त होने वाले मुनि ने जिसे धारण किया है-सहन किया है उस रोगपरिषह को आदरसहित सहन कर और प्रसिद्ध भय को नष्ट कर। अधिक कहने से क्या प्रयोजन है?।।७०।।

यदि तृणं पदयोश्च निरन्तर, तुदति लाति गतौ मुनिरन्तरम् ।
तदुदितं व्यसनं सहतेऽञ्जसा—हमपि सच्च सहे मतितेजसा।।

यदीति - **यदि चेत् तृण कण्टकादिकं पदयोश्चरणयोर्निरन्तरं सतत तुदति पीडयति। गतौ गमनेऽन्तर व्यवधानं लाति ददाति करोतीत्यर्थः तर्हि मुनिस्तदुदितं तृणादिजन्यं व्यसनं दुःखम् अञ्जसा याथार्थ्येन सहते। अहमपि मतितेजसा ज्ञानप्रतापेन तच्च तृणादिस्पर्शजन्य व्यसनं सहे संवेद्मि ।।७१।।**

अर्थ - यदि कण्टकादि तृण पैरो मे निरन्तर पीडा करता है और गति मे अन्तर—व्यवधान लाता है तो मुनि उससे उत्पन्न कष्ट को वास्तव मे सहन करते है।मै भी भेदज्ञान के प्रताप मे उस विद्यमान कष्ट को सहन करता हूं।।७१।।

[७२]

विकचपुष्पचया विलसन्ति ते, परिवृता अलिभिस्त्विह सन्ति तैः ।
विषमशूलतृणादिहता विधे ! ह्यविकला न चला सुगता विधे ।।

विकचेति - **हे विधे! हे ब्रह्मन्! इह जगति तैः प्रसिद्धैः सुगन्धग्राहिभिः अलिभिर्भ्रमरैः परिवृता परीताः विकचपुष्पचया विकसितपुष्पसमूहा विलसन्ति शोभन्ते। तु किन्तु ते विषमशूलतृणादिहता तीक्ष्णकण्टकतृणप्रभृतिविद्धा अपि हि निश्चयेन अविकला अव्यग्रा प्रसन्ना इति यावत् सन्ति विद्यन्ते सुगता सुष्ठु गतं येषां ते स्वप्रमुदिता ते विधे स्वकार्यात् चला च्युता न सन्ति। यदा सुकोमला पुष्पसमूहा अपि कण्ठकादिविद्धा सन्तो विहसन्ति तदास्माकं कठिनतनूना का वार्तेति भावः ।।७२।।**

अर्थ - तृणस्पर्श आदि की बाधा उपस्थित होने पर मुनि विचार करते है कि हे ब्रह्मन्! इस जगत् मे सुगन्धलोभी भ्रमरो से घिरे जो विकसित पुष्पो के समूह सुशोभित हो रहे है वे विषम कण्टक तथा तृण आदि से आहत—विद्ध होकर भी दुःखी नहीं होते है और न अपने कार्य से विचलित होते है ।।७२।।

[७३]

विचरणे शयनासनयोः सतः, सुखमुदेति सुखात् मृगयो! षतः ।
शमसुखोदधिरेव विरागतः, स्वकवते जगते बहिरागतः ।।

विचरण इति - **हे मृगयो! हे ब्रह्मन्! 'मृगयुर्ब्रह्मणि प्रोक्त' इति विश्वलोचनः। षतो गच्छतः सतः साधोः 'सत् साधौ विद्यमानेऽपि' इति विश्वलोचनः विचरणे विहारे शयनासनयोः शयनं चासनं च तयोः सुखात् सुखमुदेति प्रतिक्षण**

सुखमेवोत्पद्यत इति यावत्। विरागतो वैराग्यभावात् शमसुखोदधिशान्तिसुखसागर एव। अकवते दुखिने जगते लोकाय बहिरागत बहि प्रकटितः। साधोरन्तरात्मनि यत्प्रशमसुखसागरो वर्तते स दुखिजनत् सुखीकर्तुमिव बहिरागच्छतीति भाव ।।७४।।

अर्थ - हे ब्रह्मन्! विहार करने वाले साधु के विहार, शयन और आसन मे सुख मे सुख ही उत्पन्न होता रहता है अर्थात् कष्ट होने पर भी उनकी प्रसन्नता स्थिर रहती है। ऐसा जान पडता है मानो उनके भीतर जो शम और सुख का सागर लहरा रहा है वह विरागता के कारण दु खी ससार को सुखी करने के लिये ही बाहर आ गया है। ।।७३।।

[७४]

यदि कदाचिदतो हृदि जायते, वपुषि चाकुलता विधिजा यते ।
न हि विना यदनेन विसातन, त्विति विधे समयेऽन्यदसाधनम् ।।

यदीति - **यदि कदाचिन् जातुचित् यते साधो हृदि मनसि वपुषि शरीरे च विधिजा कर्मभवा आकुलता वेदना जायते समुत्पद्यते तदा स एव चिन्तयति यत् अनेन परिषहेण विना विधे कर्मणो विसातन निर्जरण न हि भवति। समये शास्त्रे अन्यत् परिषहजयात् भिन्नम् असाधनमहेतुर्निर्जराया इति यावत्। एव चिन्तयित्वा स मनसो वपुषश्च पीडा निवारयति ।।७४।।**

अर्थ - यदि कदाचित् मुनि के हृदय और शरीर मे कर्मोदय से समुत्पन्न आकुलता होती है तो वह इस प्रकार चिन्तवन करता है कि परिषह के बिना कर्म की निर्जरा नहीं होती। आगम मे इसके अतिरिक्त अन्य को निर्जरा का असाधन कहा है।।७४।।

[७५]

परिमल गुणवन्निजभावि त-दचलवस्तु मया किल भावितम् ।
मलमल कि ततोऽत्र भवस्तुत! मुनिनुत शुचिवस्तु तु वस्तुत ।।

परिमलमिति - **यद् गुणवत् नैकगुणसपन्न निजभाविस्वभावसहितं मया मुनिना भावित भावनाविषयीकृत चिन्तितमित्यर्थ. अचलवस्तु अविनश्वरपदार्थ आत्मेति यावत् तदेव किल निश्चयेन परिमल चित्तहारिगन्धविशेष 'भवेत्परिमलश्चित्तहारिगन्धविमर्दयो' इति विश्वलोचन। ततस्तस्मात् कारणात् हे भवस्तुत ! हे लोकस्तुत! अत्र वपुषि मल मलीमसत्वम् अल व्यर्थम् मलचिन्ता न विधेयेति यावत्। तु किन्तु वस्तुत परमार्थत मुनिस्तुत यतिजनस्तुतम् वस्तु**

आत्मवस्त्वेव शुचि निर्मलं पवित्रं वा अस्तीति शेषः ।।७५।।

अर्थ - जो ज्ञानादि गुणो से सहित है, निजभाव से युक्त है और मै जिसकी निरन्तर भावना करता हू वह अविनाशी आत्मवस्तु ही निश्चय से मनोहारी सुगन्ध है। हे भवस्तुत! हे सर्वलोकवन्दित भगवन्! इस शरीर पर जो मल-मैल सलग्न है वह व्यर्थ है- उसकी क्या चिन्ता करना है परमार्थ से मुनियो के द्वारा स्तुत आत्मरूप वस्तु ही शुचि--पवित्र है।।७५।।

[७६]

पलमलैर्निचिता धिगचेतना, प्रकृतितो दुरभेश्च निकेतना ।
मलजनीस्तनुरीशविभाषिता, तदनुगा तु सतोऽपि विभा सिता ।।

पलेति - **ईश विभाषिता ईशेन वीतरागसर्वज्ञदेवेन भाषिता कथिता। इयं तनु शरीर पलमलै मांसमलै निचिता व्याप्ता। अचेतना चैतन्यरहिता। प्रकृतितो निसर्गात् दुरभे दुर्गन्धस्य निकेतना वसतिः। मलजनी मलोत्पादिका अस्तीति शेषः। तथाभूता तनुं धिगस्तु। तदनुगा शरीरानुगामिनी सतोऽपि साधोरपि विभा दीप्तिः प्रतिष्ठेति यावत् सिता समाप्ता 'सित श्वेतसमाप्तयो' इति विश्वलोचन। शरीराद्विरक्तबुद्धिरेव साधुर्मल परिषह जेतुं शक्नोतीति भाव ।।७६।।**

अर्थ - भगवज्जिनेन्द्र के द्वारा जिसका स्वरूप कहा गया है ऐसा यह शरीर मास और मैल से व्याप्त है, अचेतन है, स्वभाव मे दुर्गन्ध का घर है और मल को उत्पन्न करने वाला है ऐसे शरीर को धिक्कार हो। इस शरीर का अनुगमन करने वाली साधु की विभा--दीप्ति--प्रतिष्ठा भी समाप्त हो जाती है ।।७६।।

[७७]

कतपनाङ्गजरञ्जितदेहक, सहरजोमलको गतदेहक! ।
मलपरीषहजित् स्वसुधारक, विरसपादपभावसुधारक ।।

कतपनेति - **हे गतदेहक! गतो नष्टो देहो यस्य तत्सम्बुद्धौ हे गतदेहक! हे सिद्धपरमेष्ठिन्! कतपनाङ्गजरञ्जितदेहकः कः सूर्यस्तस्य तपनेन संतापेन समुत्पन्नो योऽङ्गज स्वेदस्तेन रञ्जितो देहो यस्य तथाभूतः। सहरजोमलकः रजोमलाभ्यां सह विद्यते सहरजोमलकः। धूलिधूसरितशरीरः। स्वसुधारकः स्व आत्मैव सुधा पीयूषं तां राति गृह्णातीति स्वसुधारः तथाभूत क आत्मा यस्य स। अथवा स्वसुधार एव स्वसुधारकः स्वार्थे कः। विरसपादपभावसुधारक विरसः शुष्को यः पादपो वृक्षः तस्मिन्निव भावस्य परिणामस्य सुधारको धारणकर्ता शरीर शुष्कवृक्षमिव यो मन्यत इत्यर्थ । एवंभूतः साधुः**

मलपरीषहजित् मलपरिषह जयतीति तथाभूतो भवतीति शेष।।७७।।

अर्थ - हे सिद्धभगवन्! जिसका शरीर सूर्य के संताप से उत्पन्न पसीना से युक्त है, जो धूलि और मल से सहित है, आत्मसुधा का पान करने वाला है और जो शरीर को सूखे वृक्ष के समान समझ रहा है ऐसा साधु ही मलपरीषह को जीतने वाला होता है।।७७।।

[७८]

बलयुतोऽपि मुनि स्वतनोर्मलं, न हि निवारयति ह्यतनोऽमल!
चिति चिदस्मि सदास्तु मले मलं, वदति तत्कमलं कमलेऽमलम् ।।

बलेति - हे अतनो! नास्ति तनु शरीर यस्य तत्सम्बुद्धौ। हे अमल! नास्ति मलं यस्य तत्सम्बुद्धौ। हे शरीररहित! हे मलरहितपरमात्मन्! मुनि साधुर्बलयुतोऽपि शक्तिसम्पन्नोऽपि स्वतनो निजशरीरस्य मल कच्चर न हि निवारयति निराकरोति । स विचारयति यथाह चिदस्मि चिद्रूपोऽस्मि चिति ज्ञानदर्शनस्वरूपे स्वात्मनि निवसामि तथा मलमपि सदा मलेऽस्तु तदात्मरूप भवितु नार्हतीति। तद् रहस्य कमले वसत् अमल कमल वदति कथयति। यथा निश्चयत कमल कमले कमलात्मनि निवसति व्यवहारत कमले जले निवसति तथा पौद्गलिकं मल पौद्गलिके शरीरे वसति चेतनश्च चेतने निवसति व्यवहारत शरीरे निवसति।अत मलं पौद्गलिक विदित्वा तत्र द्वेषबुद्धिर्न कार्येति भाव।।७८।।

अर्थ - हे अशरीर! निर्मल! परमात्मन्! मुनि, बल सहित होने पर भी शरीर का मैल दूर नहीं करते हैं। वे विचार करते है कि मै चैतन्यरूप हू तथा चैतन्य मे ही निवास करता हू। इसी प्रकार मैल,मैल मे रहता है आत्मा मे नहीं। यह रहस्य कमल मे रहने वाला निर्मल कमल बताता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार परमार्थ मे निर्मल कमल कमल मे रहता है और व्यवहार से जल मे रहता है उसी प्रकार पौद्गलिक मैल पौद्गलिक शरीर मे रहता है आत्मा मे नहीं, अत मुनिराज उसे दूर करने का विचार नहीं करते ।।७८।।

[७९]

विनयशसनपूजनकादरमलभमानमुनि ह्यनिरादरः ।
अविरतैर्व्रतिभिर्मदभावत—श्च्युतविकारललाटविभावतः ।।

विनयेति - मदभावतो मदस्य गर्वस्य भावो मदभावस्तस्मात् अविरतैरसयमिभि व्रतिभि सयमिभिश्च विनयशंसनपूजनकादर विनयश्च शसन च स्तवनं च, पूजनक चार्चनं

च आदरश्च सन्मानश्च, एषां समाहारस्तत् अलभमानमुनिः अलभमानश्चासौ मुनिश्चेत्यलभमानमुनिः विनयादिकमलभमानो मुनिः। च्युतविकारललाटविभावतः विकारेण क्रोधादिजन्येन ललाटविभावो निटिलविकारः च्युतो दूरीभूतो विकारललाटविभावो यस्य तस्मात् तसिलन्तप्रयोगः। हि निश्चयेन अनिरादरो नास्ति निरादरो यस्य तथाभूतः 'अहमेतैः र्निरादृतोऽस्मि' इति भावनारहितो भवति। गर्वातिरेकात्कश्चिद् व्रती अव्रती वा यदा मुनेर्विनयादिकं न करोति तदा स रुष्टो भूत्वा ललाटं भ्रुकुट्यादिना विकृतं न करोतीति भावः ।।७९।।

अर्थ - अहकार के कारण अव्रती तथा व्रतीजनो के द्वारा विनय, स्तुति, पूजन एव आदर को प्राप्त न होने वाला मुनि अपने आपका अनादर नहीं मानता और न क्रोध आदि से ललाट के ऊपर कोई विकार प्रकट करता है ।।७९।।

[८०]

जगति सत्त्वदलः सकलश्चलः, परिमलो विकलः सकलोऽचलः।
समगुणैर्भरितो मत आर्य! ते, गुरुरयं स लघुर्न्ववधार्यते ।।

जगतीति - हे आर्य! हे भगवन्! ते तव मते सिद्धान्ते जगति भुवने चलः चलनशील, अचलः स्थावरः परिमलः सौगन्ध्ययुक्तः, विकलः कलाहीनः, सकलः कलासहित इत्थं सकलः समस्तः सत्त्वदलः प्राणिसमूहः समगुणैः द्रव्यार्थिकनयेन तुल्यगुणैः भरितो विद्यत इति शेषः। अतोऽयं गुरुः स लघुः इति नु कथं अवधार्यते निश्चीयते? गुणैः समानत्वेऽयं नमस्कार्योऽयञ्च नमस्कर्तेति कथं निर्धार्यते? अतः केन चिन्नमस्काराद्यभावे मुनिना रोषो न कर्तव्य इति भावः ।।८०।।

अर्थ - हे आर्य ! आपके मत मे त्रस स्थावर, सुगन्धित, कलाहीन और कलासहित - सभी प्राणि समूह (द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा) समान गुणो से परिपूर्ण है, अतः 'यह गुरु है और वह लघु है' यह कैसे निश्चित किया जाय ?।।८०।।

[८१]

यदि यदा विनये मिलिते सति, मदमिता न मतिः सुमते सती ।
निजकगर्भगताखिलमानता, प्रलयकाय तु दक्षतमा नता ।।

यदीति - विनये समादरे मिलिते प्राप्ते सति यदा यस्मिन् काले मतिः साधो बुद्धिः मदं गर्वं न इता न प्राप्ता किन्तु सुमते शोभनसिद्धान्ते सती विद्यमाना भवति तर्हि तदा सा श्रेष्ठा कथ्यते।निजकगर्भगताखिलमानता निजकस्य स्वात्मनो गर्भं गता प्राप्ताः अखिला ज्ञानपूजादिसमुत्पन्ना सर्वे माना अहकारा यस्य तस्य भावः,प्रलयकायविनाशाय

भवतीति शेष । अहकारवृत्तिर्विनाशकरी भवतीति भाव.। तु किन्तु नता नम्रीभूता धीर्वृत्तिर्वा दक्षतमा अतिशयकुशला श्रेष्ठकरयाणकारिणी भवतीति तात्पर्यम् ।।८१।।

अर्थ - विनय के प्राप्त होने पर यदि साधु की बुद्धि मद को प्राप्त नहीं होती, किन्तु सुमते–उत्तम मत मे रहती है तो वह श्रेष्ठ है। अपने आप में समस्त अभिमानो–ज्ञान-पूजा-कुलजाति आदि से उत्पन होने वाले मान का रहना प्रलय–विनाश के लिये होता है। इसके विपरीत नम्रवृत्ति अथवा बुद्धि अत्यन्त श्रेष्ठ होती है।।८१।।

[८२]

गणधरैः प्रणतोऽस्ति यदा स्वयं, समितिषूपरतः सुखदास्वयम् ।
किमु तदाप्यसता प्रणते र्नुते, रिति वदन्ति बुधा सुमते, नु ते ।।

गणधरैरिति यदा सुखदासु सौख्यदायिनीषु समितिषु समवसरणादिसभासु, उपरतो लीनोऽय मुनि स्वय साक्षात् गणधरैर्गणनायकै प्रणतोऽस्ति नमस्कृतोऽस्ति तदा असतां असत्पुरुषाणा प्रणते र्नमस्कृते नुते स्तुते किमु कि प्रयोजनमस्तीति शेष ? इति ते तव सुमते श्रेष्ठधर्मे बुधा विद्वान्सो वदन्ति कथयन्ति। श्रेष्ठजनकृतनमस्कारे प्राप्ते हीनजनकृतनमस्काराभाव साधुना रोषो न कर्तव्य इति भाव ।।८२।।

अर्थ - सुखदायक समवसरणादि सभाओ मे बैठने वाला मुनि जब गणधरो के द्वारा साक्षात् नमस्कार को प्राप्त होता है तब उसे अन्य असत् पुरुषो के नमन और स्तवन से क्या प्रयोजन है ? ऐसा हे भगवन्! आपके श्रेष्ठ मत मे विद्वान् कहते है।।८२।।

[८३]

बुधनुता जिनशास्त्रविशारदा, वसति यद् वदने शुचिशारदा।
अकवते जगतेऽमृतसारदा, गतमदाऽसुमतोडुकशारदा।।८३।।

बुधेति - यद्वदने यस्य वदन मुख तस्मिन् बुधनुता विद्वत्स्तुता जिनशास्त्रविशारदा जिनशास्त्रेषु विशारदा निपुणा। अकवते दुखवते पापयुताय व जगते लोकाय। अमृत सारदा अमृत पीयूष मोक्षो वा तदेवसारस्त ददातीति तथाभूता गतमदा गतो नष्टो मदो गर्वो ययान्येषा सा। असुमतोडुकशारदा न सुमतानि असुमतानि दुर्मतानि तान्येव उडुकानि नक्षत्राणि तेषा प्रभावहानिकरी शारदा चन्द्रस्तद्रूपा शुचिशारदा पवित्रसरस्वती पूर्वापरविरोधरहिता जिनवाणी वसति निवसति स एव विद्वान् अस्तीति शेष ।।८३।।

अर्थ - विद्वानो के द्वारा स्तुत, जिनशास्त्रो मे निपुण, पाप अथवा दुखयुक्त जगत् के लिये अमृत अथवा मोक्षरूपी सार को देने वाली, अन्यवादियो का गर्व नष्ट

करने वाली तथा दुर्गतरूप नक्षत्रो के मध्य चन्द्रमा के समान शोभायमान पवित्र जिनवाणी जिसके मुख मे निवास करती है वही विद्वान् है।।८३।।

[८४]

समय! यावददो न! हि केवलं, ह्युदयतीह तरां न हि केवलम् ।
त्वमसि तावदहो ननु मानतः, शृणु लघुश्च तदा किमु मानत ।।

समयेति - अहो न! हे पूज्य! हे समय! समयो विद्यते यस्य स समयस्तत्सम्बद्धौ, अशदिराकृतिगणत्वान्मतुत्वर्थे अप्रत्यय आचार विद्! ज्ञान विद्! सिद्धान्तविद्' 'नकारौ जिन पूज्ययो' इति विश्वलोचन 'समया शपथाचारकालसिद्धान्तसविद' इत्यमरः। हि निश्चयेन यावत् केवलमद्वितीय अदो लोकालोकावभासक तत् केवल केवलज्ञानं नहि उदयनितराम् नोत्पद्यते तावत् त्व ननु निश्चयेन मानतो ज्ञानात् लघुर्हीनोऽसि। तदा मानतोऽभिमानात् किमु किं प्रयोजनम्। इति शृणु समाकर्णय केवलज्ञानात्पूर्व सर्वेऽज्ञानिन सन्ति ततस्तुच्छज्ञानस्य गर्वो न करणीय इति भाव ।।८४।।

अर्थ - हे पूज्य! हे सिद्धान्त के ज्ञाता! जब तक लोकालोक को प्रकाशित करने वाला यह अद्वितीय केवलज्ञान उदित नहीं होता है तब तक तुम ज्ञान मे लघु-हीन ही हो अत मान गर्व करने से क्या प्रयोजन है? इसे सुनो ।।८४।।

[८५]

स्वसमयस्य सतोऽप्यनुवादक, समययुक्तितया जितवादक ।
परिवदेन्न मुनिर्मनसाक्षर—मसि निरक्षर एष तु साक्षरः ।।

स्वसमयेति - सत श्रेष्ठस्य स्वसमयस्य स्वकीयसिद्धान्तस्य। अनुवादकोऽपि भाषान्तरकर्तापि समययुक्तितया आगमयुक्तिकौशलेन जितवादकोऽपि जिता वादा येन तथाभूतोऽपि सन् मुनि मनसा चेतसा इत्यक्षर न परिवदेत कथयेत् यत् त्व निरक्षरोऽसि मूर्खोऽसि, एष तु साक्षरोऽस्ति विज्ञोऽस्ति ।।८५।।

अर्थ - श्रेष्ठ सिद्धान्त का अनुवादक तथा आगम और युक्ति के द्वारा वादो—शास्त्रार्थो को जीतने वाला होकर भी मुनि मन मे यह शब्द न कहे कि तू मूर्ख है और यह विद्वान्।।८५।।

[८६]

विनयतो जितबोधपरीषह, श्रुतविदा जितचित्तकारी सह ।
दिशतु मे सुमतिं तु जिनालय [illegible] जगता [illegible] विगाधु [illegible]णा नय ।।

विनयत इति - विनयतो विनयात् जितबोधपरीषहः जितो बोधपरीषहः प्रज्ञापरीषहो येन तथाभूतः। श्रुतविद्‌ा शास्त्रज्ञेन सह सार्धं जितचित्तकरी जितश्चित्तमेव करी गजो येन तथाभूत। जिनालय जिने आलयो लीनता यस्य तथाभूतः साधुगुणालयः साधोर्गुणा अष्टाविंशतिसंख्यका मूलगुणा चतुरशीतिलक्षप्रमिता उत्तरगुणाश्च तेषामालय स्थानम् स साधु मे मह्यं सुमति सुबुद्धिं दिशतु। भुवि मह्यां स जयतात् जययुक्तो भवतु च ।।८६।।

अर्थ - जिसने प्रज्ञापरिषह को जीत लिया है, जिनने शास्त्रज्ञ मुनि के साथ मनरूपी हाथी को वश किया है, जो जिनेन्द्र भगवान् में लीनता को प्राप्त है तथा साधु के मूलोत्तरगुणों का स्थान है वह साधु मेरे लिये सुबुद्धि प्रदान करे तथा उनकी जय हो।।८६।।

[८७]

परिषहोऽस्तु निजानुभवि श्रुत, ह्यपि मितं शिवदं बुधविश्रुतम् ।
बहुतरं तु तृण सहसाप्यलं, दहति चाग्निकणी भुवि साप्यलम् ।।

परीति - परिषहोऽज्ञानपरिषहो भवतु नाम। तु किन्तु बुधविश्रुत विद्वज्जनप्रसिद्ध निजानुभवि आत्मानुभवसहित मित सीमितमपि श्रुत शास्त्रज्ञान शिवदं मुक्तिप्रदं भवतीति शेष। तदेवोदाह्रियते - भुवि पृथिव्या सा प्रसिद्धा अग्निकणी अग्निकणानां समाहार इत्यग्निकणी अनलस्फुलिङ्गसमूह। बहुतर विपुलप्रमाणमपि तृण सहसापि झटित्यपि अल पर्याप्तरूपेण दहति भस्मीकरोति। अल्पश्रुतज्ञानतया बहुज्ञानिभिस्तिरस्कारे कृतेऽपि खेदो न कर्तव्य इति भाव ।।८७।।

अर्थ - अल्पश्रुतज्ञानपरिषह भले ही रहे परन्तु आत्मानुभव से सहित, विद्वज्जनप्रसिद्ध सीमित श्रुतज्ञान भी मोक्ष प्रदान करने वाला है, क्योंकि पृथिवी पर प्रसिद्ध अग्निकणों का समूह भी विपुल तृणों को शीघ्र ही भस्म कर देता है ।।८७।।

[८८]

व्रतवता प्रचुर समयो गत , पिहितखेन मयाजितयोगत ।
मयि न बोधरवि र्ह्यभवोदित, इति चलो भव मा समबोधितः ।।

व्रतेति - हे अभव! नास्ति भवो यस्य तत्सम्बुद्धौ हे संसारातीत! व्रतवता व्रतधारिणा, पिहितखेन पिहितानि खानीन्द्रियाणि येन तेन जितेन्द्रियेण मया अजितयोगत अपराजितध्यानेन प्रचुरो भूयान् समयः कालो गतो व्यतीतः। तथापि मयि बोधरवि ज्ञानसूर्यो नोदितो न प्रकटित इतीत्थं विचार्य समबोधित-समरत्नत्रयात् चलो

विचलितो मा भव न भूयाः । चिरं तपस्यतोऽपि ममाद्यावधि विशिष्टं ज्ञानं न जातमिति विचार्य साधुना चञ्चलचेतसा न भवितव्यमित्यर्थः ।।८८।।

अर्थ - हे अभव! हे संसारातीत! व्रतधारण करने वाले मुझ जितेन्द्रिय ने अविचलित ध्यान से बहुत समय व्यतीत किया है फिर भी मुझमे ज्ञानरूपी सूर्य उदित नहीं हुआ ऐसा विचारकर समीचीन रत्नत्रय से विचलित न होओ ।।८८।।

[८९]

असि कुधीर्महसा वचसा नया, ह्युपकृता जगती त्वयि सा नया।
तव मति र्न हि वित्पयसा धुता, त्विति वचः सहतां किमु साधुता ।।

असीति - अयि साधो! त्व कुधीः कुत्सिता धीर्यस्य तथाभूतो दुर्बुद्धिरसि। अनया कुधिया त्वया महसा तेजसा वचसा वचनेन अनया न विद्यन्ते नया यस्यां तथाभूता नयविज्ञानरहिता सा जगती भूमिः हि निश्चयेन नोपकृता नानुगृहीता। अथवा अनयैर्मिथ्यानयैः सहिता जगती त्वया नोपकृता। तव मतिः बुद्धिः वित्पयसा ज्ञानजलेन न धुता न प्रक्षालिता। तव साधुता साधोर्भावः कर्म वा साधुता किमु? कापि न, व्यर्थेत्यर्थः इतीत्थं वचः सहता तिरस्कारवचनं श्रुत्वा रोषं मा कार्षीरिति भावः। तु शब्दौ पादपूर्त्यर्थौ।।८९।।

अर्थ - अयि साधो! हे मुने! 'तू दुर्बुद्धि है, इस दुर्बुद्धि के कारण तूने अपने वचन और तेज से नयविज्ञानशून्य पृथिवी को उपकृत नहीं किया अर्थात् उसे उपदेश देकर अनुगृहीत नहीं किया। वास्तव मे तेरी बुद्धि ज्ञानरूपी जल से धुली नहीं है। तेरा साधुपन क्या है? कुछ भी नहीं' इस प्रकार के वचनो को सहन कर।

भावार्थ - अज्ञान के कारण यदि कोई तिरस्कार के वचन कहता है तो उसे सुन खेद मत कर ।।८९।।

[९०]

समुपयोगवती मम वा सुधी! गुणविभासु रता तु शिवासु धीः ।
कथमहं तु तदास्मि कुधीरतः, परिषहं सहते न्विति धीरतः ।।

समुपेति - 'त्व कुधीरसि' इत्यादि श्रुत्वा यो रोषेण प्रज्वलितो भवति स किं परिषहं सहतेऽपि तु नेत्याह - वाथवा स्वं कुधियं श्रुत्वा रोषेणोत्तरं ददाति-अये सुधीः!हे विद्वन्मन्य! मम धीः बुद्धिः समुपयोगवती समीचीनोपयोगसहिता वर्तते। शिवासु कल्याणरूपासु गुणविभासु गुणदीप्तिषु च रता लीनास्ति चेत्तदा कथमहं कुधीरतः कुबुद्ध्यासक्तोऽस्मि। इति प्रत्युत्तरं ददाति चेत् स धीरतः धैर्येण परिषहम् अज्ञानपरिषहं

सहते नु? अपि तु न सहते। विरुद्धवाच श्रुत्वा यो रुष्टो न भवति स एव परिषहविजयी भवतीति भाव ।।९०।।

अर्थ - 'तू कुधी है - मूर्ख है' इत्यादि दुर्वचन सुनकर जो कुपित हो प्रत्युत्तर देता है वह परिषहविजयी नहीं है, यह कहते है–हे सुधीः! हे विद्वन्मन्य! मेरी बुद्धि समीचीन उपयोग से सहित है और कल्याणकारिणी गुणो की दीप्ति मे लीन है, तब मै कुधी कैसे हू। इस प्रकार जो उत्तर देता है वह क्या धीरता से अज्ञानपरिषह को सहता है? अर्थात् नहीं सहता ।।९०।।

[९१]

मम विदावरणेन तिरोहितं, शुचिबलं यदनेन गिरोहितम् ।
सुरजसा कलित शुचिदर्शनम्, झटिति फूत्करणात् जिन! दर्शनम् ।।

ममेति - हे जिन! मम मुने. यत् शुचिबलं निर्मलज्ञातृत्वशक्ति विदावरणेन ज्ञानावरणेन तिरोहितमन्तर्हितं तदेव अनेन कटुकभाषणेन गिरा वाण्या ऊहितं तर्कितं। ज्ञानावरणेन तिरोहितं मम ज्ञानमनेन स्ववाण्या चर्चितम् हीनमस्तीति चर्चाविषयीकृतम्। तदेवोदाहियते-सुरजसा शोभनपरागेण कलितं सहितं दर्शन दर्पणं 'दर्शनं दृशि दर्पणे' इति विश्वलोचनः। फूत्करणात् मुखेन फूत्करणात् शुचिदर्शनं शुचि समुज्ज्वलं दर्शनमवलोकनं यस्य तथाभूतं भवति। यथा फूत्करणाद् रजोऽपनयने सति दर्पणं झटिति निर्मल भवति तथैतत्कटुकवाण्या ज्ञानावरणनिर्जरणेन मम ज्ञानं समुज्ज्वलं भविष्यतीति विचार्य चेतसि खेदो न करणीय इति भाव ।।९१।।

अर्थ - हे जिन! मेरा जो निर्मल बल अथवा ज्ञान, ज्ञानावरण कर्म के उदय से आच्छादित था। उसे इस निन्दक ने अपनी वाणी से प्रकट कर दिया है। उचित ही है क्योकि उत्तम रज से युक्त दर्पण फूकने से शीघ्र ही उज्ज्वल दिखने लगता है ।।९१।।

[९२]

मम गुणेष्वधुनापि न वृद्धयः, समुदिता मुदिता परिसिद्धयः ।
इति न गच्छति साधुरुदासतां, न हि विमुञ्चति तां गुरुदासताम्।।

ममेति - मम दीर्घ तपस्विनः गुणेषु ज्ञानादिषु अधुनापि भूयसि काले व्यतीतेऽपि वृद्धयः मुदिताः हर्षप्राप्ताः सिद्धय ऋद्धयो न समुदिताः न प्रकटिताः। इति विचार्य साधुः उदासता खिन्नमनस्कतां न गच्छति न हि निश्चयेन तां विरकृतां गुरुदासतां गुरुसेवां न हि विमुञ्चति न त्यजति। ऋद्धिसिद्धीनामभावे गुरुसेवाविरतो न भवतीति भावः ।।९२।।

अर्थ - इस समय भी–दीर्घ तपस्या के बाद भी मेरे ज्ञानादि गुणो मे न वृद्धियां

हुई और न हर्ष को बढ़ाने वाली सिद्धियां प्रकट हुईं। ऐसा विचार कर साधु उदासता को प्राप्त नहीं होता और न दीर्घकाल से चली आयी गुरुसेवा को छोड़ता है।।९२।।

[९३]

जगति नाप्यधुना यशसा सितः, स हि यमो जिनशासनशासितः।
निरतिशायि ततो जिनदर्शन—मिति न संशयितः समदर्शनः।।

जगतीति **हि यतः जिनशासनशासितः जिनमतोपदिष्टः स प्रसिद्धो यमः संयमो जगति भुवने अधुनापि साम्प्रतमपि यशसा कीर्त्या सितः शुक्लो निर्मलो वा न जातः। ततस्तस्मात् कारणात् जिनदर्शनं जिनशासनं निरतिशायि अतिशयरहितं वर्तते किम्? इति समदर्शनः सधर्मा संशयितः संशययुक्तो न भवतीति ।।९३।।**

अर्थ - जगत् मे जिनशास्त्रोपदिष्ट वह संयम इस समय भी यश से धवल नहीं हुआ। इस कारण जिनधर्म अतिशय से रहित है ऐसा समदर्शी मुनि को संशय नहीं करना चाहिये ।।९३।।

[९४]

करणमानसजं लघु वैहिकं, सुखमितं न मया किमु वै हि कम् ।
जिनपशासनमानविनाशनं, न हि करोति स एवमनाशन! ।।

करणेति - हे अनाशन! न विद्यते नाशनं यस्य तत्सम्बुद्धौ हे अविनश्वर! बाधवा मया दीर्घतपस्विना करणमानसजं इन्द्रियमनःसमुद्भूतं लघु तुच्छं ऐहिकं एतल्लोकसम्बन्धिसुखं सातं न इतं न प्राप्तं वै हि निश्चयेन कं मोक्षसम्बन्धि सुखं किमु प्राप्तम् अपि तु न प्राप्तम्। एवमित्थं स मुनिः ऋद्धिसिद्धिरहित इति यावत् जिनपशासनमानविनाशनं जिनपस्य जिनेन्द्रस्य शासनं तस्य मानस्य समादरस्य विनाशनं हानिं न हि करोति विदधाति ।।९४।।

अर्थ - हे अविनश्वर भगवन्! मैंने इन्द्रिय और मन से होने वाला थोड़ा भी लौकिक सुख प्राप्त नहीं किया फिर पारलौकिक सुख की तो बात ही क्या है? इस प्रकार विचार कर वह मुनि जिनशासन के सन्मान का नाश नहीं करता ।।९४।।

[९५]

जिनमतोन्नतितत्परजीवनं, विमलदर्शनवत् मदजीवनम् ।
भवतु वृत्तवतां खलु बार्पित— परिजयोऽस्तु मदैव समर्पितः ।।

जिनेति - **वृत्तवतां चारित्रयुतानां साधूनां जिनमतोन्नतितत्परजीवनं**

जिनमतस्योन्नतौ तत्परमिति जिनमतोन्नतितत्पर तच्च तज्जीवनं चेति तथाभूतं जिनमतप्रभावनाकरजीवनम्। विमलदर्शनवत् निर्दोषसम्यग्दर्शनसहितं नदजीवन महानदीजलमिव प्रगतिशीलं भवतु। एषोऽयम् अर्पितपरिजयो विवक्षितादर्शनपरिषहजयो वास्तु भवतु वा। एतत्कारण प्रदर्शयति यद् यस्मात् एष परिषहजयग्रन्थ समर्पित। मया साधुभ्य एष परिषहजयग्रन्थ समर्पितस्तेन तेषां जीवनं जिनमतोन्नतितत्परं निर्मलसम्यग्दर्शनसहितं महानदीजलमिव प्रगतिशीलं च भवतु अदर्शनपरिषहजयो वा निश्चयेन भवतु।।९५।।

अर्थ - यतश्च साधुओ के लिये यह परिषहजयग्रन्थ समर्पित है अत इसके फलस्वरूप उनका जीवन जिनधर्म की उन्नति मे तत्पर रहे, निर्मल सम्यग्दर्शन से सहित हो महानदी के जल के समान प्रगतिशील हो और निश्चय से अर्पित–विवक्षित अदर्शनपरिषह पर विजय प्राप्त करने वाला हो ।।९५।।

[९६]

सपदि सपदि संविदि वा सुखी, विपदि नो भुवि योऽविदि वाऽसुखी।
स हि परीषहकान् श्रयितुं क्षम, शुचितपश्च विधातुमिह क्षम ।।

सपदीति - परिषहान् सोढुं क समर्थ ? इति समाधातुमाह - यो मुनि भुवि पृथिव्या सपदि सपत्तौ सविदि वा संज्ञाने वा सुखी सुखसहित विपदि विपत्तौ अविदि अज्ञाने वा सपदि झटिति असुखी दुखयुक्तो न भवति हि निश्चयेन स परीषहकान् परीषहा एव परीषहकास्तान् स्वार्थे कप्रत्ययः श्रयितुं सेवितु सोढुमिति यावत् क्षम समर्थ इह जगति शुचितपश्च निर्मलतपश्चरण च विधातुं कर्तुं क्षम समर्थो भवति ।।९६।।

अर्थ - पृथिवी पर जो सपत्ति और सम्यग्ज्ञान मे सुखी तथा विपत्ति और अज्ञान म शीघ्र ही दुखी नहीं होता, वही परीषहो को सहन करने मे समर्थ होता है आर वही निर्मल तप करने मे शक्त होता है ।।९६।।

[९७]

यमविहीनतपश्चरणेन किं, च्युतपरीषहतश्चरणेन किम् ।
ननु विना सुदृशा न हि संगतं, सकलमेनस एव वशंगतम् ।।

यमेति - यमेन संयमेन विहीन रहितं यत्तपश्चरणमनशनादिस्तेन किं प्रयोजनम्? च्युतपरीषहत. च्युता परीषहा यस्मात्तेन सार्वविभक्तिकस्तसिल् परीषहजयरहितेन चरणेन चारित्रेण किम् प्रयोजनम्? ननु निश्चयेन सुदृशा सम्यग्दर्शनेन विना संगत ज्ञानं न हि भवति। सकल समस्तं जगत् एनस पापस्यैव वशमधीनता गतं प्राप्तम्। 'वृजिनं

कलिलमेनः' इति धनंजयः ।।९७।।

अर्थ - सयमहीन तपश्चरण से क्या प्रयोजन है? परीषहविजय से रहित चारित्र से क्या प्रयोजन है? सम्यग्दर्शन के विना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। खेद है कि सकल जगत् पाप के वश हो रहा है ।।९७।।

[९८]

चर्याशय्यानिषद्यासु वान्यतमाऽस्तु चैकदा ।
शीतोष्णयोर्भवेत्तद्वदागमानुभवादिति ।।

चर्येति - **चर्या च शय्या च निषद्या चेति चर्याशय्यानिषद्यास्तासु एकदा एकस्मिन् काले अन्यतमा एकतमा अस्तु भवतु। एवं शीतोष्णयोर्मध्ये, तद्वत् अन्यतमो भवतु। इतीत्थ आगमात् अनुभवाच्च सिद्धम्। 'एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकान्नविंशतेः' इत्यागमः। अनुभवस्तु प्रत्यक्षसिद्ध एव ।।९८।।**

अर्थ - एक समय चर्या, शय्या और निषद्या मे से कोई एक तथा शीत और उष्ण मे से कोई एक परीषह होता है। यह आगम और अनुभव से सिद्ध है ।।९८।।

[९९]

दशपरीषहकाश्च नवाधिका, इति भवन्तु समं विधिबाधकाः ।
द्व्यधिकविंशतिका जिनसेविता, मम तु सन्त्वखिलास्तपसेऽहिताः ।।

दशेति - **विधिबाधका मुनिचर्याबाधकर्तारः नवाधिका दश परीषहकाः एकोनविंशतिसख्याका समं युगपद् भवन्तु। द्वाविंशतिपरीषहा अयुगपद् जिनसेविता जिनेनापि सेविता। मुनिचर्या काले इति भावः। साम्प्रतं तु जिने एकादशैव परिषहाः सन्ति तेऽपि मोहनीयाभावादकिंचित्करा एव भवन्ति। मम तु तपसे तपोऽनुष्ठाने अहिता बाधकराः अखिला अपि परीषहाः सन्ति ।।९९।।**

अर्थ - ऊपर लिखे अनुसार मुनिचर्या मे बाधा डालने वाले उन्नीस परिषह एक साथ हो सकते है। मुनि अवस्था मे जिनेन्द्र देव को भी बाईस परीषह सहन करने पड़े है। मेरे भी तप के लिये अहितकारी सभी परिषह है।।९९।।

[१००]

वै विषमयीमविद्यां विहाय ज्ञानसागरजां विद्याम् ।
सुधामेम्यात्मविद्यां नेच्छामि सुकृतजां भुवि द्याम् ।।

वै विषेति - **ग्रन्थकर्ता ग्रन्थकरणप्रयोजनं दर्शयति अहं वै निश्चयेन विषमयीं**

गरलमयीं अविद्यां विहाय मुक्त्वा ज्ञानसागरजां ज्ञानमेव सागरस्तस्मिन् जातं पक्षे ज्ञानसागर इति नामालंकृतो विद्यागुरुस्तस्माज्जाताम् आत्मविद्यां सुधां पीयूषम् एमि प्राप्नोमि। सुकृतजां पुण्योद्भूतां द्यां स्वर्गं नेच्छामि न वाञ्छामि।।१००।।

अर्थ - मै निश्चय से विषरूप अविद्या को छोडकर ज्ञानरूप सागर मे समुत्पन्न (पक्ष मे ज्ञानसागर गुरु से उत्पन्न) आत्मविद्यारूपी सुधा—अमृत को प्राप्त करता हूं। पृथिवी पर पुण्योदय से प्राप्त स्वर्ग की इच्छा नहीं करता हूं ।।१००।।

मङ्गलकामना

विभावतः सुदूराणां सन्ततिर्जयतात् तराम् ।
द्यामेत्य पुनरागत्य स्वानुभूतेः शिवं व्रजेत्।।१।।

विभावत इति - **विभावतो रागादिविकारभावात् सुदूराणाम् अतिदूरवर्तिना मुनीना सन्तति परम्परा जयतात्तराम् अतिशयेन जययुक्ता भवतु। सा सन्तति द्यां स्वर्गम्, एत्य प्राप्य पुन पश्चादागत्य स्वानुभूतेरात्मानुभूतिबलात् शिवं मोक्षं व्रजेत् गच्छेत् ।।१।।**

अर्थ - विकारभाव से अत्यन्त दूर रहने वाले साधुओ की परम्परा अत्यधिक जयवत रहे। वह स्वर्ग जाकर पश्चात् वहा से आकर स्वानुभूति से मोक्ष को प्राप्त करे।।१।।

साधुता सा पदं ह्येतु भूपतौ च जने जने।
गवि सर्वत्र शान्तिः स्यान्मदीया भावना सदा ।।२।।

साधुतेति - **हि निश्चयेन सा प्रसिद्धा साधुता सज्जनता भूपतौ राजनि जने जने च प्रत्येक मनुष्ये च पद स्थानं एतु प्राप्नोतु। गवि पृथिव्यां 'जगती गौर्वसुन्धरा' इति धनजयः। सर्वत्र सदा च शान्तिः क्षान्तिः स्यादिति मदीया मामकीना भावना वर्त्तत इति शेष ।।२।।**

अर्थ - वह प्रसिद्ध साधुता—सज्जनता राजा और प्रत्येक मनुष्य मे स्थान को प्राप्त हो तथा पृथिवी मे सर्वत्र शान्ति रहे, सदा ऐसी भावना रहती है ।।२।।

रेपवृत्तिं परित्यज्य ना नवनीतमार्दवम् ।
णलाभाय भजेद् भव्यो भक्त्या साकं भृशं सदा ।।३।।

रेषेति - **भव्यो ना नरः णलाभाय ज्ञानलाभाय 'णकारो निर्णये ज्ञाने' इति**

विश्वलोचनः भक्त्या सार्क सह सदा शश्वद् रेपवृत्तिं कठिनव्यवहारं परित्यज्य नवनीतमार्दवं नवनीतवत्कोमलतां भजेत् प्राप्नुयात् ।।३।।

अर्थ - भव्य मनुष्य, ज्ञानलाभ के लिये भक्ति के साथ सदा क्रूर व्यवहार को छोड़कर मक्खन के समान कोमलता को प्राप्त करें ।।३।।

विद्याब्धिना सुशिष्येण ज्ञानोदधेरलङ्कृतम्।
रसेनाध्यात्मपूर्णेन शतकं शिवदं शुभम् ।।४।।

विद्येति - **ज्ञानोदधेः ज्ञानसागरस्य सुशिष्येण श्रेष्ठान्तेवासिना विद्याब्धिना विद्यासागरेण अध्यात्मपूर्णेन अध्यात्मसंभृतेन रसेन अलंकृतं शोभितं शुभं कल्याणरूपं शिवद मोक्षद शतक शतं प्रमाणं यस्येति शतकं रचितमिति शेषः ।।४।।**

अर्थ - ज्ञानसागर गुरु के सुशिष्य विद्यासागर ने अध्यात्मपूर्ण रस से अलंकृत शुभ तथा कल्याणप्रद शतक की रचना की है ।।४।।

चित्ताकर्षि तथापि ज्ञैः पठनीयं विशोध्य तैः।
तं मन्ये पण्डितं योऽत्र गुणान्वेषी भवेद्भवे ।।५।।

चित्तेति - **यद्यपि शतकमिदं चित्ताकर्षि हृदयाकर्षकमस्ति तथापि ज्ञैः पाठकैः विशोध्य शुद्ध विधाय पठनीयं पठितव्यम्। अत्रास्मिन् भवे संसारे त नरं पण्डित पण्डा विवेकबुद्धि सजाता यस्य तं मन्ये यो गुणान्वेषी गुणिगवेषको भवेत् ।।५।।**

अर्थ - यद्यपि यह शतक चित्तार्षक है तथापि विज्ञपाठकों द्वारा शुद्ध कर पढ़ने के योग्य है। इस ससार मे मै पण्डित उसे मानता हू जो गुणो का अन्वेषण करने वाला हो।।५।।

श्रीकुण्डलगिरौ क्षेत्रे भव्यैर्जनैः सुसेविते।
हरिणनदकूलस्थे भवाब्धिकूलदर्शिनि ।।१।।
यामव्योमाघगन्धेऽदो वीरे सम्वत्सरे शुभे ।
फाल्गुणपूर्णिमामीत्वेतीमामितिं मितिं गतम् ।।२।।

श्रीति - **भव्यैर्जनैः सुसेविते, हरिणनदतटस्थिते भवाब्धिकूलदर्शिनि ससारार्णवतटदर्शके श्रीकुण्डलगिरौ एतन्नामधेये क्षेत्रे यामव्योमाघगन्धे २५०८ परिमिते शुभे वीरसम्वत्सरे अदः शतकं फाल्गुणपूर्णिमां फाल्गुणमासस्य पूर्णिमां मितिं तिथिम् इत्वा प्राप्य इतिं समाप्तिं गतम् प्राप्तम् ।।१–२।।**

अर्थ - भव्यजनो से सेवित, हरिण नदी के तट पर स्थित तथा संसारसागर का तट दिखाने वाले कुण्डलगिरिक्षेत्र मे २५०८ वीरनिर्वाण सम्वत् मे फाल्गुनपूर्णिमा मिति को पाकर यहपरीषहजय शतक समाप्ति को प्राप्त हुआ ।।१-२।।

हे जिनवर ! तव चरण समागम सुरसुख शिवसुख शान्त रहा,
तव गुण गण का सतत स्मरण ही परमागम निर्भ्रान्त रहा।
विषय रसिक हैं कुधी रहे है अनुपम अधिगम नहीं मिले,
विरहित रति से रहूँ इसी से बोध कला उर सही खिले।।१।।

नभ मे रवि सम यतनशील हैं यति नायक सुखकारक हैं,
ज्ञान-भाव से भरित-शील हैं श्रुतिकारक-दुखहारक हैं।
सकल विश्व को सकल ज्ञान से जान रहे शिवशकर हैं,
गति-मति-रति से रहित रहे है हम सब उनके किंकर हैं।।२।।

दुख मे, सुख मे तथा अशुभ-शुभ में नियमित रखते समता,
शुचितम चेतन को नमते हैं श्रमण, श्रमणता से ममता।
यम-सयम-दम-शम भावों की लेता सविनय शरण अत,
विभाव-भावों दुर्भावों का क्षरण शीघ्र हो मरण स्वत।।३।।

मृदुल विषयमय लता जलाती शीतलतम हिमपात वही,
शान्त शारदा, शरण उसी की ले जीता दिन-रात सही।
'शतक परीषह-जय' कहता बस मुनिजन, बुधजन मन हरसे,
मूल सहित सब अघ संघरसे ज्ञान-मेघ फिर झट बरसे।।४।।

उदय असाता का जब होता उलटी दिखती सुखदा है,
प्रथम भूमिका मे ही होती क्षुधा वेदना दुखदा है।
समरस रसिया ऋषि समता से सब सहता निज ज्ञाता है,
सब का सब यह विधि फल तो है 'समयसार' सुन! गाता है।।५।।

क्षुधा परीषह सुधीजनों को देता सद्गति सम्पद है,
और मिटाता नियमरूप से दुस्सह विधिफल आपद है।
कुधीजनों को किन्तु पटकता कुगति कुण्ड में कष्ट! अहा!
विषय रसिक हो दुखी जगत है सुखी जगत कह स्पष्ट रहा।।६।।

कनक, कनकपाषाण नियम से अनल योग से जिस विध है,
क्षुधा परीषह सहते बनते, शुचितम मुनिजन उस विध है।
क्षुधा विजय सो काम विजेता मुनियों से भी वन्दित है,
शिव-पथ पर पाथेय रहा है जिन मत से अभिनन्दित है।।७।।

आगम के अनुकूल किया यदि किसी साधु ने अनशन है,
असमय में फिर अशन त्याज्य है अशन कथा तक अशरण है।
वीतराग सर्वज्ञ देव ने आगम में यों कथन किया,
श्रवण किया कर सदा उसी का, मनन किया कर, मथन जिया।।८।।

स्वर्णिम, सुरभित, सुभग, सौम्यतन सुरपुर में वर सुरसुख है,
उन्हें शीघ्र से मिलता शुचितम शाश्वतभास्वत शिवसुख है।
वीतराग विज्ञान सहित जो क्षुधा परीषह सहते हैं,
दूर पाप से हुए आप हैं बुधजन जग को कहते है।।९।।

पाप-ताप का कारण तन की ममता का बस वमन किया,
शमी-दमी, मतिमान मुनी ने समता के प्रति नमन किया।
विमल बोधमय सुधा चाव से तथा निरन्तर पीता है,
उसे तृषा फिर नहीं सताती सुखमय जीवन जीता है।।१०।।

कषाय रिपु का शमन किया है सने स्वरस में गुणी बने,
नम्र नीत, भवभीत रीत हो अघ से, तप के धनी बने।
मुक्ति रमा आ जिनके सम्मुख नाच, नाचती मुदित हुई,
मनो इसी से तृषा जल रही ईर्षा करती कुपित हुई।।११।।

निरालम्ब हो, स्वावलम्ब हो, जीवन जीते मुनिवर हैं,
कभी तृषा या अन्य किसी वश कुपित बनें ना; मतिवर है।
श्वान भौंकते सौ-सौ मिलकर पीछे - पीछे चलते हैं,
विचलित कब हो गजदल आगे ललित चाल से चलते है।।१२।।

व्यय-उद्भव, ध्रुव-लक्षण से जो परिलक्षित है खरा रहा,
चिन्मय गुण से रचा गया है, समरस से है भरा रहा।
मनो कभी मुनि तृषित हुआ औ निज में तब अवगाहित हो,
जैसा सागर में शशि होता निश्चित सुख से भावित हो।।१३।।

रव-रव नरकों में वे नारक तृषित हुये हैं, व्यथित हुये,
सदय हृदय ना अदय बने है प्राण कण्ठगत मथित हुये।
उस जीवन से निज जीवन की तुलना कर मुनि कहते हैं,
वहाँ सिन्धु सम दुःख रहा तो यहाँ बिन्दु हम सहते हैं।।१४।।

शीत-शील का अविरल-अविकल बहता जब है अनिल महा,
ऐसा अनुभव जन-जन करते अमृत मूल्य का अनल रहा।
पग से शिर तक कपड़ा पहना कप-कप कपता जगत रहा,
किन्तु दिगम्बर मुनिपद से न हिं विचलित हो मुनि-जगत रहा।।१५।।

तरुण-अरुण की किरणावलि भी मन्द पड़ी कुछ जान नहीं,
शिशिर वात से ठिठुर शिथिल हो भानु उगा पर; भान नहीं।
तभी निशा वह बड़ी हुई है लघुतम दिन भी बना तभी,
पर, परवश मुनि नहीं हुआ है सो मम उर में ठना अभी।।१६।।

यम-दम-शम-सम से मुनि का मन अचल हुआ है बिमल रहा,
महातेज हो धधक रहा है जिसमे तप का अनल महा।
बाधा क्या फिर बाह्य गात पे होता हो हिमपात भले,
जीवन जिनका सुखित हुआ हम उन पद में प्रणिपात करें।।१७।।

भय लगता है नभ मे काले जल वाले घन डोल रहे,
बीच-बीच मे बिजली तड़की घुमड़-घुमड़ कर बोल रहे।
वज्रपात से चूर हो रहे अचल, अचल भी चलित हुए,
फिर भी निश्चल मुनि रहते है शिव मिलता, सुख फलित हुए।।१८।।

चण्ड रहा मार्तण्ड ग्रीष्म में विषयी-जन को दुखद रहा,
आत्मजयी ऋषि वशीजनों को दुखद नहीं शिव सुखद रहा।
प्रखर, प्रखरतर किरण प्रभाकर की रुचिकर ना कण-कण को,
कोमल-कोमल कमलदलों को खुला खिलाती क्षण-क्षण को।।१९।।

सरिता, सरवर सारे सूखे सूरज शासन सक्त रहा,
सरसिज, जलचर कहाँ रहें फिर? जीवन साधन लुप्त रहा।
इतनी गरमी घनी पड़ी पर, करते मुनि प्रतिकार नहीं,
शान्ति सुधा का पान करें नित तन के प्रति ममकार नहीं।।२०।।

सुरमा, काजल, गगा का जल, मलयाचल का चन्दन है,
शरद चन्द्र की शीतल किरणें मणि माला, मनरंजन है।
मन में लाते तक ना इनको, शान्त बनाने तन-मन को,
मुनि कहलाते पूज्य हमारे जिनवर कहते भविजन को।।२१।।

महाप्रतापी, भू-नभ तापी अभिशापी रवि बना रहा,
वन हारे, तरु सारे-खारे पत्र फूल के बिना अहा!
किन्तु पराजित नहीं मुनीश्वर जित-इन्द्रिय हो राजित हैं,
हृदय-कमल पर उन्हें बिठाऊँ त्रिभुवन से आराधित हैं।।२२।।

तन से, मन से और वचन से उष्ण-परीषह सहते हैं,
निरीह तन से हो निज ध्याते बहाव में ना बहते हैं।
परम तत्त्व का बोध नियम से पाते यति जयशील रहे,
उनकी यशगाथा गाने में निशिदिन यह मन लीन रहे।।२३।।

विषयों को तो त्याग-पत्र दे व्रतधर शिवपथगामी हैं,
मत्कुण मच्छर काट रहे अहि, दया-धर्म के स्वामी हैं।
कभी किसी प्रतिकूल दशा में मुनिमानस नहिं कलुषित हो,
शुचितम मानस सरवर-सा है सदा निराकुल विलसित हो।।२१

चराचरों से मैत्री रखते कभी किसी से वैर नहीं,
निलय दया के बने हुए हैं नियमित चलते स्वैर नहीं।
तन से, मन से और वचन से करें किसी को व्यथित नहीं,
सुबुध जनों से पूजित होते मान-गान से सहित सही।।२५।।

मत्कुण आदिक रुधिर पी रहे पी लेने दो जीने दो,
तव शुभ स्तुति की सुधा चाव से मुझे पेट भर पीने दो।
तीन लोक के पूज्य पितामह ! इससे मुझको व्यथा नहीं,
यथार्थ चेतन पदार्थ मैं हूँ तन से 'पर' मम कथा यही।।२६।।

दश मसक ये कीट पतंगे पल भर भी तो सुखित नहीं,
पाप पाक से पतित पले है क्षुधा, तृषा से दुखित यही।
कब तो इनका भाग्य खुले कब निशा टले, कब उषा मिले,
सन्त सदा यों चिंतन करते दिशा मिले, निज दशा खिले।।२७।।

निरा, निरापद, निजपद दाता यही दिगम्बर पद साता,
पाप-प्रदाता आपद-धाता शेष सभी पद गुरु गाता।
हुए दिगम्बर अम्बर तजकर यही सोच कर मुनिवर हैं,
शिवपथ पर अविरल चलते है हे जिनवर ! तव अनुचर हैं।।२८

अपने ऊपर पूर्ण दया कर विषय-वासना त्याग दिया,
नग्न परीषह सहते तजकर वस्त्र, निजी में राग किया।
अनुपम, अव्यय वैभव पाते लौट नहीं भव में आते,
वस्त्र वासना जो ना तजता भ्रमता भव-भव में तातैं।।२९।।

यहाँ अचेतन पुद्गल आदिक निज-निज गुण के केतन हैं,
आदि मध्य औ अन्त रहित हैं ज्ञान निलय हैं, चेतन हैं।
यथार्थ मे तो पदार्थ दल से भरा जगत् यह शाश्वत है,
निरावरण है, निरा दिगम्बर स्वय आप 'बस' भास्वत हैं।।३०।।

बिना घृणा के नग्नरूप धर मुनिवर प्रमुदित रहते हैं,
भवदुखहारक, शिवसुखकारक, दुस्सह परिषह सहते हैं।
लालन-पालन, लाड़-प्यार से सुत का करती ज्यों जननी,
कुलदीपक यदि बुझता है तो रुदन मचाती है गुणिनी।।३१।।

इन्द्रिय जिनसे चचल होती सब विषयों से निरत हुए,
इन्द्रियविजयी, विजितमना है निशिदिन निज मे विरत हुए,
अविरति रति मे मौन हुये है अरति परीषह जीत रहे,
जिनवर वाणी करुणा कर-कर कहती यों भवभीत रहे।।३२।।

सड़ा-गला शव मरा पड़ा जो बिना गड़ा, अधगड़ा जला,
भीड़ चील की चीर-चीरकर जिसे खा रही हिला-हिला।
दृश्य भयावह लखते, सुनते गजारिगर्जन मरघट मे,
किन्तु ग्लानि, भय कभी न करते, रहते मुनिवर निज घट मे।।३३।।

विषय वासना जिनसे बढ़ती उन शास्त्रों से दूर रहे,
विराग बढ़ता जिनसे उनको पढ़े साम्य से पूर रहे।
विगत काल मे भोगे भोगों कभी न मन में लाते हैं,
प्राप्तकाल सब सुधी बिताते निजी रमन मे तातै है।।३४।।

आगम के अनुकूल साधु हो अरति परीषह सहते है,
कलुषित मन की भाव-प्रणाली मिटती गुरुवर कहते हैं।
प्रतिफल मिलता दृढ़तम, शुचितम दिव्य-दृष्टि झट खुलती है,
नियम रूप से शिव-सुख मिलता ज्योत्स्ना जगमग जलती है।।३५।।

विशाल विस्फारित मंजुलतम चंचल लोचन वाली हो,
कामदेव के मार्दव मानस को भी लोभन वाली हो।
मुख पर ले मुस्कान मन्दतम गजसम गमनाशीला हो,
उस प्रमदा के वश मुनि ना हो अद्‌भुत चिन्मय लीला हो।।३६।।

सदा, मुक्त, उन्मुक्त विचरती मत्त स्वैरिणी मोहित है,
तभी कहाती प्रमदा जग में बुधजन से अनुमोदित है।
वन में, उपवन में, कानन में, स्मित वदना कुछ बोल रही,
निर्विकार यति बने रहे वे उनकी दृग अनमोल रही।।३७।।

लाल कमल की आभा सी तन वाली हैं सुर वनिताएँ,
नील कमल सम विलसित जिनके लोचन हैं सुख-सुविधाएँ।
किन्तु स्वल्प भी विषय वासना जगा न सकती मुनि मन में,
सुखदा, समता सती, छबीली क्योंकि निवसती है उनमें।।३८।।

शीलवती है, रूपवती है, दुर्लभतम है वरण किया,
समता रमणी से निशिदिन जो श्रमण बना है रमण किया।
फिर किस विध वह नश्वर को जो भवदा! दुःखदा वनिता है,
कभी भूलकर क्या चाहेगा? पूछ रही यह कविता है।।३९।।

कठिन कार्य है खरतर तपना करने उन्नत तपगुण को,
पूर्ण मिटाने भव के कारण चचल मन के अवगुण को।
दया वधू को मात्र साथ ले वाहन बिन मुनि पथ चलते,
आगम को ही आँख बनाये निर्मद जिनके विधि हिलते।।४०।।

सभी तरह के पाद त्राण तज नग्न पाद से ही चलते,
चलते-चलते थक जाते पर निज पद मे तत्पर रहते।
कंकर, कंटक चुभते-चुभते, लहुलुहान पद लोहित हो,
किन्तु यही आश्चर्य रहा है, मुनि का मन ना लोहित हो।।४१।।

कोमल-कोमल लाल-लालतर युगल पादतल कमल बने,
अविरल, अविकल चलते-चलते सने रुधिर में तरल बने।
मन में ला सुकुमालकथा को अशुचि काय में मत रचना,
मार मार कर महा बनो तुम यह कहती रसमय रचना।।४२।।

बोधयान पर बैठ, कर रहे यात्रा यतिवर यात्री हैं,
त्याग चुके हैं, भूल चुके हैं रथवाहन, करपात्री हैं।
पथ पर चलता तन को केवल देख रहे पथ दर्शाते,
सदा रहें जयवन्त सन्त वे नमूँ उन्हें मन हर्षाते।।४३।।

आत्मबोध पा पूज्य साधु ने चंचल मन को अचल किया,
मोह लहर भी शान्त हुई है मानस सरवर अमल जिया।
बहुविध दृढ़तम आसन से ही तन को संयत बना लिया,
जीव दया का पालन फलतः किस विध होता जना दिया।।४४।।

संयम बाधक चरित मोह को पूर्ण मिटाने लक्ष बना,
बिना आलसी बने निजी को पूज्य बनाने दक्ष बना।
सरिता, सागर, सरवर तट पर दृढ़तम आसन लगा दिया,
त्याग वासना, उपासनारत 'ऋषि की जय' तम भगा दिया।।४५।।

आसन परिषह का यह निश्चित अनुपम अद्भुत सुफल रहा,
हुयें, हो रहे, होंगे जिनवर, इस बिन, सब तप विफल रहा।
बुधजन, मुनिजन से पूजित जिन ! अहोरात तव मत गाता,
अतः आज भी भविकजनों ने धारा उसको नत माथा।।४६।।

भय लगता है यदि तुझको अब विषयी जन में प्रमुख हुआ,
यह सुन ले तू चिर से शुचितम निज अनुभव से विमुख हुआ।
दृढ़तम आसन लगा आप में होता अन्तर्धान वही,
ऋषिवर भी आ उन चरणों मे नमन करें गुणगान यही।।४७।।

श्रुतावलोकन आलोड़न से मुनि का मन जब थक जाता,
खरतर द्वादशविध तप तपते साथी तन भी रुक जाता।
आगम के अनुसार निशा में शयन करे श्रम दूर करे,
फलतः हे जिन ! तव सम अतिशय पावे सुख भरपूर खरे।।४८।।

भू पर अथवा कठिन शिला पर काष्ठ फलक पर या तृण पे,
शयन रात में अधिक याम तक, दिन में नहिं, संयम तन पे।
ब्रह्मचर्य व्रत सुदृढ बनाने यथाशक्ति यह व्रत धरना,
जितनिद्रक हो हितचिन्तक हो अतिनिद्रा मुनि मत करना।।४९।।

मुनि पर यदि उपसर्ग कष्ट हो हृदय शून्य उन मानव से,
धर्म-भाव से रहित, सहित हैं वैर-भाव से दानव से।
किन्तु कभी वे निशि में उठकर गमन करें अन्यत्र नहीं,
अहो अचल दृढ़ हृदय उन्हीं का दर्शन वह सर्वत्र नहीं।।५०।।

सप्तभयों से रहित हुआ है जितनिद्रक है श्रमण बना,
शय्या परिषह वही जीतता दमनपना या शमनपना।
निद्राविजयी बनना यदि है इच्छित भोजन त्याग करो,
इन्द्रियविजयी बनो प्रथम तुम रसतज निज में राग करो।।५१।।

यथासमय जो शयन परीषह तन रति तजकर सहता है,
निद्रा को ही निद्रा आवे मुनि मन जागृत रहता है।
समुचित है यह प्रमाद तज रवि उदयाचल पर उग आता,
पता नहीं कब कहाँ भागकर उडुदल गुप लुप छुप जाता।।५२।।

असभ्य पापी निर्दय जन वे करते हों उपहास कभी,
किन्तु न होता मुनि के मन की उज्ज्वलता का नाश कभी।
तुष्ट न होते समता-धारक सुधीजनों के वन्दन से,
रुष्ट न होते शिष्ट साधुजन कुधी जनों के निन्दन से।।५३।।

क्रोध जनक हैं कठोर, कर्कश, कर्ण कटुक कुछ वचन मिले,
निहार बेला में सुनने को अपने पथ पर श्रमण चले।
सुनते भी पर बधिर हुए-से आनाकानी कर जाते,
सहते हैं आक्रोश परीषह अबल, 'सबल होकर' भाते।।५४।।

इन्द्रियगण से रहित रहा हूँ मल से रस से रहित रहा,
रहा इसी से पृथक् वचन से चेतन बल से सहित रहा।
निन्दन से फिर हानि नहीं है विचार करता इस बिध है,
प्रहार करता जडविधि पे मुनि निहारता निज बहुविध है।।५५।।

सही मार्ग से भटक चुके हैं चलते-चलते त्रस्त हुए,
भील, लुटेरों, मलिमन्दों से घिरे हुए दुखग्रस्त हुए।
उनका न प्रतिकार तथापि करते यति जयवन्त रहे,
समता के हैं धनी-गुणी हैं पापों से भयवन्त रहे।।५६।।

मोह-भाव से किया हुआ था पाप पाक यह उदित हुआ,
पर का यह अपराध नहीं है उपादान खुद घटित हुआ।
पर का इसमे हाथ रहा हो निमित्त वह व्यवहार रहा,
अविरति-हन्ता नियमनियन्ता कहते जिनमतसार रहा।।५७।।

काया लाली रही उषा की अशुचिराशि है लहर रही,
भवदुखकारण, कारण भ्रम का शरण नहीं है जहर रही।
इसका यदि वध हो तो हो पर इससे मेरा नाश कहाँ?
बोध-धाम हूँ चरण सदन हूँ दर्शन का अवकाश यहाँ।।५८।।

बहुविध विधि का संवर होने मे हित निश्चित निहित रहा,
पापास्रव मे कारण होता शिवपथ मे वह अहित रहा।
अन्ध मन्दमति! वधक नहीं ये बाह्यरूप मे साधक हैं,
पाप पुण्य के भेद जानते कहते मुनिगण-चालक है।।५९।।

अशन वसतिकादिक की ऋषिगण नहीं याचना करते है,
तथा कभी भी दीन-हीन बन नहीं पारणा करते है।
निजाधीनता फलत निश्चित लुटती है यह अनुभव है,
पराधीनता किसे इष्ट है वही पराभव, भव-भव है।।६०।।

निज पद गौरव तज यदि यति हो मनो-याचना करते है,
दर्पण सम उज्ज्वल निज पद को पूर्ण कालिमा करते है।
शुचितम शशि भी योग केतु का पाकर ही वह शाम बने,
यही सोचकर साधु सदा ये निज मे ही अविराम तने।।६१।।

बिना याचना, कर्म उदय से यह घटना निश्चित घटती,
कभी सफलता, कभी विफलता भेद-भाव बिन बस बटती।
इसीलिए मत याचक बनना भूल कभी बन भ्रान्त नहीं,
याचक बनता नहीं जानता कर्मो का सिद्धान्त सही।।६२।।

याञ्चा परिषह विजयी मुनिवर-समाज में मुनिराज बने,
स्वाभिमान से मंडित जिस विध हो वन में मृगराज तने।
याञ्चा विरहित यदि ना बनता जीवन का उपहास हुआ,
विरत हुआ पर बुध कहते वह गुरुता का सब नाश हुआ।।६३।।

अनियत विहार करता फिर भी निर्बल सा ना दीन बने,
तथा किया उपवास तथापि परवश ना! स्वाधीन बने।
भोजन पाने चर्या करता पर भोजन यदि नहिं मिलता,
विषाद करता नहिं पर, भोजन मिला हुआ-सा मुख खिलता।।६४।।

इष्टमिष्ट रस-पूरित भोजन मिलने पर हो मुदित नहीं,
अनिष्ट नीरस मिलने पर भी दुखित नहीं हो कुपित नहीं।
सहित रहा संवेग भाव से सर्व रसों से विरत बना,
चिंतन करता यह सब विधिफल साधु गुणों से भरित बना।।६५।।

करते श्रुतमय सुधापान हैं द्वादशविध तप अशन दमी,
दमन कर रहे इन्द्रिय तन का कषायदल का शमन शमी।
केवल दिखते बाहर से ही क्षीणकाय हो दुखित रहे,
भीतर से संगीत सुन रहे जीत निजी को सुखित रहे।।६६।।

जनन जरा औ मरण रोग से श्वास-श्वास पर डरता है,
जिसके चरणों में आकर के नमन विज्ञ-दल करता है।
दुष्कृत फल है दुस्सह भी है महा भयानक रोग हुआ,
प्रभु पदरत मुनि नहिं डरता है धरता शुचि उपयोग हुआ।।६७।।

सभी तरह के रोगों से जो मुक्त हुए हैं बता रहे,
कर्मों के ये फल हैं सारे, खारे जग को सता रहे।
रोगों का ही मन्दिर तन है अन्दर कितने पता नहीं,
उदय रोग का, कर्म मिटाता ज्ञानी को कुछ व्यथा नहीं।।६८।।

सुगन्ध चन्दन तैलादिक से तन का कुछ संस्कार नहीं,
वसनाभूषण आभरणों से किसी तरह शृङ्गार नहीं।
फिर भी तन में रोग उगा हो पाप कर्म का उदय हुआ,
उसे मिटाने प्रासुक औषध मुनि ले सकता सदय हुआ।।६९।।

रोग परीषह प्रसन्न मन से जो मुनि सहता ध्रुव ज्ञाता,
सुचिरकाल तक सुरसुख पाता अमिट अमित फिर शिव पाता।
अधिक कथन से नहीं प्रयोजन मरण भीति का नाश करो,
सादर परिषह सदा सही बस! निजी नीति में वास करो।।७०।।

तृण कंटक पद में वह पीड़ा सतत दे रहे दुखकर हैं,
गति में अंतर तभी आ रहा रुक-रुक चलते मुनिवर हैं।
उस दुस्सह वेदन को सहते-सहते रहते शान्त सदा,
उसी भाँति में सहूँ परीषह शक्ति मिले, शिव शान्ति सुधा।।७१।।

खुले खिले हों डाल-डाल पर फूल यथा वे हँसते हैं,
जिनकी पराग पीते अलि-दल चुम्बन लेते लसते हैं।
विषय, विषमतर शूल तृणों से आहत हैं पर तत्पर हैं,
निज कार्यों में बिना विफल हो कहते हमसे तन पर है।।७२।।

कठिन-कठिनतर शयनासन में कंटक पथ पर विचरण में,
सुख ही सुख अवलोकित होता मुनियों के आचरणन में।
भीतर से बाहर आने को शम सुख सागर मचल रहा,
दुखित जगत को सुखित बनाने यतन चल रहा सकल रहा।।७३।।

कभी-कभी आकुलता यदि हो मन में तन में वेदन हो,
प्रतिफल हो, 'फल कर्मचेतना' चेतन में पर खेद न हो।
बिना वेदना प्रथम दशा में कर्मों का वह क्षरण नहीं,
समयसार का गीत रहा यह औ सब बाधक शरण नहीं।।७४।।

निज भावों से भावित भाता भासुर गुणगण शाला है,
परिमल पावन पदार्थ प्यारा अनुभवता रस प्याला है।
फिर यह तन तो स्वभाव से ही मल है मल से प्यार वृथा,
मुनियों से जो वंदित है सुन! शुद्ध-वस्तु की सार कथा।।७५।।

स्वभाव से ही रहा घृणास्पद रहा अचेतन यह तन है,
पल से मल से भरा हुआ है क्यों फिर इसमें चेतन है?
तन से निशिदिन झरती रहती अशुचि, सुनो जिनश्रुति गाती,
देह राग से श्रमणों की उस विराग छवि ही क्षति पाती।।७६।।

तपन-ताप से तप्त हुआ तन स्वेद कणों से रंजित हो,
रज कण आकर चिपके फलतः स्नान बिना मल संचित हो।
मल परिषह तब साधु सह रहा सुधा पान वे सतत करें,
नीरस तरु सम तन है जिनका हम सब का सब दुरित हरें।।७७।।

कंचन काया बन सकती है ऋद्धि-सिद्धि से युक्त रहा,
तन का मल मुनि नहीं हटाता मल से तन अतिलिप्त रहा।
चेतन मैं हूँ, चेतन में हूँ यथार्थ मल तो मल में है,
कहता जाता कमल कमल में कहने भर को जल में है।।७८।।

अविरत जन या व्रती पुरुष यदि अपने से विपरीत बने,
आदर ना दे, करे अनादर यदि बनते अविनीत तने।
किन्तु मुनीश्वर लोकेषण से दूर हुए भवभीत हुए,
विकार विरहित ललाट उनका रहता वे जग मीत हुए।।७९।।

अमल, समल हैं सकल जीव ये ऊपर, भीतर से प्यारे,
अगणित गुणगण से पूरित सब 'समान' शीतल शुचि सारे।
मैं 'गुरु' तू 'लघु' फिर क्या बचता परिभव-परिषह बुध सहते,
आर्य देव अनिवार्य यही तब मत गहते सुख से रहते।।८०।।

कभी प्रशंसा करे प्रशंसक विनय समादर यदि करते,
नहीं मान-मद मन में लाते, मन को कलुषित नहिं करते।
प्रत्युत अन्दर घुस कर बैठा मान-कर्म के क्षय करने,
साधु निरंतर जागृत रहते निज को शुचि अतिशय करने।।८१।।

निरालसी यति समिति गुप्ति में जब हो रत मन शमन करें,
गणधर आदिक महामना भी उनको मन से नमन करें।
मानी मुनिजन नमनादिक यदि नहिं करते मत करने दो,
अर्थ नहीं उसमें, जिन कहते 'यह परिषह' अघ हरने दो।।८२।।

जिन श्रुत में हैं पूर्ण विशारद सम्मानित हैं बुधगण में,
भाग्य मानकर सदा शारदा रहती जिनके आनन में।
मानहीन हैं, स्वार्थहीन हैं दुखी जगत को अमृत पिला,
पर मततारकदल में शीतलशशि हैं यश की अमिट शिला।।८३।।

अन्तराय का अन्त नहीं हो अतुल अमिट बल मुदित नहीं,
जब तक तुममें अनन्त अक्षय पूर्ण ज्ञान हो उदित नहीं।
ज्ञान क्षेत्र में तब तक निज को लघुतम ही स्वीकार करो,
तन-मन-वच से ज्ञान-मान का प्रतिफल तुम धिक्कार करो।।८४।।

अवलोकन-अवलोड़न करते जिनश्रुत के अनुवादक हैं,
वादीजन को स्याद्‌वाद से जीते पथ प्रतिपादक हैं।
ज्ञान परीषह सहते मुख से कभी न कहते हम ज्ञानी,
ज्ञान कहाँ है तुममें इतना महा अधम हो अज्ञानी।।८५।।

नम्र भाव से ज्ञान परीषह जीत-जी रहे मतिवर हैं,
तत्त्व ज्ञान से मत्त चित्त को किया नियंत्रित यतिवर हैं।
प्रभु पद में रत्त हुए मुझे भी होने सन्मति दान करें,
निलयगुणों के जय हो गुरु की मम गति का अवसान करें।।८६।।

सहो सदा अज्ञान परीषह नियोग है यह शिव मिलता,
अल्पज्ञान पर्याप्त रहा यदि निज अनुभवता भव टलता।
बहुत दिनों का पड़ा हुआ है सुमेरु सम तृण ढेर रहा,
एक अनल की कणिका से बस! जल मिटता, क्षण देर रहा।।८७।।

सत्पथ चलता महाव्रती हो प्रचुर समय वह बीत गया,
इन्द्रिय योगों को वश करके गाता आतम गीत जिया।
किन्तु अभी तक जगी न मुझमें बोध भानु की किरण कहीं,
यूँ न सोचता, मुनिवर तजता समता की वह शरण नहीं।।८८।।

महा मूढ़ है, साधु बना है, शुभकृत जीवन किया नहीं,
भविकजनों को सदुपदेश दे उपकृत अब तक किया नहीं।
महा मलिन मति चिर से तेरी ज्ञान-नीर से धुली नहीं,
सहे वचन यूँ 'व्यर्थ साधुता' अभी आँख तब खुली नहीं।।८९।।

बच करके अशुभोपयोग से जब शुभ शुचि उपयोग धरूँ,
अक्षय सुख देने वाले मुनि-गुण-गण का उपभोग करूँ।
किस विध फिर मैं हो सकता हूँ कुधी, कभी नहिं हो सकता,
सहता यूँ अज्ञान परीषह मन का मल वह धो सकता।।९०।।

ज्ञानावरणादिक से चिर से भला-बोध बल मलिन वही,
सहने से अज्ञान परीषह निश्चित होता विमल सही।
उड़-उड़कर आ रज-कण चिपके धूमिल फलतः दर्पण हो,
जल से शुचि हो जिनमत गाता इसे सदा नति अर्पण हो।।९१।।

चिर से दीक्षित हुआ अभी तक, ऋद्धि नहीं कुछ सिद्धि नहीं,
तथा गुणों में ज्ञानादिक में लेश मात्र भी वृद्धि नहीं।
ऐसा मन में विचार कर मुनि उदासता का दास नहीं,
होकर परवश कभी त्यागता जिनमत का विश्वास नहीं।।९२।।

जिन शासन से शासित होकर व्रत पालूँ अविराम सही,
किन्तु हुआ ना ख्यात जगत में यश फैला ना नाम कहीं।
रहित रहा हो अतिशय गुण से जिन दर्शन यह लगता है,
समदर्शन युत मुनि मन में ना ऐसा संशय जगता है।।९३।।

अल्प मात्र भी ऐहिक सुख औ इन्द्रिय सुख बह मिला नहीं,
फिर, किस विध निर्वाण अमित सुख मुझे मिलेगा भला कहीं।
मुनि हो ऐसा कहता नहिं जिन-मत का गौरव नहिं खोता,
रहा अदर्शन यही परीषह-विजयी होता सुख-जोता।।९४।।

जिन मत की उन्नति में जिनका जीवन तत्पर लसता है,
उजल सलिल से भरा सरित-सा जिन में दर्शन हँसता है।
रहा अदर्शन परिषयजय यह प्रमुख रहा मुनि यतियों का,
उनके चरणों में नित नत हूँ विनशन हो चहुगतियों का।।९५।।

पद-पूजन संपद संविद पा पद-पद होते सुखित नहीं,
निन्दन, आपद, अपयश में फिर साधु कभी हो दुखित नहीं।
दुस्सह सब परिषह सहने में सक्षम ऋषिवर धीर सभी,
आत्म ध्यान के पात्र, ध्यान कर पाते हैं भव तीर तभी।।९६।।

दुष्कर तप से नहीं प्रयोजन संयम से यदि रहित रहा,
परिषहजय बिन नहीं सफलता यद्यपि व्रत से सहित रहा।
यम-दम-शम-सम सकल व्यर्थ हैं समदर्शन यदि ना होता,
पाप पंक से लिपा कलंकित जीवन मौलिक नहिं, थोथा।।९७।।

शीत परीषह, उष्ण परीषह एक समय में कभी न हों,
चर्य्या, शय्या तथा निषद्या एक साथ ये सभी न हों।
ऐसा जिनवर का आगम है हम सबको यह बता रहा,
अनुभव कहता, स्वबश परीषह सहो सही, फिर व्यथा कहाँ।।९८।।

एक साथ उन्नीस परीषह मुनि जीवन में हो सकते,
समता से यदि सहो साधु हो विधिमल पल में धो सकते।
सन्त साधुओं तीर्थकरों ने सहे परीषह सिद्ध हुए,
सहूँ निरन्तर उन्नत तप हो समझूँ निज गुण शुद्ध हुए।।९९।।

पुण्य-पाक है सुरपद संपद सुख की मन में आस नहीं,
आतम का नित अवलोकन हो दीर्घ काल से प्यास रही।
तन से, मन से और वचन से तजूँ अविद्या हाला है,
'ज्ञान-सिन्धु'को मथकर पीऊं समरस'विद्या', प्याला है।।१००।।

[इति शुभं भूयात्]

गुरु-स्मृति

कुन्द-कुन्द को नित नमूँ, हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक में, जीवन मम घुल जाय।।
तरणि ज्ञान सागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष।।

:स्थान एवं समय परिचय:

कुण्डलगिरि वरक्षेत्र है, हर्षाता मन फूल।
हिरण नदी के कूल पे, दर्शाता भव-कूल।।१।।

याम व्योम गति गन्ध की, फागुन पूणम ज्योत।
पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ है, निजानन्द स्रोत।।२।।

:भूल क्षम्य हो:

लेखक, कवि मैं हूँ नहीं, मुझमें कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियां होवें यदि यहाँ, शोध पढ़ें धीमान।।२।।

[इति शुभं भूयात्]

मंगल कामना

समय-समय 'पर', समय में सविनय समता धार।
सकल संग सम्बन्ध तज रम जा सुख पा सार।।

भव-भव भववन भ्रमित हो भ्रमता; भ्रमता काल।
बीता अनन्त वीर्य बिन, बिन सुख, बिन वृष-सार।।

परपद, निजपद, जान तज, परपद, भज निज काम।
परम पदारथ फल मिले पल-पल जप निज नाम।।

मोक्ष मार्ग पर तुम चलो दुख मिट सुख मिल जाय।
परम सुगन्धित ज्ञान की मृदुल कली खिल जाय।।

तन मिला तुम तप करो, करो कर्म का नाश।
रवि-शशि से भी अधिक है तुममें दिव्य प्रकाश।।

विषय विषम-विष है सुनो, विष सेवन से मौत।
विषय-कषाय विसार दो स्वानुभूति सुख स्रोत।।

'ही' से 'भी' की ओर ही बढ़ें सभी हम लोग।
छह के आगे तीन हो विश्व शान्ति का योग।।

यही प्रार्थना'वीर'से अनुनय से कर जोर।
हरी-भरी दिखती रहे धरती चारों ओर।।

सुनीति शतक

[१]

वैराग्यमूर्तिः प्रणतिं सुनीता,
चिदेकभूतिश्च शिवप्रसूतिः।
विरच्यतेऽदः शतकं सुनीते—
रीतेरभावोऽस्तु ततो धरायाम् ।।

वैराग्येति - **वैराग्यस्य मूर्तिः वैराग्यप्रतिमा, शिवप्रसूतिः शिवस्य श्रेयसो मोक्षस्य वा प्रसूतिः समुत्पत्तिर्यस्याः सा, चिदेकभूतिश्च चिदेव चैतन्यमेवैकाद्वितीयाभूतिः सम्पत्तिर्यस्य तथाभूतो जिनेन्द्रः प्रणतिं नमस्कृतिं सुनीता प्रापिता। वीतरागं सर्वज्ञं मोक्षप्रदायकं जिनं नमाम्यहमिति भावः। प्रतिज्ञां वक्तुमाह - सुनीतेः शोभननीतेः शतकं शतश्लोकप्रमाणकं प्रकरणम्, अदः एतद् विरच्यते निर्मीयते मयेति शेषः। ततः सुनीतिशतकाद् धरायां वसुधायाम् ईतेरतिवृष्ट्यादेः अभावोऽस्तु। 'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः।' उपजाति वृत्तम्।।१।।**

अर्थ - वीतराग, सर्वज्ञ और मोक्षमार्गोपदेशी-अर्हन्त परमेष्ठी को नमस्कार कर यह सुनीतिशतक रचा जा रहा है। इससे पृथिवी पर ईतियो का अभाव हो।।१।।

[२]

मूल्येन पुष्टं च मलेन जुष्टं,
नवीनवस्त्रं न हि नीरपायि।
गुरूपदेशामृतरागहीनः,
शास्त्रोपजीवी खलु धीधरोऽपि।।

मूल्येनेति - **मूल्येन पुष्टं महार्घं मलेन मलीमसेन जुष्टं सहितं नवीनवस्त्रं नूतनवस्त्रं नीरपायि जलस्पर्शि नहि भवति। गुरूपदेशामृतरागहीनः गुरूपदेश एवामृतं पीयूषं तस्य रागेण प्रेम्णा हीनो धीधरोऽपि विद्वानपि खलु निश्चये न शास्त्रोपजीवी शास्त्रैस्तेषां पठनपाठनप्रकाशनादिभिः जीवतीत्येवं शीलोऽस्तीति शेषः। यथा मलिनं महार्घं वस्त्रं न शोभते तथा गुरूपदेशामृतरागहीनो विद्वान् न शोभते इति भावः।।२।।**

अर्थ - महार्घ और मलिन नवीन वस्त्र नीरस्पर्शी नहीं होता । विद्वान् भी यदि गुरुओ के उपदेशामृत सम्बन्धी राग से रहित है तो वह भी यथार्थत शास्त्रों से अपनी आजीविका ही चलाता है विद्वत्ता के फल से रहित है ।।२।।

[३]

शरीरसम्बन्धिकुलादियोगा—
न्मुनेर्मुनित्वं न मलत्वमेतु ।
वर्णेन कृष्णास्तु भवन्तु गावः,
कदापि कृष्णं न तु तत्पयोऽस्तु ।।

शरीरेति - **शरीरसम्बन्धिकुलादियोगात् शरीरसम्बन्धिनां शरीराश्रितानां कुलादीना गोत्रप्रभृतीनां योगात् सम्बन्धात् मुने साधोः साधुत्वं मलत्वं मालिन्यं नैतु न प्राप्नोतु। तदेवोदाहियते - गावो धेनवो वर्णेन रूपेण कृष्णाः श्यामवर्णा भवन्तु तु सन्तु नाम किन्तु तत्पय तासां गवां पय क्षीर कृष्णं कृष्णवर्णं कदापि जात्वपि नास्तु न भवतु। यथा शरीरवर्णेन गवा दुग्ध तद्वर्णं न भवति तथा शरीरस्य कुलादिना मुनीनां मुनित्वं न हीयत इति भाव ।।३।।**

अर्थ - शरीर सम्बन्धी कुल-गोत्रादि के योग से मुनि का मुनिपना मलिनता को प्राप्त न हो । जैसे गाये वर्ण से काली भले ही हो पर उनका दूध काला नहीं होता ।।३।।

[४]

वाञ्छन्ति सन्धिं न यमेन सार्ध—
मक्षार्थमुग्धा वयसैव वृद्धाः।
विद्धि ध्रुवं तैरश्चरणेन पुष्टे,
शैथिल्यभावाश्चरणे विशन्ति ।।

वाञ्छन्तीति - **अक्षार्थमुग्धा अक्षाणामिन्द्रियाणामर्थेषु मुग्धाः कृतमोहा ये नरा यमेन चारित्रेण सार्धं सह सन्धि मेलनं न वाञ्छन्ति नाभिलषन्ति ते वयसैव अवस्थामात्रेण वृद्धा प्रवयस सन्ति न तु ज्ञानेन संयमेन वा। चरणे चारित्रे शैथिल्यभावा शैथिल्यस्य भावः सद्भावो येषु ते प्रमादिनो नरा तैरश्चरणे तिरश्चरणानामिदं तैरश्चरणं तेन तिर्यक्त्वेन पुष्टे चरणे गोत्रे 'चरणोऽस्त्री बहवृचादौ मूलेऽपि पदगोत्रयो' इति विश्वलोचन। ध्रुवं निश्चयेन विशन्ति प्रवेशं कुर्वन्तीति विद्धि जानीहि ।।४।।**

अर्थ - इन्द्रियविषयो मे आसक्त रहने वाले जो मनुष्य सयम से सन्धि नहीं करते है वे अवस्था से वृद्ध है, ज्ञान और सयम से नहीं। चारित्र मे शिथिलता रखने वाले ऐसे

मनुष्य निश्चय से तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होते हैं, यह जानो ।।४।।

[५]

ज्ञानेन वृद्धो यदि पक्षपाती,
निजान्यहा स द्वयलोकशून्यः।
पयः पवित्रं परमार्थिपेयं,
लावण्ययोगात् किमु किंचिदस्ति ।।

ज्ञानेनेति - **ज्ञानेन वृद्धो जनो यदि पक्षपाती पक्षे कदाग्रहे पततीति पक्षपाती अस्ति तर्हि स निजान्यहा निजश्चान्यश्चेति निजान्यौ तौ हन्तीति स्वपरघाती द्वयलोकशून्य इहामुत्र च शून्यो भवति। पवित्रं शुचि पयः क्षीरं परमार्थिपेयं परमार्थिभिः पातुयोग्य भवति। लावण्ययोगात् क्षारद्रव्यसंयोगात् किमु किंचिदस्ति? अपि तु न। लवण-सहितं पयोऽपेयमेव भवति यथा तथा कदाग्रहयुक्तो नरः स्वान्यघाती लोकद्वयभ्रष्टश्च भवतीति भावः ।।५।।**

अर्थ - ज्ञान वृद्ध मनुष्य यदि पक्षपाती है--एकान्तवादी है तो वह निज- पर का घातक और उभय लोक से भ्रष्ट होता है। पवित्र दूध परमार्थी जनो के द्वारा पेय– पीने योग्य होता है पर नमक के मिलने पर क्या कुछ रहता है? अर्थात् नहीं। अपेय हो जाता है।।५।।

[६]

अक्षार्थकास्ते हितका भवन्ति,
धर्मोऽहितः पापवतां भवेऽस्ति ।।
तथ्यं च पथ्यं न हि रोचते तत्,
सत्यां रुजायां विधिरोगिणेऽत्र ।।

अक्षेति - **ये अक्षार्थकाः अक्ष्णोति जानातीत्यक्ष आत्मा तस्यार्थे विषये कं सुखं येषां ते हितका हिता एव हितकाः हितरूपा भवन्ति। पापवतां पापिनां जनानां भवे संसारे धर्मः, धरति प्रापयति स्वर्गापवर्गस्थानं यः स धर्मः सुकृताचरणं। अहितोऽहितरूपो भवति जायते। तदेव समर्थयति-अत्र लोके विधिरोगिणे विधिः कर्मोदय एव रोगो विधिरोगः सोऽस्ति यस्य तस्मै रुजायां रुग्वेदनायां सत्यां पथ्यं हितकरं वस्तु न रोचते रुचिकरं नहि भवति इति यत् प्रसिद्धं तत् तथ्यं सत्यमस्तीति शेषः। यथासद्वे द्योदयसमुत्पन्नरोगायाल्पायुषे पथ्यं न रोचते तथा दीर्घभवायेन्द्रियविषयासक्ताय धर्माचरणं धर्मोपदेशो वा न रोचत इति भावः ।।६।।**

अर्थ - जो मनुष्य अक्ष–आत्मसम्बन्धी कार्यो मे सुख मानते हैं वे इस संसार मे हितकारी हैं। पापी मनुष्यो के लिये धर्म अहितकारी जान पडता है। उचित है–कर्मरूपी रोग से युक्त मनुष्य के लिये रोग होने पर पथ्य– हितकारी वस्तु अच्छी नहीं लगती, यह जो लोकप्रसिद्धि है, वह सत्य ही है ।।६।।

[७]

धनी तु मानाय धनं ददाति,
धनाय मानाय धियं तु धीमान्।
प्रायः प्रभावोऽस्तु कलेः किलायं,
दूरोऽस्तु धर्मो नियमाच्च ताभ्याम् ।।

धनीति - **धनी धनवान् जनो मानायाहंकाराय सन्मानं प्राप्तुं वा धनं वित्तं ददाति वितरति। धीमान् सुधीस्तु धनाय वित्तप्राप्तये मानाय सत्कारं प्राप्तुं वा धियं स्वकीयां बुद्धिं ददाति व्याख्यानादिना तदुपयोगं विदधाति। प्रायः किलायं निश्चयेनायं कलेः पञ्चमकालस्य प्रभावो महिमास्तु नियमात् नियमेन ताभ्या तयोक्त धनिविद्वद्भ्याम् धर्मो दूरोऽस्तु दूरस्थोऽस्तु। ये मानाय धनं ददति ये च धनाय मानाय च व्याख्यानादिकं कुर्वन्ति ते परमार्थतो दूरस्था सन्ति। ये केचिदुपकर्तुमनसः कुर्वन्ति ते विरलाः सन्तीति प्रायः पदेन सूच्यते, तु शब्दः पूर्त्यर्थः।।७।।**

अर्थ – धनी मनुष्य अहकार अथवा सम्मान के लिये धन देते है और विद्वान् धन तथा सम्मान पाने के लिये अपनी बुद्धि का उपयोग करते है, यह प्राय कलिकाल का प्रभाव है। परमार्थत धर्म उन दोनो से दूर है।।७।।

[८]

व्रतं विदग्धं व्रतिनां धियां वा,
लोभार्चिषा सारविधातृ पूतम् ।
बाह्येन शेषं नहि चान्तरेण,
गजेन भुक्तं तु कपित्थवत् तत् ।।

व्रतमिति - **व्रतिनां व्रतधारिणां धियां वा सुधियां वा सारविधातृ न्यायकर्तृ पूतं पवित्रं व्रतं लोभार्चिषा लोभानलेन विदग्धं विशेषेण दग्धं सत् बाह्येन बाह्याकारमात्रेण शेषं भवति अन्तरेण न हि च। बाह्याकारेण शिष्यते नत्वाभ्यन्तरविशुद्ध्या। गजेन हस्तिना भुक्तं निगलितं कपित्थं दधिफलं तद्वत् भवति। तत् व्रतं। यथा गजेन भुक्त कपित्थफलमाकृतिमात्रेण विद्यतेऽन्तस्तु सारहीनं भवति तथा लोभिनां व्रतिनां सुधियां च**

व्रतं बाह्ये व्रतवत् विभाति हृदये तु विशुद्ध्यभावात् सारहीनं भवतीति भावः ।।८।।

अर्थ - व्रतीजनो अथवा ज्ञानीजनो का सारपूर्ण, पवित्र व्रत यदि लोभानल से दग्ध होता है तो वह बाह्य मे ही शेष रहता है, अन्तरङ्ग मे नहीं। जैसे हाथी के द्वारा निगला हुआ कैथा बाहर में पूर्ण दिखता है पर भीतर सार से रहित होता है ।।८।।

[९]

परिग्रहो विग्रहमूल हेतुः,
परिग्रहो विग्रहभाव धाता ।
परिग्रहो विग्रहराजमार्गः,
परिग्रहोऽनेन विमुच्यते सः ।।

परिग्रह इति - परिग्रहो धनधान्यादिसंपत्तिः, विग्रहस्य विद्वेषस्य मूलहेतुः प्रमुखकारणम्, परिग्रहः विग्रहभावस्य विद्वेषभावस्य धाता धारकः कारको वा, परिग्रहः विग्रहस्य युद्धस्य राजमार्गः प्रमुखः पन्था अस्तीति शेषः। अनेन तथोक्तकारणेन स परिग्रहो विमुच्यते त्यज्यते साधुभिरिति यावत् ।।९।।

अर्थ - यतश्च परिग्रह विद्वेष का मूल कारण है, परिग्रह विद्वेषभाव को धारण अथवा उत्पन्न करने वाला है और परिग्रह युद्ध का प्रमुख मार्ग है अत वह साधुओ के द्वारा छोड़ा जाता है ।।९।।

[१०]

असंयतानां विदुषामपीह,
ज्ञाने स्वभावात् गुणता न भातु ।
स्पार्श्यं न दृश्यं मृदुला न नव्यं,
केशेषु घृष्टेर्भुवि मित्र! दृष्टम् ।।

असंयतानामिति - इह भुवि असंयतानां, विदुषामपि बुधानामपि ज्ञाने स्वभावात् निसर्गतः। ज्ञाने ज्ञानविषये गुणता अप्रधानता न भातु न शोभताम्। अये मित्र! घृष्टेः शूकरस्य केशेषु कचेषु न स्पार्श्यं स्पर्शस्य भावः स्पार्श्यं, न दृश्यं मनोहरत्वं, न मृदुला कोमलत्वं, न नव्यं नूतनत्वं दृष्टं समवलोकितम्। यथा घृष्टेः केशेषु स्पर्शस्य काठिन्यादि न शोभते तथा असंयतानां विदुषां ज्ञानस्याप्राधान्यं न शोभत इति भावः ।।१०।।

अर्थ - असंयमी विद्वानो की भी स्वभाव से ज्ञान विषयक गुणता—अप्रधानता सुशोभित न हो। जैसे कि पृथिवी पर सूकर के बालो मे न स्पर्श है, न मनोहरता है, न कोमलता है और न नूतनता है।।१०।।

[११]

सत्सन्निधाने पतितोऽसुमान्यः,
श्रीकण्ठभावं ध्रुवमातनोति ।
रसं गतं शुक्लदधीदमत्र,
श्रीखण्डभावं किमु नाभ्युपैति ? ।।

सदिति - यः असुमान् प्राणी सत्सन्निधाने सतां साधूना सन्निधाने संगतौ पतितः प्राप्तः स ध्रुवं निश्चयेन श्रीकण्ठभावं शिवत्वम् आतनोति विस्तारयति। तदेवोदाह्रियते—अत्र भुवि, इदमेतत् शुक्लं सितवर्णं दधिरस सितोपलादिजनितं मधुररसं गतं प्राप्त सत् किमु श्रीखण्डभावं सुस्वादुपेयत्व नाभ्युपैति न प्राप्नोति? अपि तु प्राप्नोत्येव ।।११।।

अर्थ - जो मनुष्य सत्सगति मे पहुच जाता है वह निश्चित शिवत्व—शकरत्व —श्रेष्ठत्व को प्राप्त हो जाता है। इस जगत् मे यह शुक्ल दही मिश्री के ससर्ग से उत्पन्न मधुररस के साथ मिलकर क्या श्रीखण्डभाव—सुस्वादुपेयता को प्राप्त नहीं हो जाता ? अर्थात् हो जाता है।।११।।

[१२]

तनूभृता व्याधिसुमन्दिरं सा,
तनुर्मनोऽप्याधिकमन्दिरं तत् ।
सुसाधुदेहोऽचलमन्दरोऽस्तु,
चेतः समाधेः शिवमन्दिरं तु ।।

तनूभृतामिति - तनूभृतां शरीरिणाम् सा प्रसिद्धा दृश्यमानेति यावत् तनुः शरीरं 'स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनू' इत्यमरः । व्याधीना शारीरिकपीडाना सुमन्दिरं सुस्थानम्। तत् प्रसिद्धं मनोऽपि चित्तमपि 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मन.' इत्यमरः। आधिकमन्दिरं आधयो मानसिकव्यथाः त एवाधिकास्तेषां मन्दिरं स्थान वर्ण्यतइति शेषः। 'पुस्याधिर्मानसीव्यथा' इत्यमरः। तु किन्तु सुसाधुदेहः सत्साधुकायः अचलमन्दर एतन्नामकमेरुः स्थिरमेरु र्वाऽस्तु जितपरिषहो भवत्विति भावः। सुसाधोः चेतस्तु मनस्तु समाधेर्ध्यानस्य शिवमन्दिरं श्रेयः सदनम् । अस्तु। शरीरं व्याधिमन्दिरं ज्ञात्वा तस्मिन् रागपरिणति र्न कार्येति भावः।।१२।।

अर्थ - प्राणियो का वह शरीर रोगो का घर है और वह मन मानसिक पीड़ाओं का स्थान है परन्तु सुसाधु का शरीर मेरु के समान स्थिर — परिषहविजयी और मन समाधि—ध्यान का उत्तम स्थान है ।।१२।।

[१३]

इता स्थितिं केवलबोधशक्तिः,
शक्तेर्विधेराभवतोऽङ्गिनां सा ।
यथोदिते व्योमनि भास्करेऽस्मिन्,
दलोऽप्युडूनां न हि दृश्यतेऽयम् ।।

इतेति - विधेः कर्मणः शक्तेः सामर्थ्यात् अङ्गिनां प्राणिनां सा प्रसिद्धा केवलबोधशक्तिः केवलज्ञानशक्तिः आभवतः आसंसारात् इतिं समाप्तिं इता गता। यथा येन प्रकारेण व्योमनि विहायसि अस्मिन् भास्करे सूर्ये उदिते सति उडूनां नक्षत्राणां अयं दलः समूहो न हि दृश्यते नावलोक्यते। 'नक्षत्रमृक्षं भं तारा तारकाप्युडुवास्त्रियाम्' इत्यमरः ।।१३।।

अर्थ - कर्म की सामर्थ्य से जीवो की वह केवलज्ञान की शक्ति अनादि संसार से उस तरह समाप्ति को प्राप्त हो रही है जिस प्रकार कि इस आकाश मे सूर्य के उदित होने पर नक्षत्रों का यह समूह नहीं दिखाई देता है ।।१३।।

[१४]

धूम्रप्रसूतिर्ज्वलतो यथा स्या—
दार्द्रेन्धनात् सा नियतेह दृष्टा ।
विरागदृष्टे र्न हि पुष्टितुष्टी,
स्यातां गृहे सा तु सरागदृष्टिः ।।

धूम्रेति - इह वसुधायां ज्वलतोऽनलात् यथा या धूम्रप्रसूतिर्भवति सा नियता आर्द्रेन्धनात्सजलेन्धनात् दृष्टा विलोकिता। विरागदृष्टेः विरागा रागरहिता दृष्टिर्यस्य तस्य पुष्टितुष्टी पुष्टिश्च तुष्टिश्च पोषणसंतोषौ न हि स्याताम् भवेताम् । सा पुष्टितुष्टिप्रदा दृष्टिः गृहे तु स्यात् । यथा ज्वलतोऽग्नेर्धूम्रप्रादुर्भूतिरार्द्रेन्धनसंयोगाद्भवति तथा पुष्टितुष्टीसरागभावाद् गृहवासिनामेव स्यातां न तु गृहत्यागिनामनगाराणामिति भावः।।१४।।

अर्थ - जिस प्रकार जगत् मे अग्नि से जो धूम की उत्पत्ति देखी जाती है वह गीले इन्धन के संयोग से देखी गयी है। इसी प्रकार पोषण और संतोष सरागदृष्टि के होते हैं, विरागदृष्टि के नहीं। वह सरागदृष्टि घर में रहने वालो के होती है, गृहत्यागी मुनियों की नहीं ।।१४।।

[१५]

अध्यात्मशास्त्रं शमिने सुधा स्यात्,
सङ्गात्मनेऽस्मिन् विषमं विषं तत् ।
मीनस्य नीरं खलु जीवनं हा,
मृत्युः परस्मै विदितं न केन ?।।

अध्यात्मेति - अध्यात्मशास्त्रम् आत्मनीति अध्यात्मं तस्य शास्त्रमात्मस्वरूप-विवेचको ग्रन्थः शमिने शान्तस्वभावाय मुनये सुधा पीयूषं स्यात्। अस्मिन् जगति सङ्गात्मने परिग्रहसहिताय गृहिणे तदात्मशास्त्रं विषमं तीव्रं विषं गरलं स्यात् । खलु निश्चयेन नीरं जल मीनस्य मत्स्यस्य जीवनं जीवनदायकं परस्मै तु मृत्युः प्राणान्तकरं स्यादिति केन न विदितं ज्ञातम्? सर्वैर्ज्ञातमित्यर्थः 'हा' खेदे पात्रस्य योग्यतामाकलय्यैव शास्त्रोपदेशो हिताय भवतिश्रोतॄणामिति भावः ।।१५।।

अर्थ - इस जगत् मे अध्यात्मशास्त्र, शान्तपरिणामी—गृहत्यागी मुनि के लिये अमृत रूप होता है, परन्तु परिग्रही गृहस्थ के लिये तो विषम विषरूप होता है। जैसे निश्चयत पानी मछली के लिये जीवन– प्राणदायक परन्तु दूसरे के लिये मृत्युरूप है, यह कौन नहीं जानता ?

[१६]

स्वभाव-भुक्तिर्न विभावमुक्ति—
स्तनूभृतिस्त्यक्ततनौ यथा स्यात्।
प्रकाशशक्ति र्न हि गन्धभावो,
दुग्धेऽमलत्वं तु घृते समस्तु।।

स्वभावेति - त्यक्ततनौ त्यक्ता तनुः शरीरं येन तस्मिन् मृते इत्यर्थः तनूभृति शरीरिणि यथा न स्वभावस्य भुक्ति संवेदनं भवति न विभावमुक्तिः विकृतपरिणामोपरतिः स्यात्। तदेवोदाह्रियते-दुग्धे क्षीरे न प्रकाशशक्तिरस्ति न च गन्धभावो विद्यते तु किन्तु तत्सर्वममलत्वं निर्मलत्व प्रकाशकत्वं सुगन्धसत्वं च भवति। यथा घृते तत्स्वभावः प्रकटीभवति न तु तत्पूर्वपरिणामे दुग्धे तथैव सर्वगुणविकासः शुद्धात्मन्येव भवतीति भावः।।१६।।

अर्थ - जिस प्रकार मृत प्राणी मे न स्वभाव का संवेदन है और न विभाव का मोचन, उसी प्रकार प्रकाश की शक्ति और गन्ध का सद्भाव दूध मे नहीं है किन्तु घृत मे अच्छी तरह है। तात्पर्य यह है कि अशुद्ध दशा मे शरीर का परित्याग – मरण होने पर भी आत्मस्वभाव का वेदन नहीं होता और न विकारी भावो का मोचन। किन्तु यह सब शुद्ध दशा होने पर होता है ।।१६।।

[१७]

भोगोपभोगेषु रतो न, मानी,
योगोपयोगेषु परः प्रमाणी ।
नासाग्रदृष्टि र्न हि सान्यथा ते,
विनेति मानेन मनोऽनुमन्ये ।।

भोगेति - भगवन्! त्वं भोगोपभोगेषु भोगाश्च सकृद्भोग्या, उपभोगाश्च, भूयोभूयो भोग्याश्च तेषु भोगोपभोगपदार्थेषु रतो लीनो न, अतएव मानी स्वाभिमानी असि। योगोपयोगेषु ज्ञानध्यानेषु परो लीनः, अतएव प्रकृष्टमानयुक्तोऽसि यदि चेदन्यथा त्वयि मानित्वं प्रमाणित्वं च यदि न स्यात् तर्हि नासाग्रदृष्टि र्न स्यात्। मानेन विना मनः कुतः स्यादित्यहम् अनुमन्ये।।१७।।

अर्थ– हे भगवान्! आप भोग और उपभोग मे रत–लीन नहीं हैं इसलिये मानी–स्वाभिमानी है तथा योग–ध्यान और उपयोग–ज्ञानदर्शन मे पर–तत्पर हैं इसलिये प्रमाणी–प्रकृष्ट मान से युक्त है। पक्ष मे प्रमाण ज्ञान से सहित है। यदि ऐसा नही माना जाय तो आपकी नासाग्रदृष्टि नही हो सकती। मान के विना मन कैसे रह सकता है, यह अनुमान करता हूँ।।१७।।

[१८]

भूत्वा नरोऽयं सुकृतात् सुसङ्गं,
व्रतं कदं नोऽप्यकदं प्रयाति ।
उदारदातारमगं सरिन्न,
क्षारं च वार्धिं कृपणं समेति ।।

भूत्वेति - अयं प्राणी सुकृतात् पुण्यात् नरो मनुष्यो भूत्वा कदं सुखदं व्रतं पापोपरमं न प्रयाति, अपि तु अकदं दुःखदं सुसङ्गं परिग्रहं प्रयाति। यथा सरित् निम्नगा उदारदातारं उत्कृष्टदानशीलम् अगं शैलं वृक्षं वा न समेति प्राप्नोति किन्तु क्षारं लवणस्वभावं कृपणमदातारं वार्धिंसागरं समेति ।अतएव च सा निम्नगा कथ्यते।।१८।।

अर्थ - यह प्राणी पुण्य से मनुष्य होकर सुखदायक व्रत को प्राप्त नहीं होता किन्तु दुःखदायक परिग्रह को प्राप्त होता है। उचित ही है क्योकि नदी उदारदानशील अग–पर्वत अथवा वृक्ष को तो प्राप्त नहीं होती किन्तु खारे और कंजूस समुद्र के पास जाती है ।।१८।।

[१९]

असंयते श्रीमति धीमतीह,
विना प्रयत्नेन मदस्य भावः ।
दृष्टेरभावात् किल तापसेऽपि,
निद्रा निशायां, समुपैति प्रायः ।।

असयत इति - दृष्टेर्विवेकदृशोऽभवात्। इह लोके असंयते संयमरहिते श्रीमति लक्ष्मीयुक्ते, धीमति सुधियि तापसेऽपि कृततपश्चरणे जनेऽपि प्रयत्नेन विना प्रयासमन्तरेण किल निश्चयतः मदस्य गर्वस्य भावः सद्भावः दृश्यत इति शेषः । तत्समर्थयति – निशायां विभावर्यां प्रायो निद्रा समुपैति समागच्छति। यथा निशायां निद्रा निसर्गादायाति तथा संयमरहितेषु श्रीमत्प्रभृतिषु मदस्य सद्भावो निसर्गाद् दृश्यत इत्यर्थः।।१९।।

अर्थ– विवेकपूर्ण दृष्टि का अभाव होने से संयमहीन, श्रीमान्, धीमान् और तापसी मे भी प्रयत्न के विना ही गर्व का सद्भाव होता है यह ठीक है क्योंकि प्राय रात्रि मे निद्रा प्रयत्न के विना आती ही है।।१९।।

[२०]

विनात्र रागेण वधूललाटो,
विनोद्यमेनापि विभातु देश ।
दृष्ट्या विना सच्च मुनेर्न वृत्तं,
रसेन शान्तेन कवे र्न वृत्तम् ।।

विनेति - अत्र भुवि रागेण कुङ्कुमेन विना वधूललाटो ललनाभालो, उद्यमेन व्यवसायेन विना देशोऽपि जनपदोऽपि दृष्ट्या सम्यग्दर्शनेन विना मुनेः सद्वृत्तं सम्यक्चारित्र शान्तेन रसेन विना कवेः काव्यकर्तुः वृत्तं छन्दोऽपि न विभातु न शोभताम्। 'त्रिषु वृत्तं तु चरिते वृत्तं छन्दसि वर्तते' इति विश्वलोचनः। विभावानुभावसंचारिभावसंयोगाद् व्यक्त स्थायिभावो रसः कथ्यते। स च शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकाः। वीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ शान्तोऽपि नवमः स्मृतः।।' इत्युक्तेर्नवविधो भवति ।।२०।।

अर्थ - इस पृथिवी पर कुड्कुम के विना स्त्री का ललाट, व्यवसाय–उद्योग के विना देश, सम्यग्दर्शन के विना मुनि का सम्यक्चरित्र और शान्तरस के विना कवि का छन्द सुशोभित न हो ।।२०।।

[२१]

आसन्नमृत्युर्विषयी कषायी,
निष्क्रान्तकान्तिर्ननु दीप्तमोहः ।
अत्यन्तवृद्धा गहनेऽम्लिकास्तु,
तथापि वृद्धाम्लिकता न सास्तु ।।

आसन्नेति - आसन्नमृत्युः आसन्नो निकटस्थो मृत्युर्मरणं यस्य तथाभूतः। विषयी पञ्चेन्द्रियविषयासक्तः। कषायी प्रदीप्तक्रोधादियुक्तः। निष्क्रान्तकान्तिः निष्क्रान्ता निर्गता कान्तिर्दीप्ति र्यस्य तथाभूतो ननु निश्चयेन दीप्तमोहो दीप्तो मोहो यस्य तथाभूतः तीव्ररागादियुक्तो भवति। तदेवोदाहरति— गहने विपिने अम्लिका 'इमली' इति प्रसिद्धपादपा यद्यपि सन्तु तथापि सा प्रसिद्धा स्वभावभूता आम्लिकता अम्लरसयुक्तता नास्तु? न भवतु अपितु भवत्येव। काकुप्रयोगः 'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' इत्यभिधानात् ।।२१।।

अर्थ - जिसकी मृत्यु निकट है तथा कान्ति निकल चुकी है ऐसा विषयकषाय से युक्त मनुष्य निश्चय मे तीव्रमोह से युक्त देखा जाता है जैसे वन मे इमली के वृक्ष पुराने तो होते है पर उनका खट्टापन क्या वही नहीं रहता? ।।२१।।

[२२]

शृङ्गार एवैकरसो रसेषु,
न ज्ञाततत्त्वाः कवयो भणन्ति ।
अध्यात्मशृङ्गं त्विति राति शान्तः,
शृङ्गार एवेति ममाशयोऽस्ति ।।

शृङ्गार इति - रसेषु शृङ्गार एव एकरसः एकश्चासौ रसश्चेति एकरसो मुख्यरसोऽस्ति 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः। इत्येवं ज्ञाततत्त्वाः ज्ञातं तत्त्वं यैस्ते तथाभूताः कवयो न भणन्ति न कथयन्ति। 'अध्यात्मस्य शृङ्गं शिखरं सर्वोच्चस्थानं राति ददातीति शृङ्गार इति निरुक्त्या शान्तः शान्ताभिधानो रस एव शृङ्गार एतन्नामा रसोऽस्ति। इत्येवं मम काव्यकर्तुः आशयोऽभिप्रायोऽस्ति। 'अभिप्रायश्छंद आशयः' इत्यमरः। शृङ्गं मन्मथोद्भेदं राति ददातीति शृङ्गार इति निरुक्तिः शृङ्गारपदस्य न ग्राह्या किन्त्वध्यात्मस्य शृङ्गं शिखरं राति ददातीति ग्राह्येति भावः ।।२२।।

अर्थ - 'रसो मे एक शृङ्गार रस ही प्रमुख है' ऐसा यथार्थ तत्त्व को जानने वाले कवि नहीं कहते हैं। 'अध्यात्म के शृङ्ग - शिखर - सर्वोच्च स्थान को जो देता है वह शृङ्गार है इस निरुक्ति से शान्त ही शृङ्गार रस है' ऐसा मेरा अभिप्राय है ।।२२।।

[२३]

तीर्थङ्कराणां शिवकेशवानां,
नामावली सा बलदेवकानाम् ।
किं विस्मृता नो जगता मृता या—
प्यस्माद‍ृशां कास्तु कथेतरेषाम् ।।

तीर्थेति - **तीर्थङ्कराणां वृषभादीनां शिवकेशवानां शिवाश्च रुद्राश्च केशवाश्च नारायणाश्च तेषां। बलदेवकानां बलदेवा एव बलदेवकास्तेषां बलभद्राणां या नामावली मृता दिवंगता सापि किं जगता लोकेन नो विस्मृता विस्मृतिपथं नीता। अस्माद‍ृशां माद‍ृक्षाणाम् इतरेषामन्येषां का कथा चर्चा अस्तु भवतु। तीर्थंकरादीनामपि नामावली यदा जगता विस्मृता तदास्माकं सामान्यपुरुषाणां किं विस्मृता नो भविष्यति? अतो लोकख्यातेर्निवृत्तिरेव श्रेयसीति यावत् ।।२३।।**

अर्थ - तीर्थंकर, रुद्र, नारायण और बलभद्रों की भी नामावली मरने के बाद जब जगत् ने भुला दी तब हमारे जैसे साधारण पुरुषो की तो कथा ही क्या हो ?।।२३।।

[२४]

अर्थेन युक्तं नरजीवनं न,
चार्थे नियुक्तं मुनिजीवनं चेत् ।
खपुष्पशीलं च भुवीक्षुपुष्प—
वदेव वन्द्यं न विदुर्विमानाः ।।

अर्थेनेति - **चेद् यदि नरजीवनं गृहिमनुष्यजीवनं अर्थेन धनेन युक्तं सहितं न, मुनिजीवन निर्ग्रन्थमुनिजीवनं च अर्थे नियुक्तं सपृक्तं तर्हि तत् भुवि पृथिव्या खपुष्पशीलं गगनकुसुमसद‍ृश इक्षुपुष्पवच्च पौण्ड्रकदण्डकुसुमवच्च वन्द्य वन्दनीय समादरणीय नास्तीति शेषः। इति विमाना विशिष्टज्ञानयुक्ता गर्वरहिता वा विदु र्जानान्ति ।।२४।।**

अर्थ - यदि गृहस्थ मनुष्य का जीवन धन से रहित है और मुनि का जीवन धन मे सलग्न है तो वह पृथिवी पर आकाश पुष्प और ईख के पुष्प के समान निष्फल है, अत. आदरणीय नहीं है, ऐसा ज्ञानी जन जानते है– कहते है ।।२४।।

[२५]

संज्ञाततत्त्वोऽप्यधनी गृही स ,
लोकेऽत्र द‍ृष्टो धनिकानुगामी ।
श्वा स्वामिनं वीक्ष्य यथाशुदीनः,
सुखाय संचालितलूमकोऽस्तु ।।

सञ्ज्ञातेति- **संज्ञाततत्त्वोऽपि संज्ञातं सम्यगवबुद्धं तत्त्वं वस्तुस्वरूपं येन तथाभूतोऽपि गृही यदि अधनी धनरहितोऽस्ति तर्हि सः। अत्र लोके धनिकानुगामी धनिकान् अनुगच्छतीत्येवंशीलो दृष्टो विलोकितः। स्वामिनं वीक्ष्य दृष्ट्वा सुखाय सुखप्राप्त्यै संचालितलूमकः संचालितपिच्छः श्वा यथा कुक्कुर इव आशु शीघ्रं दीनो वराकोऽस्तु भवतु। ज्ञाततत्त्वोऽपि निर्धनो गृही धनिकानुगामी दृश्यतेऽयं खेदस्य विषयोऽस्तीति भावः ।।२५।।**

अर्थ - वस्तुतत्त्व का ज्ञाता होकर भी निर्धन गृहस्थ सुख प्राप्ति के लिये उस प्रकार धनिकों का अनुगमन उनकी हाँ में हाँ मिलाता हुआ देखा गया है जिस प्रकार कि मालिक को देखकर सुख पाने की इच्छा से पूँछ हिलाता हुआ कुत्ता शीघ्र दीन हो जाता है ।।२५।।

[२६]

निश्रेयसोऽस्मै मुनये पथीह,
सङ्गोऽप्यणुः संचरतेऽस्ति विघ्नः ।
वाताहतः पुच्छकमण्डलोऽपि,
शिखण्डिने स्वस्य यथास्त्यरण्ये ।।

निश्रेयम इति - **इह लोके निश्रेयसो मोक्षस्य पथि मार्गे संचरते संचरणं कुर्वते, अस्मै मुनये, अणुरप्यल्पपरिमाणोऽपि सङ्गः परिग्रहो विघ्नो बाधकोऽस्ति। तदेवोदाहरति - वाताहतो वातेन वायुना हतः पीडितः यथा स्वस्य निजस्य पिच्छकमण्डलोरपि कलाप-समूहोऽपि, अरण्ये विपिने सचरते विहरते शिखण्डिने मयूराय विघ्नो बाधकोऽस्ति।।२६।।**

अर्थ - यहा मोक्षमार्ग मे सचार करने वाले इस मुनि के लिये अल्प भी परिग्रह उस तरह विघ्न करने वाला है, जिस तरह कि वन मे विचरने वाले मयूर के लिये वायु से ताडित उसके निजी पिच्छो का समूह ।।२६।।

[२७]

सङ्गस्तु सङ्गोऽस्तु समाधिकाले,
संघस्य भारो यमिनेऽस्तु सङ्गः ।
वृद्धाय वा भूषणकानि कानि,
लघूनि वस्त्राणि गुरूणि सन्तु ।।

सङ्घस्त्विति - यमिने मुनये समाधिकाले संन्यासावसरे सङ्घःपरिग्रहः सङ्घोऽस्तु परिग्रहो भवतु। स तु परिग्रहोस्त्येव किन्तु संघस्य चतुर्विधसाधुसमूहस्य भारोऽपि सङ्घः परिग्रहो भवति। अतएवाचार्यः समाध्यवसरे सङ्घस्य भारमन्यस्मै समर्प्य समाधिं गृह्णातीति भावः। तदेवोदाहरति वा यथा 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवार्थेऽपि समुच्चये' इति विश्वःकानि सुखरूपाणि भूषणकानि ह्रस्वानि भूषणानि भूषणकानि लघुभूषणानीति यावत् लघूनि गुरुत्वरहितानि वस्त्राण्यपि गुरूणि दुर्भराणि 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्वः अथवा भूषणकानि कानि किं वस्तूनि लघूनि वस्त्राण्यपि गुरूणि भान्ति।।२७।।

अर्थ - मुनि के लिये समाधि के समय परिग्रह तो परिग्रह है ही परन्तु सङ्घ का भार–दायित्व भी परिग्रह हो जाता है। जैसे वृद्ध के लिये सुखदायक लघु आभूषण और वस्त्र भी भारी हो जाते है अथवा वृद्ध के लिये अल्प आभूषण क्या है, लघु वस्त्र भी भारी लगने लगते है ।।२७।।

[२८]

कायेन वाचा तु गुरु कठोरो,
हितैषिणः स प्रति तान् विनेयान् ।
तथा न चित्तेन मृदुर्दयैक–
धामा लघुः श्रीफलवत् सदास्तु।।

कायेनेति - हितैषिण हितमिच्छन्तीत्येवशीलाः हितैषिणस्तान् हिताभिलाषिणः तान् सङ्घस्थितान् विनेयान् शिष्यान् प्रति स गुरुराचार्यः कायेन देहेन वाचा वाण्या तु कठोरः कठिनाचारप्रियो यथा भवति तथा चित्तेन मनसा न भवति। मनसा तु श्रीफलवत् नारिकेलवत् मृदु कोमलः दयैकधामा दयायाः करुणाया एकमद्वितीयधाम स्थानं लघुः गम्य सदा सर्वदा अस्तु भवतु ।।२८।।

अर्थ - हिताभिलाषी सघस्थ शिष्यो के प्रति गुरु काय और वचन के द्वारा कठोर भले ही हों परन्तु मन से नारियल के समान कोमल, दया का प्रमुख स्थान और सुगम्य सदा रहना चाहिये ।।२८।।

[२९]

पापाय पापैर्जिनवाक् श्रिता सा ,
पुण्याय पापातिगकैः पुनीता ।
जलस्य धारा रसमिक्षुणा च,
निम्बोरगाभ्यां कटुतां सुनीता ।।

पापायेति - पापैः पापं विद्यते येषांते पापास्तैः पापयुक्तैर्जनैः 'अर्शआदिभ्योऽच्' इत्यनेन मतुबर्थेऽच् प्रत्ययः। पुनीता पवित्रा ज्ञानवैराग्यकारणत्वादिति यावत् सा प्रसिद्धा जिनवाक् जिनवाणी पापाय विषयकषायपोषणहेतवे श्रिता गृहीता। पापातिगकैः पापमतिक्रम्य गच्छन्तीति पापातिगाः ते एव पापातिगकास्तैः पुण्याय सुकृताय विषयकषायनिवृत्यै श्रिता सेविता। तदेवोदाहियते जलस्य सलिलस्य धारा प्रवाहः इक्षुणा रसालेन रसं माधुर्यं सुनीता प्रापिता निम्बोरगाभ्यां निम्बश्चोरगश्च निम्बोरगौ पिचुमर्दसर्पौ ताभ्याम् च कटुतां कटु स्वभावं सुनीता ।।२९।।

अर्थ - पापी मनुष्यो ने पवित्र जिनवाणी का आश्रय पापकार्य— विषयकषाय की पुष्टि के लिये लिया है और निष्पाप- पापरहित मनुष्यो ने पुण्य के लिये। जैसे ईख जल की धारा को मधुररस प्राप्त कराती है और नीम तथा सर्प कड़वा रस ।।२९।।

[३०]

यातोऽस्म्यहं - कारविकारभावं,
कायस्य नो तं ममकारभावम् ।
यास्याम्यहं कायनिकायभावं,
नात्मा भृशं यन्मम कारभावम् ।।

यात इति - कायस्य शरीरस्य विषये अहंकारविकारभावं दर्शनमोहोदयेन जाता परस्मिन्नहंन्बुद्धिरहंकारः अहंकारश्चासौ विकारभावश्चेति अहंकारविकारभावस्तं, नो यातोऽस्मि। एवं ममकारभावं चारित्रमोहोदयेन जाता परस्मिन् ममत्वबुद्धि र्ममकारः सचासौ भावश्चेति ममकारभावस्तं नो यातो न प्राप्तोऽस्मि। अहं समुत्पन्नप्रज्ञः कायनिकायभावं काये शरीरे निकायभावं गृहभावं यास्यामि प्राप्स्यामि, शरीरेऽहंकारं ममकारं च त्यक्त्वा तदात्मनो गृहं निवासस्थानं जानामीति भावः। यत् यस्मात् मम आत्मा भृशं सातिशयं कारभावं कालभावं मरणं न यास्यति। 'यमकादौ भवेदैक्यं डलो र्वबो रलोस्तथा' इत्युक्तत्वात् कारपदेन कालस्य ग्रहणम् ।।३०।।

अर्थ - मै शरीर के विषय मे अहंकारभाव को और प्रसिद्ध ममकारभाव को प्राप्त नहीं हुआ हूँ अर्थात् शरीर से मेरा अहंभाव और ममत्वभाव नहीं है। मै शरीर मे निकायभाव गृहभाव को प्राप्त हूंगा अर्थात् शरीर को गृहरूप मानूंगा जिसके फलस्वरूप मेरा आत्मा कालभाव-मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकेगा।।३०।।

[३ १]

पापेन पापं न लयं प्रयाति,
पुनस्तु पुण्यं पुरुषं पुनातु ।
मलं मलेनालमलं लयं तत्,
विना विलम्बेन जलेन याति ।।

पापेनेति - **पाप दुरितं पापेन दुरितेन लयं विनाशं न प्रयाति पुनस्तु किन्तु पुण्यं पुरुषं पुनातु पवित्रं करोतु विदधातु। पुण्येन पुरुष पूतो भवतीत्यर्थः। तदेवोदाहरति—मलेन मल लयं नाश न प्रयाति तत् मलेन अलमलं व्यर्थं व्यर्थमित्यर्थः। किन्तु जलेन सलिलेन विलम्बेन विना शीघ्रं लय याति ।।३१।।**

अर्थ - पाप से पाप विनाश को प्राप्त नहीं होता किन्तु पुण्य मनुष्य को पवित्र करता है। जैसे मल से मल नाश को प्राप्त नहीं होता। अत मल धोने के लिये बिल्कुल व्यर्थ है किन्तु जल के द्वारा वह मल शीघ्र ही नाश को प्राप्त हो जाता है ।।३१।।

[३ २]

विश्वस्य सारं प्रविहाय विज्ञ,
कः स्व त्वटेत् स्वं भुवि वीतमोहः ।
निस्सारभूतं किमु तक्रमिष्टं,
स्वादिष्ट आप्ते नवनीतसारे ।।

विश्वस्येति - **भुवि पृथिव्यां वीतमोहो वीतो मोहो यस्य तथाभूत मोहरहित को विज्ञ को विशेषज्ञ। विश्वस्य भुवनस्य सार श्रेष्ठ स्वमात्मान प्रविहाय त्यक्त्वा स्व धनम् अटेत् गच्छेत् प्राप्तुमिच्छेदिति यावत्। तदेवोदाहरति - इष्टेऽभिलषिते स्वादिष्टे स्वादुतरे नवनीतसारेनवनीत एव सारस्तस्मिन् आप्ते सति निस्सारभूतं सारहीनं तक्र मथित किमु इष्ट भवति? अपि तु नैव।।३२।।**

अर्थ— पृथ्वी पर ऐसा कौन निर्मोह ज्ञानी पुरुष है जो सब पदार्थों मे सारभूत अपने आत्मा को छोडकर धन को प्राप्त करना चाहे। स्वादिष्ट मक्खन रूप सार के प्राप्त हो जाने पर क्या सारहीन छाछ इष्ट होती है अर्थात् नहीं ।।३२।।

[३ ३]

धनार्जनारक्षणयोर्विलीनो,
विना सुखेनार्तमना मृतो ना ।
मोहस्य शक्तिर्जगता न गम्या,
व्यथा गता सा चमरी यथात्र ।।

धनेति - धनार्जनारक्षणयोः धनस्य वित्तस्यार्जनं प्राप्तकरणम् आरक्षणं संरक्षणं च तयोः विलीनः समासक्तः अतएव आर्त्तमना आर्त्तं मनो यस्य स दुःखितहृदयः ना नरः सुखेन शर्मणा विना सुखमप्राप्यैव मृतो म्रियते स्म । यथा येन प्रकारेण सा प्रसिद्धा चमरी सुन्दरवालधियुक्ता सुरागौः वालधिवालसंरक्षणपरत्वेन व्यथां पीडां गता प्राप्ता। अतो मोहस्य लोभप्रवृतेः शक्तिः समर्थता जगता भुवनेन गम्या ज्ञातुं योग्या नास्तीति शेषः। यथा गुल्मलग्नवालधिश्चमरी पिच्छवालसंरक्षणलोभेन तत्रस्या लुब्धकेन मार्यते तथायं परिग्रहासक्तो नरः सुखमप्राप्यैव कालेन मार्यत इति भावः ।।३३।।

अर्थ - धन के उपार्जन और संरक्षण में लगा मानव सुख के विना दुःखी होता हुआ मर जाता है जैसे इस जगत् मे सुरागाय पूँछ के बालो की रक्षा मे संलग्न रह पीडा को प्राप्त होती। अत मोह की शक्ति–समर्थता जगत् के गम्य नहीं हैं – जानने योग्य नहीं है ।।३३।।

[३४]

शस्ताः प्रजाः सन्तु विनात्र राज्ञा,
राजा तथा नोऽस्तु विना प्रजाभिः ।
को नाम सिन्धुः परतन्त्र एव,
विन्दुः स्वतन्त्रः किल सिन्धुहेतुः ।।

शस्ता इति - अत्र जगति राज्ञा नृपेण विना शस्ताः श्रेष्ठाः प्रजाः सन्तु। तु किन्तु प्रजाभिः विना राजा नृपस्तथा तादृक् शस्त इति यावत् नो अस्तु न भवतु। भोगभूमौ राज्ञा विना प्रजा सुखेन निवसन्ति परन्तु कर्मभूमौ प्रजामन्तरेण राजा न भवति। तदेवोदाहरति- सिन्धुः सागरः को नामास्ति यः परतन्त्र एव विन्द्वायत्त एव वर्तते किल बिन्दुः पृषतः स्वतंत्रः सिन्धुहेतुः सागरव्यपदेशनिमित्तं भवति। स्वतन्त्रोऽल्पीयानपि शोभते परायत्तो महानपि न शोभते इत्यर्थः।।३४।।

अर्थ - इस जगत् मे राजा के विना उत्तम प्रजा भले ही रह सकती है परन्तु प्रजा के विना राजा नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रजा के रहने पर ही प्रजापति –राजा संज्ञा प्राप्त होती है। अत राजा प्रजा के अधीन होने से परतन्त्र है, प्रजा स्वतन्त्र है। पानी की बूँद सागर के विना स्वतन्त्र रह सकती है परन्तु बूंदो के विना सागर का अस्तित्व नहीं रह सकता, क्योकि बूदो का समूह ही सागर कहलाता है ।।३४।।

[३५]

भोगानुवृत्तिर्विधिबन्धहेतु—
र्योगानुवृत्तिर्भवसिन्धुसेतुः ।
बीजानुसारं कलितं फलं तत्,
किं निम्बवृक्षे फलितं रसालम् ।।

भोगेति - भोगानुवृत्तिः भोगानां पञ्चेन्द्रियविषयाणाम् अनुवृत्तिरनुगमनं विधिबन्धहेतुर्विधीनां कर्मणां बन्धस्य हेतुः कारणम्। योगानुवृत्तिश्च योगो विषयत्यागस्तस्यानुवृत्तिरनुगमनं भवसिन्धुसेतुः भवः संसार एव सिन्धुः सागरस्तस्य सेतुः पुलिनो वर्तते। तदेवोदाहरति तत् प्रसिद्धं फलं बीजानुसारं कलितं प्राप्तं दृश्यते। किं निम्बवृक्षे पिचुमर्दपादपे रसालम् आम्रं फलित समुद्भूतं? नैव समुद्भूतम् ।।३५।।

अर्थ - भोगो का अनुगमन कर्मबन्धन का कारण है और योग का अनुगमन ससार-सागर का पुल है। जगत् मे बीज के अनुसार ही फल प्राप्त होता है।क्या नीम के वृक्ष पर आम फलता है? अर्थात् नहीं।।३५।।

[३६]

त्यक्तस्तु सङ्गो गतमोहभावै—
स्तत्रानुभूतो न हि कष्टलेशः ।
स्निग्धत्वहीनात् पलितं च पत्रं,
तत् पादपाद् वा पतितं स्वभावात् ।।

त्यक्तेति - गतमोहभावैः गतो नष्टो मोहभावो ममत्वादिपरिणामो येषा तैः सङ्गः परिग्रहस्त्यक्त समुज्झितः किन्तु तत्र त्यागे तैः कष्टलेशः दुःखलवो न हि नैवानुभूतः भुक्तः। तदेवोदाह्रियते—पलितं पक्वं पत्रं पर्णं स्निग्धत्वहीनात् स्निग्धत्वेन सरसत्वेन हीनो रहितस्तस्मात् पादपाद् वृक्षात् स्वभावात् निसर्गात् पतितं भवति। वेति उपमार्थे।।३६।।

अर्थ - मोहभाव से रहित मनुष्यो के द्वारा जो परिग्रह छोड़ा गया है उसमे उन्होने रंच मात्र भी दुःख का अनुभव नहीं किया है। पका पत्र जैसे सरसता से रहित वृक्ष से टूट कर पडता है तो वह स्वभाव से पड़ता है ।।३६।।

[३७]

अक्षार्थरागो भवदुःखदाता,
धर्मानुरागोऽभवसौख्यदाता ।
प्रभातरागे शृणु सान्ध्यरागे,
किमन्तरं तत्र महन्न मित्र! ।।

अक्षार्थेति - अक्षार्थेषु हृषीकविषयेषु रागः स्नेहः भवदुःखदाता सांसारिकदुःखानां प्रदाता। धर्मानुरागः धर्मे सुकृतकार्येऽनुरागः प्रेमा भवबलीक्षयदाता निर्वाणसुखानां प्रदायकोऽस्ति । मित्र! अये सुहृद्! प्रभात–रागे प्रत्यूषरक्तवर्णे साम्ध्यरागे दिवसान्तलोहितवर्णे च किं महत् विपुलं अन्तरं वैशिष्ट्यं न वर्तते? इति शृणु समाकर्णय। प्रभाते प्राच्यां दृश्यमानलालिम्नः फलं सूर्योदयो भवति सायंच प्रतीच्यां दृश्यमान लालिम्नः फलं तिमिरप्रसारो भवतीति भेदो वेद्यः ।।३७।।

अर्थ - इन्द्रियविषयसम्बन्धी राग सांसारिकदुःख का देने वाला है और धर्मसम्बन्धी राग सांसारिकसुख का देने वाला है। सुनो मित्र! क्या प्रभात की लाली और संध्या की लाली में बड़ा अन्तर नहीं है? अवश्य है ।।३७।।

[३८]

उन्मत्ततोऽ प्यत्र सुपीतमद्यात्,
सुपीडितात् वृश्चिकदंशनेन ।
कपेश्च चित्तं चपलं नराणां,
धन्यो यमी यस्य लयं गतं तत् ।।

उन्मत्तत इति - अत्र जगति नराणां मनुष्याणां चित्तं चेतः उन्मत्ततः प्रकृत्या विक्षिप्तात् सुपीतमद्यात् सुपीतं मद्यं मैरेयं येन तस्मात्, वृश्चिकदंशनेन वृश्चिकस्य पिच्छविषस्य दंशनेन सुपीडितात् प्राप्ताधिककष्टात् कपेर्वानरादपि चपलं चञ्चलं भवति। यमी मुनिस्तु धन्यः श्लाघनीयोऽस्ति यस्य तत् चित्तं लयं गतं चापल्यरहितं जातम्।।३८।।

अर्थ - इस जगत् मे मनुष्यो का चित्त उस वानर से भी अधिक चञ्चल है जो स्वभाव से पागल है, जिसने मदिरा पी ली है और बिच्छू के काटने से अत्यन्त पीडित है। वह मुनि धन्य है जिसका कि चित्त विलीनता को प्राप्त है— स्थिर है ।।३८।।

[३९]

तथा प्रतीतिस्तु सुखस्य तत्र
सुखं न लेशं निजमोहभावात् ।
अर्थेषु खानां जलमन्थनेन,
फेनानुभावो हि तदाप्युदेति ।।

तथेति - निजमोहभावात् निजे स्वात्मनि मोहभावादज्ञानभावात्। खानामिन्द्रियाणां 'खमिन्द्रियं हृषीकं च स्रोतोऽक्षं करणं विदुः' इति धनंजयः। अर्थेषु

विषयेषु तथा तादृक् सुखित्वस्य प्रतीतिराभासो भवतु किन्तु तत्र सुखस्य शर्मणः लेशमल्पपरिमाणं नास्ति। जलमन्थनेन तदापि मन्थनवेलायामपि फेनानुभावो डिण्डीरानुभावो हि निश्चयेन उदेति उत्पद्यते परन्तु घृतस्योत्पत्तिर्न दृश्यते।।३९।।

अर्थ - आत्मविषयक अज्ञानभाव से इन्द्रियो के विषयो में सुखित्व की प्रतीति भले ही हो परन्तु उसमे सुख का लेश भी नहीं होता। जैसे जल के मन्थन–विलोलने से फेन की अनुभूति तो उस समय होती है परन्तु घी का अंश भी प्राप्त नहीं होता ।।३९।।

[४०]

मार्गं स्मृते र्यस्य गतो जिनेन्द्रोऽ—
प्येनो गतं तस्य लयं समस्तम् ।
नदादिनीरं मलिनं निरस्तं,
वागस्त्ययोगे भवतात् पवित्रम् ।।

मार्गमिति -जिनेन्द्रोऽष्टप्रातिहार्य मण्डितोऽर्हत्परमेष्ठी यस्य स्मृतेः मार्गं गतः प्राप्तस्तस्य समस्तम् एनः पापं 'वृजिनं कलिलमेनः' इति धनञ्जयः। लयं नाशं गतम्। वा यथा, अगस्त्ययोगेऽगस्त्यनक्षत्रस्य योगे मलिनं मलीमसं 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः। निरस्तं सत् मालिन्यरहितं सत् पवित्रं पूतं भवतात् स्यात्। जिनेन्द्रस्मरणेन ध्यातुरखिलानि पापानि विलीयंते तेन च त हृदयं शरदृतौ नदादिनीरमिव निर्मलं भवतीति भावः ।।४०।।

अर्थ - जिनेन्द्र देव जिसके स्मरण पथ को प्राप्त है, जो जिनेन्द्रदेव का ध्यान करता है उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते है। जैसे नदी आदि का मलिन पानी शरद् ऋतु मे निर्मल होता हुआ पवित्र हो जाता है ।।४०।।

[४१]

अयत्नदृष्टान् श्रुतकान् परेषां,
दोषान् दयाधाम-निवासिनस्ते ।।
स्वप्नेऽपि वाङ्मानसकाययोगै—
र्नोद्घाटयन्ति प्रशमाश्च सन्तः ।।

अयत्नेति - दयाधामनिवासिनः दयाकरुणैव धाम गृहं तस्मिन् निवसन्तीत्येवंशीलाः दयालव इत्यर्थः प्रशमाः प्रशमगुणोपेताः ते प्रसिद्धाः सन्तः सज्जनाः। अयत्नदृष्टान् अयत्नेन प्रयत्नमन्तरेण दृष्टा विलोकितास्तान् श्रुतकान् श्रुता एव श्रुतकास्तान् समाकर्णितान् परेषामन्येषाम् दोषान् अवगुणान् स्वप्नेऽपि स्वापेऽपि वाङ्मानसकाययोगैः वाक् च

मानसं च कायश्चेति वाङ्मानसकायाः ते च ते योगाश्च तैः नोद्घाटयन्ति न प्रकाशयन्ति। सन्तः परेषां निन्दां न कुर्वन्तीति भावः ।।४१।।

अर्थ - दयारूप घर के निवासी, शान्तपरिणामी सज्जन, स्वयं दृष्ट और सुने दूसरों के दोषों को मन–वचन– कायरूप योगो से स्वप्न मे भी प्रकट नहीं करते है।।४१।।

[४२]

भवाभिमुक्ता न भवे विभावे,
पुनश्च भीमेऽवतरन्ति दुःखे ।
तैलं तिलं तच्च घृतं तु दुग्धं,
पूर्वस्वरूपं न पुनः प्रयाति ।।

भवेति - भवाभिमुक्ता भवात् संसारात् अभिमुक्ता दूरंगताः सिद्धपरमेष्ठिनः पुनश्च भूयोऽपि विभावे विभावरूपे भवे संसारे पर्यये वा भीमे भयंकरे दुःखे च नावतरन्ति नावतीर्णा भवन्ति। तैलं स्नेहः तिलं, तत्प्रसिद्धं घृतं सर्पिश्च 'सर्पिराज्यं घृतं हविः' इति धनंजयः। दुग्धं क्षीरं पूर्वस्वरूपं प्राक्तनरूपम्।इदं तिले घृते च योज्यम्। पुनर्भूयः न प्रयाति न प्राप्नोति। यथा तैलं पुनस्तिलं न याति यथा घृतं च पुनर्दुग्धं न प्रयाति तथा जन्ममरणात्मकसंसारान्मुक्ताः पुनः संसारं नायान्तीति भावः ।।४२।।

अर्थ - संसार से मुक्त सिद्धपरमेष्ठी अशुद्ध भव–संसार अथवा पर्याय और भयंकर दु ख में पुन. नहीं आते।जैसे तैल अपने पूर्वरूप तिल को और घी अपने पूर्व रूप दूध को प्राप्त नहीं होता ।।४२।।

[४३]

लुब्धः स मुग्धो विषयेष्वघात्मा,
सम्प्राप्तदृष्टिस्तु ततोऽस्तु भिन्नः ।
करोतु नृत्यं मृदुमोदकान् वा,
खादन् स बालोऽत्र तथा न वृद्धः ।।

लुब्ध इति - विषयेषु पञ्चेन्द्रियभोगेषु लुब्धः समासक्तः स मुग्धो मूढः 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः ' इत्यमरः। अघात्मा पापात्मा अस्तु। तु किन्तु सम्प्राप्तदृष्टिः सम्प्राप्ता दृष्टिर्येन सः सविवेको जनः। ततः पूर्वोक्तम् भिन्नः पृथग्भूतोऽस्तु। सम्यग्दृष्टिर्विषयाननुभुञ्जानोऽप्यन्तरङ्गतो विरक्तत्वात्तादृक् पापात्मा न भवतीत्यर्थः तदेवोदाहरति - मृदुमोदकान् सुकोमललड्डुकान् खादन् अदन् बालः नृत्यं करोतु नृत्येन

मृदुमोदकानदन् मोदं प्रदर्शयतु वृद्ध स्थविरो न। वा औपम्ये।।४३।।

अर्थ - विषयो मे लुभाया मोही मनुष्य पापी है परन्तु सम्यग्दृष्टि उससे भिन्न हो। जैसे कोमल लड्डुओं को खाता बालक नृत्य करता है, वृद्ध नहीं।।४३।।

[४४]

न नाग्न्यमात्रं भवमुक्तिहेतु—
श्चित्तस्य नैर्ग्रन्थ्यमपीति शास्त्रम् ।
गवादयो ये पशवोऽपि नग्ना—
स्त्रस्ताः कथं स्युः शिवमन्यथा स्यात् ।।

नेति - नाग्न्यमात्रं नाग्न्यमेव नाग्न्यमात्रं केवलं नग्नत्व भवमुक्तिहेतुः भवान्मुक्ति र्भवमुक्तिस्तस्या हेतु कारणं न। चित्तस्य मनसः नैर्ग्रन्थ्यं निर्ग्रन्थस्य भावो नैर्ग्रन्थ्यं निष्परिग्रहत्वमपि हेतुरस्तीति शास्त्रमागमोऽस्ति। शारीरिक नग्नत्वेन सह मनसोऽपि नग्नत्वं मोक्षहेतुरस्तीति जिनागमो वदतीति भाव । अन्यथा एवं न स्यात् चेत्तर्हिये गवादयो वृषभप्रभृतय पशवोऽपि नग्नाः सन्ति ते त्रस्ता दुःखिनः कथं स्युः तेषामपि शिव श्रेयः स्यात् ।।४४।।

अर्थ - केवल नग्नता ही मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु मन की निर्ग्रन्थता भी उसके साथ कारण है ऐसा शास्त्र मे कहा है। यदि ऐसा न हो तो जो बैल आदि पशु नग्न है वे दु खी क्यो है ? उन्हे भी शिव—कल्याण अथवा मोक्ष प्राप्त होना चाहिये ।।४४।।

[४५]

गन्तुं लयं स्वात्मनि तेऽस्ति वाञ्छा
त्वयार्जवं चेतसि संश्रितं स्यात् ।
वक्रागतिर्यद्यपि सोरगाणां,
बिलप्रवेशे सरलैव दृष्टा ।।

गन्तुमिति - स्वात्मनि स्वकीयशुद्धस्वरूपे लयं लीनत्वं गन्तुं प्राप्तुं यदि हे भव्य! ते तव वाञ्छा अस्ति तर्हि त्वया चेतसि आर्जवं ऋजोर्भाव आर्जवं सरलत्वं कायवाङ्मनसामकौटिल्यमिति यावत् संश्रितं संसेवितं स्यात्। तदेवोदाहरति-यद्यपि उरगाणां सा प्रसिद्धा गतिर्वक्रा कुटिलास्ति तथापि बिलप्रवेशे बिले स्वस्थाने प्रवेशस्तस्मिन् सरलैव ऋजुरेव दृष्टा नयनपथं गता ।।४५।।

अर्थ - हे भव्य! स्वकीय आत्मा मे लीनता प्राप्त करने की तेरी इच्छा है तो तुझे

चित्त में सरलता का सेवन करना चाहिये। जैसे सांपों की वह प्रसिद्ध गति यद्यपि कुटिल है तथापि बिल में प्रवेश करते समय सीधी ही देखी गयी है ।।४५।।

[४६]

अब्धिः नदीभिश्चानल इन्धनौघै-
स्तृप्तः सुधाशीलमटेद्विषोऽपि ।
आरोहितोऽसौ भुवि पङ्गुनाद्रि-
र्योगान्न तृप्तोऽस्ति धनेन लोभी ।।

अब्धिरिति - **अब्धिः आपो धीयन्ते यस्मिन् सोऽब्धिः सागरः, नदीः सरिद्भिः, अनलोऽग्निश्च, इन्धनौघैरिन्धनसमूहैः, तृप्तः संतुष्टो भवेत्। विषोऽपि गरलोऽपि सुधाशीलं पीयूषस्वभावम् अटेत् प्राप्नुयात्। असौ प्रसिद्धः, अद्रिः पर्वतो भुवि पृथिव्यां पङ्गुना खञ्जेन आरोहितश्चटितस्यात् परन्तु लोभी लुब्धो जनः, धनेन वित्तेन योगात् संसर्गात् तृप्तः संतुष्टो नास्ति। असंभवत्कार्यं संभवद् भवेत् किन्तु धनेन लोभी संतुष्टो न भवेदित्यर्थः ।।४६।।**

अर्थ - समुद्र नदियो से और आग ईंधन के समूहो से सतुष्ट हो सकता है। विष अमृत के स्वभाव को प्राप्त हो सकता है और पृथिवी पर लूले मनुष्य के द्वारा पर्वत चढ़ा जा सकता है परन्तु लोभी मनुष्य धन के योग से संतुष्ट नहीं हो सकता।।४६।।

[४७]

मनोबलं तद् गुरु मुक्तिमार्गे,
वचोबलं वापि ततो लघु स्यात्।
लघिष्ठमस्त्यङ्गबलं, धनं धिक्,
तद् वस्तुतोऽस्मिन् न हि किंचिदस्ति ।।

मन इति - **मुक्तिमार्गे मोक्षमार्गे तद् दुर्लभं मनोबलं चेतोबलं गुरु सर्वश्रेष्ठमस्ति। वचोबलं वाणी सामर्थ्यमपि ततो मनोबलात् लघु स्यात्। अङ्गबलं शरीरसामर्थ्यं लघिष्ठं अतिशयेन लघु लघिष्ठ लघुतरं अस्ति। धनं वित्तं धिक् हि यतः तत् वस्तुतो यथार्थतः अस्मिन् मुक्तिमार्गे किञ्चित् किमपि नास्ति ।।४७।।**

अर्थ - मोक्षमार्ग में मनोबल श्रेष्ठ है, वचन बल भी उससे कुछ कम श्रेष्ठ है और शरीर बल सबसे लघु है परन्तु धन को धिक्कार है क्योंकि वह यथार्थतः मोक्षमार्ग में कुछ भी नहीं है ।।४७।।

[४८]

पापं वपुर्जं त्वणुकप्रमाणं,
वाक्कायजं यच्च ततोऽधिकं वा।
चित्तस्य कार्यं तु सुमेरुमानं,
पापान्मनोऽतोऽस्तु सदा सुदूरम् ।।

पापमिति - वपुर्जं शरीरप्रभवं पापं वृजिनं तु अणुकप्रमाणं सर्वतो लघ्वस्ति। वाक्कायजं वचशरीरप्रभवं वा यत्पापं तत् ततः शरीरप्रभवात्पापात् अधिकं भवेत्। तु किन्तु चित्तस्य मनसः कार्यं कृत्यं मनोजन्यं पाप सुमेरुमानं मेरुप्रमाणं सर्वतोऽधिकमिति यावत्। अस्तीतिशेषः। अतोऽस्मात् कारणात् मनश्चित्तं पापात् पाप्मनः सदा सर्वदा सुदूरं अतिशयेन दूरं विप्रकृष्टमस्तु भवतु। मनोजन्यं पापं सर्वतो गुरुतरमस्त्यतस्तत्त्याज्यमेवेति भावः ।।४८।।

अर्थ - शरीर से होने वाला पाप अणुप्रमाण है, वचन और शरीर से होने वाला पाप उससे अधिक है और मन से होने वाला पाप सुमेरुप्रमाण है– सबसे अधिक है इसलिये पाप से मन सदा दूर रहे।।४८।।

[४९]

दानेन भोगी भुवि शोभते स,
ध्यानेन शस्तेन तथा स योगी ।।
निःसङ्ग -पात्रस्तु निरीहवृत्त्या,
चेहा प्रतोली नरकस्य चोक्ता ।।

दानेनेति - भोगी भोगवान् गृही दानेन त्यागेन भुवि पृथिव्या शोभते तथा स प्रसिद्धो योगी मुनि शस्तेन शुभेन ध्यानेन धर्म्यशुक्लरूपेण शोभते। तु किन्तु निःसङ्ग पात्रो निर्ग्रन्थगुरुः निरीहवृत्त्या निस्पृहवृत्त्या शोभते। ईहा आकाङ्क्षा नरकस्य श्वभ्रस्य च प्रतोली वा प्रमुखद्वारमिव उक्ता कथिता।।४९।।

अर्थ - पृथिवी पर भोगी मनुष्य दान से, योगी प्रशस्त ध्यान से और निर्ग्रन्थ मुनि निःस्पृह वृत्ति से सुशोभित होता है, क्योंकि स्पृहा-वाञ्छा नरक के प्रमुखद्वार के समान कही गई है ।।४९।।

[५०]

सागारको वाप्यनगारको वा,
कर्मक्षयार्थं निरतोऽस्तु धर्मे ।
करोतु कार्यं कृषकः स कार्ष्यं,
धान्याय शस्यं न तृणाय हास्यम् ।।

सागारक इति - सागारको वा गृहस्थो वा अनगारको वा मुनिर्वा, कर्मक्षयार्थं त्रिविधकर्मविनाशार्थं धर्मे वीतरागसर्वज्ञदेवप्रणीते सदाचरणे निरतो लीनोऽस्तु। तदेवोदाहरति--स कृषकः कृषीवलः धान्याय धान्य-प्राप्त्यै कार्यं कृषि-सम्बन्धिकार्यं करोतु। तस्यैतत् कार्यं शस्यं प्रशंसनीयं भवति। तृणाय घासाय न प्रशस्यं किन्तु हास्यं हास्यकरं भवति। धर्माचरणस्य मुख्यप्रयोजनं कर्मक्षयोऽस्तीति भावः ।।५०।।

अर्थ - सागार हो चाहे अनगार, उसे कर्मक्षय के लिये ही धर्म मे लीन होना चाहिये (भोगोपभोग प्राप्ति के लिये नहीं) क्योकि किसान खेती का कार्य अन्न के लिये करता है तो प्रशस्त है और घास के लिये करता है तो हास्य--उपहास का पात्र होता है।।५०।।

[५१]

पात्राय देयं विधिना प्रदाय,
फलं प्रति स्याद् यदि यो निरीहः।
सदा स दातास्तु सतां मतोऽस्ति,
सुखाय वै भागुभयत्र कीर्तेः ।।५१।।

पात्रायेति - पात्राय योग्यपात्राय विधिना नवधाभक्तिपुरस्सरं देयं दातुं योग्यम् आहारादिकं वस्तु। प्रदाय दत्वा च य फलं प्रति निरीहो निस्पृहो यदि स्याद् तर्हि स दाता सदा सतां सत्पुरुषाणा मत समादृतोऽस्तु भवतु। वै निश्चयेन स दाता सुखाय भवति। उभयत्र लोके कीर्तेर्यशसो भाक् भजतीति भाक् प्रापक भवति ।।५१।।

अर्थ - योग्य पात्र के लिये विधिपूर्वक दान देना चाहिये और देकर यदि फल के प्रति नि स्पृह रहता है तो वह दाता सत्पुरुषो से समादृत होता है, उसका वह दान सुख के लिये होता है और वह दाता दोनो लोको मे कीर्ति का भाजन होता है।।५१।।

[५२]

दानं प्रशस्तं विनयेन साकं,
नम्रो हि दाता बुधसेवितोऽस्तु ।
सुपीतदुग्धं स वमन् सुतोऽपि,
जनीं समानां न मुदा प्रपद्येत् ।।५२।।

दानमिति - विनयेन नम्रतया साकं सह दानं प्रशस्तं श्रेष्ठं कल्याणकरमिति यावत्। हि यतो नम्रो विनयशीलो दाता दानकरो बुधसेवितो बुधैः सेवितो ज्ञानिजनसमादृतोऽस्तु भवतु। सुपीतदुग्धं सुष्ठु पीतं सुपीतं, सुपीतं च तद् दुग्धं चेति

सुपीत-दुग्धं सुपीतक्षीरं वमन् उद्गिरन् स मातृप्रियः सुतोऽपि शिशुरपि समाना मानेन सहिता तां सगर्वां जनीं मातरं मुदा हर्षेण न प्रपश्येत् नावलोकयेत्। साहंकारसावित्रीपायितं दुग्धं सुताय न रोचतेऽतः स तद्वमतीत्यर्थः ।।५२।।

अर्थ - विनय के साथ दिया हुआ दान अच्छा होता है, क्योकि विनम्र दाता ज्ञानिजनो से सेवित होता है। अच्छी तरह पिये दूध को उगलता हुआ शिशु भी मानिनी माता को हर्ष से नहीं देखता है।।५२।।

[५३]

चिन्तातुरोऽजस्रमयं ह्यगारी
द्विवल्लभो हा मरणं तथास्तु।
परस्परं धारितवैरभावैः,
शिष्यैर्गुरुः संयतकस्तथास्तु ।।

चिन्तेति - हि निश्चयेन, अयमेष, अगारी गृहस्थः अजस्रं सततं, चिन्तातुरः चिन्तया दुर्ध्यानेन आतुरो दुःखितो भवति। द्वे वल्लभे यस्य स द्विवल्लभो द्विपत्नीको गृही मरणं तथास्तु मरणवत् कष्टमनुभवतु। हा इति खेदे। परस्परं मिथः धारितवैरभावैः धारितो वैरभावो यैस्तैरन्योऽन्यं कलहायमानैः शिष्यैर्मौढ्यैः 'दीक्षितं मौढ्यं शिष्यं च' इति धनंजयः। गुरुः आचार्यः संयतकः संयत एव संयतकः संयमी, अपि तथास्तु द्विपत्नीकगृहीव चिन्तार्त्तो भवतु ।।५३।।

अर्थ - निश्चय से यह गृहस्थ निरन्तर चिन्ता से दु खी रहता है। फिर दो पत्नी वाला गृहस्थ हो तो उसका मानो मरण ही है। इसी प्रकार परस्पर वैर रखने वाले शिष्यो से सयमी गुरु भी निरन्तर चिन्ता से दु खी रहता है ।।५३।।

[५४]

व्रतेषु शीलं च दमो दमेषु,
खानां वरोऽयं रसनेन्द्रियस्य ।
दानं तु दानेष्वभयाह्वयं वै,
धर्मेषु धर्मो गदितोऽप्यहिंसा ।।

व्रतेष्विति - व्रतेषु अहिंसादिषु 'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्' इति व्रत लक्षणम्। शीलं ब्रह्मचर्यं प्रधानमिति शेषः। दमेषु वशीकरणेषु खानाम् इन्द्रियाणां दमो वशीकरणं वरः श्रेष्ठः। तत्र च रसनेन्द्रियस्य जिह्वेन्द्रियस्य अयं दमो वरः । तु किन्तु दानेषु त्यागेषु अभयाह्वयं अभयाख्यं प्राणिरक्षणरूपं वरं श्रेष्ठम्। धर्मेषु वै निश्चयेन अहिंसाधर्मो वरः श्रेष्ठः गदितः कथितः। अपि . समुच्चयार्थः।।५४।।

अर्थ - व्रतों में शील-ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है, दमन में इन्द्रियों का दमन, उसमे भी रसनेन्द्रिय का दमन श्रेष्ठ है, दानों में अभयदान श्रेष्ठ है और धर्मो मे अहिंसाधर्म श्रेष्ठ कहा गया है ।।५४।।

[५५]

ध्यानेषु शुक्लं च तपस्सु सत्सु,
ध्यानं निधानं स्वनिधेः प्रधानम् ।
विसर्जनं तद्, मधुरस्य सद्भिः,
श्लाघ्यं रसेषु प्रथमं प्रणीतम् ।।

ध्यानेष्विति - **ध्यानेषु आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लाभिधानेषु चतुर्षु ध्यानेषु 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्' इतिध्यानस्य लक्षणम्। शुक्लं तन्नामधेयं, सत्सु श्रेष्ठेषु तपःसु प्रायश्चित्ताद्यभ्यन्तरतपश्चरणेषु ध्यानं स्वनिधेः आत्मनिधेः प्रधान प्रमुखं निधानं कोष। रसेषु रसत्यागेषु मधुरस्य रसस्य विसर्जनं त्यागः सद्भिः साधुभिः श्लाघ्यं प्रशंसनीय प्रथमं प्रमुखं प्रणीत कथितम् ।।५५।।**

अर्थ - ध्यानो मे शुक्लध्यान, अन्तरङ्ग तपों मे ध्यान आत्मनिधि का निधान कहा गया है तथा रसो मे मधुररस् का त्याग सत्पुरुषो के द्वारा प्रशंसनीय प्रमुख त्याग कहा गया है ।।५५।।

[५६]

जिनागमेऽन्योन्यविरुद्धधर्मा,
नया न मानाय तदंशतोऽतः ।
परस्परं तत् प्रतिकूलमास्तां,
कूलद्वयं वै सरितेऽनुकूलम् ।।५६।।

जिनागम इति - **जिनागमे आर्हतदर्शने, अन्योन्यविरुद्धधर्माः अन्योन्यं मिथो विरुद्धो धर्म स्वभावो येषां ते तथाभूताः परस्परं विरुद्धधर्मं नित्यानित्यादिकं गृह्णन्तो नयाः एकदेशग्राहिणःश्रुतज्ञान-विकल्पविशेषास्तदंशतो वस्त्वेकदेशतः मानाय समादराय न सन्तीति शेषः। अतोऽस्मात् परस्परं प्रतिकूलं विरुद्धम् आस्तां, किन्तु वस्तुस्वरूपप्रतिपादने विरुद्धनययोरपि सार्थक्यं वर्तते। यथा कूलद्वयं तीरद्वयं परस्परं प्रतिकूलं सदपि वै निश्चयेन सरिते सरङ्गिण्यै अनुकूलं विद्यते ।।५६।।**

अर्थ– जैन-सिद्धान्त में परस्पर विरुद्ध नय सन्मान के लिये नहीं माने गये हैं क्योकि वे वस्तु के एक अंश को ग्रहण करते है अतः वे परस्पर विरुद्ध भले ही रहें परन्तु

वस्तु का पूर्ण स्वरूप कहने के लिये दोनो आवश्यक हैं जैसे नदी के दो तट परस्पर विरुद्ध रहते हुए भी नदी के लिये अनुकूल होते हैं ।।५६।।

[५७]

दुःखस्य मूलं तनुधारणं वा,
दुःखेषु दुःखं तु मनोगतं तत् ।
तत्रापि दुःखं च पराभवाद्धि,
स्वस्यावबोधे न हि दुःखमस्ति ।।

दु खस्येति - **दुखस्य असातस्य मूलं प्रमुखकारणं तनुधारण शरीरधारणमस्ति। दुखेषु अशर्मसु दु ख तु मनोगत मानसिक वर्तते। तत्रापि यत् पराभवाद् अनादराद् भवति तद् विशेषेण भवति। किन्तु स्वस्य स्वकीयशुद्धात्मन अवबोधे ज्ञाने सति निश्चयेन दुःखं न ह्यस्ति।।५७।।**

अर्थ - दु ख का मूल कारण शरीर का धारण करना है। दु खों मे भी मानसिक दु ख सब से प्रबल है, उसमे भी पराभव से जो होता है वह अधिक प्रबल है। स्वकीय शुद्ध आत्मा के ज्ञान होने पर निश्चय मे दु ख नही है ।।५७।।

[५८]

विमुक्तसङ्गा मनसा रमन्ते ,
तत्रैव चेद् ये न शिवीभवन्ति ।
मुञ्चन्ति ये यद्यपि कञ्चुकं वै ,
नो पन्नगा निर्गरलीभवन्ति ।।

विमुक्तेति - **विमुक्तसङ्गाः विमुक्तस्त्यक्तः सङ्ग परिग्रहो यैस्तथाभूताः सन्तोऽपि ये मनसा चेतसा तत्रैव सङ्ग एव रमन्ते रता भवन्ति चेत्? ते न शिवीभवन्ति कल्याणभाजो न जायन्ते। तदेवोदाहरति–ये पन्नगाः सर्पा यद्यपि कञ्चुकं निर्मोकं मुञ्चन्ति तथापि ते वै निश्चयेन नो निर्गरलीभवन्ति विषरहिता न भवन्ति ।।५८।।**

अर्थ - परिग्रह का त्याग करने वाले जो मनुष्य मन से उसी परिग्रह मे रमण करते है लीन रहते है– वे कल्याण के भाजन नहीं होते। जैसे सांप कांचुली तो छोड़ देते है परन्तु विष से रहित नहीं होते ।।५८।।

[५९]

सुखं सुखेषूत्तममात्मजं तत्,
या पञ्चमी सा गतिरुत्तमास्तु ।
प्रभासु सर्वासु मणिप्रभेव,
ज्ञानेषु विज्ञानमदोऽक्षयं स्यात् ।।

सुखमिति - सुखेषु शर्मसु तत् सुखमुत्तमं श्रेष्ठं भवति यद् आत्मजम् आत्मोत्थं भवति। तथा तेनैव प्रकारेण गतिषु सा गति उत्तमास्तु या पञ्चमी नारकतिर्यङ्-मानुषदेवातिरिक्तासिद्धानां भवति। सर्वासु निखिलासु प्रभासु दीप्तिषु मणिप्रभेव माणिक्यदीप्तिरिव ज्ञानेषु अदस्तत् दुर्लभतां विज्ञान केवलज्ञानम् अक्षयमविनश्वरं स्याद् भवेत् ।।५९।।

अर्थ - सुखो मे आत्मा से उत्पन्न होने वाला सुख उत्तम है। गतियो मे पञ्चमगति –सिद्धगति उत्तम है, सब प्रभाओ मे मणि की प्रभा उत्तम है। इसी प्रकार सब ज्ञानो मे वह अविनाशी केवलज्ञान उत्तम है ।।५९।।

[६०]

यथामतिः स्याच्च तथागतिः सा,
यथागतिः स्याच्च तथामतिः सा ।
मतेरभावात्तु गतेरभावो,
द्वयोरभावात् स्थितिराशु शैवे ।।

यथेति - यथा यादृशी मति शुभाशुभरूपा स्यात् तथा तादृशी शुभाशुभरूपा सा गति स्यात्। यथा यादृशी च गति स्यात्तथा तादृशी मतिर्बुद्धिः प्रवर्तते। तु किन्तु गते. शुभाशुभरूपाया बुद्धेरभावात् गतेरभावो भवति। द्वयोर्गतिमत्योरभावात् शैवे सिद्धालये आशु शीघ्र स्थितिरवस्थान स्यात् ।।६०।।

अर्थ - जैसे मति होती है वैसी गति होती है, जैसी गति होती है वैसी मति होती है, मति के अभाव से गति का अभाव होता है और गति-गति दोनो का अभाव होने से शीघ्र ही मोक्ष मे स्थिति होती है ।।६०।।

[६१]

जलाश्रिता मञ्जुलवीचिमाला,
स्तम्भाश्रितं तद् भवनं यथास्तु ।
ज्ञानादयो ये विनयाश्रिताः स्यु–,
र्गुणास्तथा तेऽपि वृथान्यथा स्युः ।।

जलेति - यथा येन प्रकारेण मञ्जुलवीचिमाला मनोहरतरङ्गसन्ततिः जलाश्रिता सलिलाश्रिता वर्तते तथा तत् प्रसिद्धं भवनं प्रासादः स्तम्भाश्रितं स्तम्भावलम्बितम् अस्तु। तथा ये ज्ञानादयः ज्ञानप्रभृतयो गुणाः सन्ति तेऽपि विनयाश्रिताः विनयावलम्बिताः स्युः। अन्यथा विनयावलम्बनाभावे ते ज्ञानादयो गुणाः व्यर्थाः स्युः अकार्यकरा भवेयुः ।।६१।।

अर्थ - जिस प्रकार मनोहर तरङ्गो की सन्तति जल के आश्रित है उसी प्रकार वह प्रसिद्ध प्रासाद खम्भो के आश्रित है। इसी प्रकार जो ज्ञानादि गुण है वे विनय के आश्रित रहे, अन्यथा वे गुण नहीं है।।६१।।

[६२]

अजेयसेनापि विना न राज्ञा,
राजा किरीटेन विना न भातु।
न्यूना गुणास्ते विनयेन सर्वे,
न भान्तु तस्माद्विनयः सताप्तः ।।६२।।

अजेयेति - अजेयसेनापि अजेयपृतनापि राज्ञा भूपतिना विना न भातु। राजा भूपतिः किरीटेन मुकुटेन विना न भातु । विनयेन विनम्रभावेन न्यूना रहिता ते गुणा ज्ञानादयो न भान्तु तस्मात् सता साधुपुरुषेण विनयः प्राप्तो मार्दवधर्मोऽङ्गीकृतः।।६२।।

अर्थ - अजेय सेना भी राजा के विना सुशोभित नहीं होती है, मुकुट के विना राजा सुशोभित नहीं होता और विनय से रहित गुण भी सुशोभित नहीं होते। इसीलिये सत्पुरुषो ने विनय को प्राप्त किया है।।६२।।

[६३]

अक्षप्रवृत्तेर्विषयोपलब्धि—,
स्ततः कषायाश्च ततोऽस्तु बन्धः ।
विधेर्गतिः स्याद् गतितोऽङ्गभारोऽ-
प्यक्षाणि तत्र प्रकटीभवन्ति ।।

अक्षेति - अक्षप्रवृत्तेरिन्द्रियप्रवृत्ते विषयोपलब्धिः स्पर्शादिविषयप्राप्ति, ततः कषाया क्रोधाद्या, ततो बन्धः कर्मबन्ध, विधेः कर्मबन्धात् गतिर्नरकादिः, ततः अङ्गभारो देहभार, तत्र देहे च, अक्षाणि इन्द्रियाणि प्रकटीभवन्ति। इन्द्रियवृत्तिरेव दुःखस्य मूलहेतुरस्ति ततोऽसौ परित्याज्येति भावः।।६३।।

अर्थ - इन्द्रियो मे प्रवृत्ति होने से विषयो की प्राप्ति होती है, उससे कषाय उत्पन्न

होते हैं, कषायो से कर्मबन्ध होता है, कर्म से गति होती है, गति से शरीर धारण करना पड़ता है और शरीर मे पुनः इन्द्रियां प्रकट होती हैं ।।६३।।

[६४]

पूर्वानुवृत्तिस्तु पुनश्चिरेयं,
परम्परा वा तरुबीजवृत्तिः ।
बीजे विदग्धे न तरोः प्रसूति-,
र्दान्तेषु खेषु स्वत आत्मसिद्धिः ।।

पूर्वेति - पुनर्भूयः। इयमेषा चिरा चिरकालादायाता पूर्वानुवृत्तिः पूर्वानुसारिणी परम्परा तरुबीजवृत्तिर्वा वृक्षबीजवृत्तिरिव वर्तते। यथा तरोर्बीजस्य बीजाच्च तरोः प्रसूतिः दृश्यते तथा पूर्वोत्तरयोः कार्यकारणभावसन्ततिरनादिकालात् प्रवर्तते। बीजे विदग्धे भस्मसाद्भूते सति तरोः प्रसूतिः उत्पत्तिर्न भवति। खेषु इन्द्रियेषु दान्तेषु वशीकृतेषु सत्सु आत्मसिद्धिः आत्मोपलब्धिः स्वतः स्वयमेव जायते इति शेषः।।६४।।

अर्थ - पूर्व पूर्व कारणो का अनुसरण करने वाली यह चिरकालीन परम्परा वृक्ष और बीज के समान है। अर्थात् वृक्ष से बीज होता है और बीज से वृक्ष होता है। बीज के जल जाने पर वृक्ष की उत्पत्ति नहीं होती। इन्द्रियो का दमन होने पर आत्मा की सिद्धि स्वय हो जाती है ।।६४।।

[६५]

जितेन्द्रियः संयमधारकः स,
ध्याने विलीनः सहजं सदास्तु ।
दुग्धे द्रुतं सा किल शर्करेव,
दम्यानि सद्भिः करणानि तस्मात् ।।

जितेन्द्रिय इति - जितेन्द्रियः जितानीन्द्रियाणि येन स वशीकृताक्षः स प्रसिद्धः संयमधारकः संयतः सहजं यथास्यात्तथा सदा सर्वदा ध्याने धर्मशुक्लध्याने विलीनः निरतस्तत्परः इत्यर्थः। अस्तु भवतु। यथा किल सा शर्करा सिता दुग्धे पयसि द्रुतं शीघ्रं किल विलीना भवति तथा। तस्मात् कारणात् सद्भिः साधुभिः करणानि इन्द्रियाणि 'खमिन्द्रियं हृषीकं च श्रोतोऽक्षं करणं विदुः' इति धनंजयः। दम्यानि दमनार्हाणि। जितेन्द्रिय एव सरलतया ध्यानं कर्तुमर्हतीति भावः।।६५।।

अर्थ - इन्द्रियो को जीतने वाला साधु सरलता से ध्यान मे उस तरह विलीन रहे

जिम तरह दूध मे शीघ्र ही शक्कर विलीन हो जाती है। इसलिये सत्पुरुषो के द्वारा इन्द्रिया दमन करने के योग्य है ।।६५।।

[६ ६]

ज्ञानान्न वृत्तान्न च भावनायाः,
सद्ध्यानशक्तेस्तु निजात्मशुद्धिः ।
पृथक् कृतं किं पयसो घृतं तत्,
विनाऽग्निना जोपलतो हिरण्यम् ।।

ज्ञानादिति - **निजात्मशुद्धि निजस्य स्वस्यात्मनश्चेतनालक्षणस्य शुद्धि पूतता ज्ञानान्न शास्त्रबोधान्न भवति । वृत्तात् चारित्रान्न भवति । भावनाया अनुप्रेक्षाया न भवति। तु किन्तु सदध्यानशक्ते सञ्च तद् ध्यान च सद्ध्यानं धर्म्मशुक्लध्यान तस्य शक्ते सामर्थ्यात् भवति। तदेवोदाहरति–किमग्निना विना पावकमन्तरेण पयसो दुग्धात् तत् उपलभ्यमान घृतमाज्य 'सर्पिराज्य घृत हवि' इति धनजय। वाथवा उपलत कनकपाषाणात् हिरण्य स्वर्ण पृथक् कृत विहितम्?।।६६।।**

अर्थ - स्वकीय आत्मा की शुद्धि ज्ञान से नहीं होती, चारित्र से नहीं होती और भावना से नहीं होती किन्तु ध्यान से होती है। क्या अग्नि के विना दूध से घी और पाषाण से स्वर्ण को पृथक् किया गया है? अर्थात् नहीं। कर्मक्षय के लिये ज्ञान, चारित्र और भावना के साथ ध्यान का होना आवश्यक है।।६६।।

[६ ७]

विशेषसामान्यचितं सदस्तु,
चितिद्वयेनाकलितं समं वै ।
एकेन पक्षेण न पक्षिणस्ते,
समुत्पतन्तोऽत्र कदापि दृष्टाः ।।

विशेषेति - **सद् द्रव्य विशेषसामान्यचित विशेषश्च सामान्यं च विशेषसामान्ये ताभ्या चित व्याप्त तन्मयम् अस्तु अत्र विशेषेण पर्याय सामान्येन च द्रव्यं विवक्षितम्। सत् आत्मतत्त्व वै निश्चयेन चितिद्वयेन चयन चितिश्चेतनेत्यर्थस्तस्या द्वयेन ज्ञानचेतनादर्शनचेतनायुगलेन सम सार्धम् आकलितं सहितम् अस्ति। तदेवोदाहरति - अत्र लोके ते पक्षिण खगा कि एकेन पक्षेण गरुता समुत्पतन्त उड्डीयमाना किं कदापि दृष्टा विलोकिताः? नैवेत्यर्थ।।६८।।**

अर्थ - वस्तु सामान्य और विशेष मे तन्मय है अर्थात् द्रव्य-पर्याय से युक्त है।

आत्मतत्त्व भी दर्शनचेतना और ज्ञानचेतना—दोनो से एक साथ तन्मयीभाव को प्राप्त है। इस लोक मे वे पक्षी क्या कभी एक पक्ष से उड़ते देखे गये हैं? नहीं।।६७।।

[६८]

हिताहिते ते निहिते हि ते स्तो,
निजात्मनि भ्रातरियं सदुक्तिः ।
परप्रयोगोऽत्र निमित्तमात्रः,
फलं ह्युपादानसमं सदास्तु ।।

हितेति - **हे भ्रात! ते प्रसिद्धे हिताहिते हित चाहितं चेति द्वन्द्वः श्रेयोऽश्रेयसी हि निश्चयेन ते तव निजात्मनि स्वकीयात्मनि निहिते स्थिते स्त इतीयं सदुक्ति सतां साधूनामुक्ति कथन अथवा सती चासौ उक्तिश्च सदुक्ति सूक्तिरस्तीति शेषः। अत्र हिताहितविषये परप्रयोगोऽन्यससर्ग निमित्तमात्रोऽस्ति हि निश्चयत फल कार्यं सदा उपादानसम उपादानसदृश अस्तु। यत्कार्यरूपेण परिणमति तदुपादानं यच्च तत्र सहायीभवति तन्निमित्तम् ।।६८।।**

अर्थ - हे भाई! तेरे हित और अहित तेरी ही निजात्मा मे निहित है यह सूक्ति अथवा सत्पुरुषो का कथन प्रसिद्ध है। पर-पदार्थ का प्रयोग तो इसम निमित्त मात्र है फल तो सदा उपादान के समान ही होता है ।।६८।।

[६९]

मानें तु मेयस्य सुखस्य दुःखे,
बन्धे हि मुक्ते र्धनिनो दरिद्रे ।
पात्रे तु दातुः पथिके पथोऽपि,
मुख्यस्य गौणे सुदृशोऽपि चान्धे ।।

[७०]

विज्ञस्य चाज्ञेऽप्यहिते हितस्य,
क्षुधाभिवृद्धौ भुवि भोजनस्य ।
यथात्र देशो दिनरात्रियुक्ते,
दिवाकरेन्द्वोः शृणु मूल्यमस्ति ।।

मानइति— **मीयतेऽनेनेति मान प्रस्थादि मापकपदार्थे सति मेयस्य— मातुं योग्यं मेयं गोधूमादिमेयपदार्थस्य, दुःखे इष्टवियोगादिजन्ये कष्टे सति सुखस्येष्टजनसंयोग—**

जातसातस्य, बन्धे सति पारतन्त्र्यजनकबन्धे सति मुक्तेः स्वातन्त्र्यस्य, दरिद्रे निर्धने सति धनिनो धनवतः, पात्रे दानार्हे सति दातुर्दानकर्तुः, पथिकेऽध्वगे सति पथोऽपि मार्गस्यापि, गौणेऽप्रधाने सति मुख्यस्य विवक्षितस्य प्रधानस्येति भाव, अन्धे दृष्टुमशक्ते सति सुदृशोऽपि सुलोचनस्यापि, अज्ञे ज्ञानरहिते सति विज्ञस्य विशिष्टज्ञानवतः, अहिते अकल्याणकारिणि सति हितस्य कल्याणकारकस्य, क्षुधाभिवृद्धौ क्षुधाया अभिवृद्धिस्तस्यां बुभुक्षा वृद्धौ सत्यां भोजनस्य भोज्यपदार्थस्य; यथा मूल्यं सार्थक्य मस्ति तथा दिनरात्रियुक्ते दिवसरजनीसहिते अत्र देशे दिवाकरेन्द्वोः दिवाकरश्चेन्दुश्चेति दिवाकरेन्दू वृद्धि तयो सूर्याचन्द्रमसो मूल्यं सार्थक्यमस्ति, इति शृणु समाकर्णय त्वमिति शेष।

मान इति-मान के रहते हुये मेय - पदार्थ का, दु.ख के रहते हुए सुख का, बन्ध के रहते हुए मुक्ति का, दरिद्र के रहते हुए धनी का, पात्र के रहते हुए दाता का, पथिक के रहते हुए पथ का, गौण—अप्रधान के रहते हुये मुख्य का, अन्धे के रहते हुए सुलोचन का, अज्ञानी के रहते हुए ज्ञानी का, अहित के रहते हुए हित का, क्षुधा के रहते हुए भोजन का और दिन रात से युक्त इस देश मे सूर्य चन्द्रमा का मूल्य है। सुनो!।।६९ - ७०।।

[७१]

विवाहितः संश्च वरो गृही सोऽ—,
विवाहिताद्धा व्यभिचारिणोऽपि ।
पापस्य हानिश्च वृषे मतिः स्यात्,
तथेतराद् यत् शृणु पापमेव ।।

विवाहित इति - **स प्रसिद्धो गृही गृहस्थो विवाहित उदूढभार्योऽपि सन् व्यभिचारिणो व्यभिचारशीलात् विवाहितात् उदूढभार्यात् वरः श्रेष्ठोऽस्ति। तयोस्तथात्वे पापस्य दुरितस्य हानिरपचय वृषे धर्मे मतिर्बुद्धि स्यात्। यत्र पापस्य हानिर्धर्मे च मति स्यात्तस्य पुण्यत्वं भवति। तथेतराच्च पापस्य वृद्धेः धर्मे चाप्रवृत्तेश्च पापमेव स्यात्। इति तत्त्वं शृणु हे भव्य! ।।७१।।**

अर्थ - व्यभिचारी अविवाहित मनुष्य की अपेक्षा विवाहित - स्वदारसंतोषी गृहस्थ श्रेष्ठ है। उसकी श्रेष्ठता का कारण पाप की हानि और धर्म मे रुचि है। इससे विपरीत कारणो—पाप की वृद्धि और धर्म मे अरुचि से पाप ही होता है। यह तत्त्व की बात सुन ।।७१।।

[७२]

दाता दयालुः परदुःखवैरी,
स श्रेष्ठिनः स्यात् कृपणात् प्रशस्तः ।
अन्यान्यवित्तं ददतस्तु दातु—
र्वरोऽप्यदाता नयमार्गगामी ।।

दातेति - परदुःखवैरी अन्यदुःखापहर्ता दयालुः कारुणिकः 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः। स प्रसिद्धः दाता दानकर्ता कृपणात् कदर्यात् श्रेष्ठिनो धनिकवरात् प्रशस्तः श्लाघ्यः अस्तीति शेषः। तु किन्तु अन्यान्यवित्तम्, अन्यान्यधनं ददतो वितरतो दातुः दानकर्तुरपेक्षया अदाता अदानकर्ता नयमार्गगामी नीतिमार्गपथिकश्चेत् वरः श्रेष्ठोऽस्ति।।७२।।

अर्थ - पर के दु ख को दूर करने वाला दयालु दाता कंजूष सेठ से अच्छा है। और दूसरे लोगो के धन-वस्तु को देने वाले दाता की अपेक्षा नीतिमार्ग पर चलने वाला अदाता श्रेष्ठ है ।।७२।।

[७३]

कनीयसा मे मनसा धृतो योऽ—
मूर्तश्च विश्वैकगुरुर्विरागः ।
श्रद्धादृशा वाधिगतोऽप्यतोऽहं,
भक्तोऽपि धन्यो भगवांस्तु धन्यः ।।७३।।

कनीयसेति - यतश्च, अमूर्तः स्पर्शादिरहितः विरागो विश्वैकगुरु विश्वस्मिन् एकोऽद्वितीयो गुरुः श्रेष्ठो दुर्भरश्च । यो मे मम स्तोतुः कनीयसा अतिशयेन अल्पं कनीयस्तेन अल्पपरिमाणेन मनसा हृदयेन धृतो धृतः श्रद्धादृशा वा श्रद्धैव दृक् दृष्टिस्तया अधिगतोऽपि ज्ञातोऽपि। अतोऽस्मात् कारणात् अहं भक्तः स्तोतापि धन्यः श्रेष्ठः भगवांस्तु पारमैश्वर्यधारकोऽर्हत्परमेष्ठी तु धन्यः श्रेष्ठोऽस्त्येव। तत्र किं वक्तव्यम् ? ।।७३।।

अर्थ - अमूर्तिक, वीतराग और विश्व के अद्वितीय गुरु यतश्च मेरे तुच्छ हृदय के द्वारा धारण किये गये है अत मै भी धन्य हूं, भगवान् तो धन्य है ही ।।७३।।

[७४]

योग्यो विनेयो गुरुणा श्रमेण,
नीतो गुरुत्वं किमु विस्मयोऽत्र ।
पाषाणखण्डेऽपि विरागता सा,
दिव्योदिता किं न हि शिल्पिनापि ।।

योग्य इति - योग्यो ग्रहणधारणचिन्तनशक्तियुक्तः, विनेयः शिष्यः, गुरुणा विनेत्रा शिक्षणप्रयासेन गुरुत्वं गौरवं नीतः प्रापितः, अत्र विषये किमु विस्मयः किमाश्चर्यम्, उ वितर्के। हि यतः पाषाणखण्डेऽपि प्रस्तरशकलेऽपि सा प्रसिद्धा --दृश्यमानेति यावत्, दिव्याऽलौकिकी विरागता वीतरागता किं शिल्पिना कार्यकरेण न नो उदिता संप्रापिता? ।।७४।।

अर्थ - योग्य शिष्य यदि गुरु के द्वारा परिश्रम पूर्वक गुरुता को प्राप्त करा दिया गया है तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है? क्योकि पाषाणखण्ड मे भी शिल्पी के द्वारा क्या वह अलौकिक वीतरागता प्रकट नहीं की जाती ।।७४ ।।

[७५]

विवेकयुक्ता अलिवच्चरन्ति,
सदावृता ये विषयैर्विचित्रैः ।
हिताहितज्ञानविविक्तचित्ता,
कफे मृतास्ते खलु मक्षिकावत् ।।

विवेकेति - विचित्रैर्विविधप्रकारै विषयै पञ्चेन्द्रियभोगोपभोगै सदा सर्वदा आवृता आवेष्टिता ये विवेकयुक्ता हिताहितविज्ञानशालिनः सन्ति ते अलिवत् षट्पदा इव चरन्ति आचरणं कुर्वन्ति। यथालयः सौरभशालिनि वस्तुन्येव तिष्ठन्ति तथा विवेकवन्तो जना निरवद्यभोगेष्वेव रुचिं कुर्वन्ति न तु सावद्यभोगेषु। ये च हिताहितज्ञानविविक्तचित्ता इदं मे हितमिदं च मेऽहितमिति ज्ञानेन विविक्त शून्य चित्त येषां तथाभूता सन्ति ते खलु निश्चयेन मक्षिकावत् कफे श्लेष्मणि 'मायुपित्त कफः श्लेष्मा' इत्यमरः। मृता गतप्राणा भवन्ति। हिताहितविवेकाभावेन मक्षिकाः कफमपि हित ज्ञात्वा तत्र संलग्नपक्षा म्रियमाणा दृश्यन्त एवेति भावः।।७५।।

अर्थ - विविध भोग सामग्रियो से सदा घिरे रहने वाले जो लोग विवेक सहित है वे भ्रमरो के समान योग्य विषयो का ही सेवन करते है और जो हिताहित के विवेक से शून्य चित्त वाले है वे कफ मे फँसी मक्खियो के समान निश्चय से मृत्यु को प्राप्त होते है।।७५।।

[७६]

दैवेऽनुकूले मुदितं जगद्वा,
पापोदये दुःखितमेव भावात्।
आतापतस्तस्य रवेर्लता सा,
या छायिकाऽऽरादतिमूर्च्छिता स्यात् ।।

दैव इति - दैवे भाग्ये अनुकूले सति जगद् भुवनं मुदितं प्रसन्नं, वा समुच्चये पापोदये सति भावात् स्वभावात् दुःखितमेव स्यात्। तदेवोदाहरति—या लता वल्ली 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः। छायिका छायायामनातपे भवा क्षायिका सा आरात् दूरवर्तिन्यपि तस्य प्रसिद्धस्य रवेः सूर्यस्य आतापतो घर्मात् अतिमूर्च्छिता अतिम्लाना स्यात्। 'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते' इति भावः ।।७६।।

अर्थ - भाग्य के अनुकूल रहते हुए जगत् स्वभाव से प्रसन्न होता है और पापोदय के रहते हुए स्वभाव से दुःखी रहता है। जैसे छाया में उत्पन्न हुई लता दूरवर्तिनी होने पर भी सूर्य के संताप से अत्यधिक म्लान हो जाती है ।।७६।।

[७७]

संप्राप्य चारित्रसुशीलयोगं,
ज्ञानं स्वयं याति सुपूर्णतां तत् ।
सुशाणयोगाद्धि मणेश्च मूल्यं,
काष्ठां गतं सज्जनकण्ठभागम् ।।

सप्राप्येति - तत् प्रसिद्ध ज्ञानं चारित्रसुशीलयोगं चारित्रं च सुशील च चारित्रसुशीले ताभ्या योग सम्बन्धं सप्राप्य स्वयं स्वतः सुपूर्णतां याति प्राप्नोति। यथाख्यातचारित्रशैलेशित्वयोगेन सामान्यज्ञानमेव केवलज्ञानत्वेन परिणमति। तथैवोदाहरति - हि यत सुशाणयोगात् उत्तमशाणयोगात् मणेर्माणिक्यस्य मूल्यमर्घः काष्ठां गतं सर्वोच्चदशा प्राप्तं। तेन च तत् सज्जनकण्ठभागं इभ्यजनग्रीवाप्रदेशं गतं प्राप्तं भवतीति शेष ।।७७।।

अर्थ - चारित्र और सुशील का संयोग पाकर साधारण ज्ञान भी पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। जैसे उत्तम शाणोपल का संयोग पाकर मणि का मूल्य इतना बढ़ जाता है कि वह सज्जनो के कण्ठप्रदेश को प्राप्त हो जाता है ।।७७।।

[७८]

विद्वेषभावोऽपि समं स्वजात्या,
कृतज्ञता सा शुनि जन्मतोऽस्तु,
अत्यल्पनिद्रापि विधेर्विपाको,
विचित्र एवं गदितं सुविज्ञैः ।।

विद्वेषेति - शुनि सारमेये स्वजात्या स्वकीयजात्या— अन्यकुक्कुरैः समं सार्धं विद्वेषभावोऽपि द्वेषपरिणामोऽपि, सा कृतज्ञता उपकारज्ञतापि, अत्यल्पनिद्रापि

स्वल्पस्वापोऽपि जन्मतो जनुषोऽपि स्वभावादेवास्तु। एवमित्थंभूतः विधेः कर्मणो विचित्र इष्टानिष्टगुणसंयोगरूपो भवतीति सुविज्ञैर्बुधैः गदितं कथितम्। कर्मोदयेनैव विचित्रगुण-संयोगो भवतीति भावः ।।७८।।

अर्थ - कुत्ता मे जन्म से ही अपनी जाति के साथ विद्वेष भाव भी है, उसके कृतज्ञता गुण भी है और अल्पनिद्रा भी है। विद्वज्जनों ने कहा है कि उसका यह कर्म का विचित्र ही योग है ।।७८।।

[७९]

सिद्धे स्वकार्ये सति कारणानि,
बाह्येतराणीति तृणीभवन्ति।
सोपानमालापि विमोचिता सा,
प्रारोहितात्मोन्नत - सौधकेन।।

सिद्ध इति - स्वकार्ये स्वप्रयोजने सिद्धे सति बाह्येतराणि बाह्याभ्यन्तराणि कारणानि। इति वक्ष्यमाणेन दृष्टान्तेन तृणीभवन्ति तुच्छानि जायन्ते। प्रारोहितात्मोन्नतसौधकेन प्रारोहितं चटितमात्मन उन्नत उत्तुङ्गःसौधः प्रासादो येन तेन सा उपयुक्ता सोपानमालापि निश्रेऽणीपङ्क्तिरपि कार्यसिद्धिपर्यन्तमेव शोभते, सिद्धे कार्ये तद्विकल्पो न कार्य इति भावः ।।७९।।

अर्थ - अपना कार्य सिद्ध हो जाने पर बाह्य और अन्तरङ्ग - दोनो प्रकार के कारण तृण के समान तुच्छ हो जाते हैं। जैसे अपने ऊंचे महल पर चढ़ चुकने वाले पुरुष के द्वारा सीढ़ियों की पङ्क्ति छोड दी जाती है।।७९।।

[८०]

रागादिकं चात्मभवं दहेत् तत्,
ध्यानं शुभं चात्मभवं समन्तात् ।
वनोद्भवो वातसुदीप्तदावो,
भस्मीकरोतीह वनं समस्तम् ।।

रागादिकमिति - आत्मभवम् आत्मोत्पन्नं शुभं ध्यानं, आत्मभवं विभावदृष्ट्यात्मोत्पन्न तत् रागादिकं विभावभावं दहेत् भस्मसात् कुर्यात्। तदेवोदाह्रियते --इह जगति, वनोद्भवो वनोत्पन्नः, वातसुदीप्तदावः वातेन वायुना समुदीपितः प्रचण्डतां नीतो दावो दावानलः 'वने च वनवह्नौ च दवो दाव इहेष्यते' इत्यमरः। समस्तं निखिलं वनं काननं भस्मीकरोति सम्पूर्णतया दहतीति भावः ।।८०।।

अर्थ - आत्मा में उत्पन्न हुआ शुभध्यान अपने आप मे होने वाले रागादिक भावों को सब ओर से जला देता है— नष्ट कर देता है। जैसे कि वन में उत्पन्न और वायु से प्रचण्डता को प्राप्त दावानल समस्त वन को भस्म कर देता है ।।८०।।

[८१]

आद्या विरागा द्वितया सरागा,
दृष्टिर्जनानां स्खलितात्मभावा ।
अभ्राश्रिता सा विमला ततश्चेत्,
मलाभिभूता पतिताम्बुधारा ।।

आद्येति - जनानां लोकानां स्खलितात्मभावा स्खलितः च्युत आत्मभावो यस्यां सा तथाभूता आद्या प्रथमा विरागदृष्टिः रागप्रपञ्चरहिता द्वितया च सरागा रागप्रपञ्चयुक्ता, अस्तीति शेष तयोराद्यादृष्टिः अभ्राश्रिता मेघाश्रिता विमला निर्मला अम्बुधारा जलधारा अस्ति। अन्या मलाभिभूता मलाक्रान्ता पतिता पृथिव्यां पतिता अम्बुधारा अस्ति। विरागादृष्टिर्विमला सरागादृष्टिश्च समला भवतीति भाव ।।८१।।

अर्थ - मनुष्य की दो दृष्टियाँ है एक विराग और दूसरी आत्मभाव से च्युत करने वाली सराग। विराग दृष्टि मेघाश्रित जलधारा के समान निर्मल है और दूसरी पृथिवी पर पडी जलधारा के समान मलिन है ।।८१।।

[८२]

यथा पृथिव्यां करिणो नरा वा,
दृष्टिं गताः श्रीफलमत्तुमीशाः ।
हंसा हि मुक्ताफलभोजिनः स्युः,
सिताः समित्या युतका ह्यनाशाः ।।

यथेति - यथा येन प्रकारेण पृथिव्यां वसुधायां दृष्टिं दर्शनशक्तिं विचारशक्तिं च गताः प्राप्ताः करिणो गजा नरा वा मानुषा वा श्रीफलं नारिकेलं पक्षे श्रिया लक्ष्म्याः फलम् अत्तुं भक्षयितुमीशाः समर्थाः सन्ति। करिणः पृथिव्यां पतितं खादन्ति नराश्च समुत्तुङ्गवृक्षात् चोटयित्वा खादन्तीति विशेषः। तथा सिताः शुक्लाः हंसा मरालाः समित्या समताभावेन युतकाः युतः सहितः क आत्मा येषां ते। अनाशा आशारहिताः साधवः मुक्ताफलभोजिनः स्युः हंसपक्षे मौक्तिकफलभोजिनः स्युः साधवश्च मुक्ताफलभोजिनो युक्तिरूपफलानुभवकाः स्युः। साधुपक्षे सिताः समुज्ज्वलभावा इति ग्राह्यम् ।।८२।।

अर्थ - जिस प्रकार पृथिवी में दृष्टि—देखने की शक्ति को प्राप्त हाथी और

दृष्टि—विचारशक्ति को प्राप्त मनुष्य श्रीफल—नारियल (पक्ष में लक्ष्मी का फल) खाने मे संमर्थ है उसी प्रकार सफेद हंस और समताभाव से युक्त आत्मावाले अनाश—आशारहित साधु, मुक्ताफलभोजी होते है। हंस मोती चुगते हैं और साधु मुक्तिरूपी फल का अनुभव करते है ।।८२।।

[८३]

प्रत्येकभावे निजपर्यया वै,
प्रतिक्षणं ये प्रलयं प्रयान्ति ।
मुहुर्मुहु र्या तरलेव भूत्वा,
तरङ्गमाला क्षणिका तडागे ।।

प्रत्येकेति - **प्रत्येकभावे प्रत्येकपदार्थे ये निजपर्ययाः स्वकीयपर्ययाः सन्ति ते वै निश्चयेन प्रलयं विनाशं प्रयन्ति गच्छन्ति। तदेवोदाहरति - तडागे कासारे या तरङ्गमाला वीचिसन्ततिरस्ति सा मुहुर्मुहुः वारं वारं तरलेव चञ्चलेव भूत्वा, क्षणिका क्षणे भवा क्षणिका नश्वरी भवति ।।८३।।**

अर्थ - प्रत्येक पदार्थ मे जो अपनी पर्यायें हैं वे प्रतिक्षण विलय को प्राप्त होती है। जैसे तालाब मे जो तरङ्ग की सतति है वह बार बार चञ्चल सी होकर विनष्ट हो जाती है।।८३।।

[८४]

काले न कालेन न काचन श्रीः,
सा चात्मतत्त्वं तु ततोऽस्तु तत्र।
समुद्यमोऽतोऽस्तु सदैव सद्भिः,
कर्तव्य एवात्महिताय तत्त्वे ।।

काल इति - **काचन कापि श्री सुखादिलक्ष्मीः न कालेऽवसर्पिण्युत्सर्पिणीरूपे भवति न कालेन प्रातर्मध्याह्नादिरूपेण भवति। सा सुखादिलक्ष्मीः आत्मतत्त्वं आत्मस्वरूपं अस्ति ततस्तस्मात् तत्रात्मनि अस्तु भवतु। यो यस्य धर्मः स तत्रैव प्राप्यते नान्यत्रेति भावः। अतः सद्भिः साधुभिः आत्महिताय आत्मने हितमात्महितं तस्मै स्वश्रेयसे तत्त्वे स्वतत्त्वे एव सदैव सर्वदा समुद्यमः समुद्योगः प्रयासः कर्तव्यो विधातव्य अस्तु ।।८४।।**

अर्थ - कोई भी सुखादिकलक्ष्मी न किसी काल मे और न किसी काल के द्वारा होती है क्योकि वह आत्मतत्त्व है अतः आत्मा में ही हो सकती है। अतः सत्पुरुषो को आत्महित के लिये आत्म तत्त्व में ही सदा उद्योग करना चाहिये ।।८४।।

[८५]

ध्येयो न सेव्यो न हि चाप्युपेयो
ज्ञेयोऽपि कालो नियतोऽपि हेयः।
ध्येयः प्रमेयो निजशुद्धभावो
ह्युपेयको योऽत्र सुधासुपेयः।।

ध्येय इति – कालः कालद्रव्यं न ध्येयो न ध्यातुं योग्यः। न हि चापि उपेय उपैतुं योग्यः। ज्ञेयोऽपि ज्ञानविषयोऽपि नियतो निश्चितः सन्नपि हेयो हातुं त्यक्तुं योग्यः। अत्र लोके यः निजशुद्धभावो निजस्य शुद्धपरिणामः अस्ति स एव ध्येयो ध्यातुं योग्यः। प्रमेयः प्रमातुं योग्यः। उपेयकः उपैतुं योग्यः सुधासुपेयः पीयूषमिव सुखेन पेयः पातुं योग्योऽस्ति।। ८५।।

अर्थ – कालद्रव्य ध्येय नहीं है, सेव्य नहीं है, उपेय भी नहीं है, ज्ञेय होकर भी निश्चित ही हेय है। इस जगत् में जो निजशुद्धभाव है वह ध्येय है, प्रमेय है, उपेय है और सुधा के समान सुपेय है।। ८५।।

[८६]

त्यक्तुं न हीशा विषयान् विमूढा
वदन्ति मुक्तिर्भवतोऽस्तु कालात्।
कषायभीमग्रहलुप्तबोधा
कुर्वन्ति किं किं न विनिन्द्यभावम्।।

त्यक्तुमिति – विषयान् पंचेन्द्रियभोगान् त्यक्तुं प्रहातुं नेशाः न समर्थाः विमूढा मोहिजीवा वदन्ति कथयन्ति – भवतः संसारात् मुक्तिर्मोक्षः कालात् समयात् अस्तु स्वयमेव भवतु प्रयत्नोऽत्र विषये विफलः। सत्यमेव, कषायभीमग्रहलुप्तबोधाः कषाय एव भीमो भयंकरो ग्रहः पिशाचस्तेन लुप्तो बोधो येषां ते तथाभूता जनाः किं किं विनिन्द्यपापं न कुर्वन्ति।। ८६।।

अर्थ – जो विषयों को छोड़ने के लिये समर्थ नहीं हैं, ऐसे मोही मनुष्य कहते हैं कि ससार से मुक्ति काल आने पर स्वय हो जायेगी। ठीक ही है, कषायरूपी भयंकर पिशाच के द्वारा जिनका ज्ञान लुप्त हो गया है ऐसे मनुष्य कौन कौन निन्दनीय पाप नहीं करते हैं ?।। ८६।।

[८७]

स्वजातिवात्सल्यगुणं दधानः
संभोगकार्ये न दिवा रतोऽस्तु।
तथापि काको जगताद्दृतो नो
मन्येऽत्र रूढिर्न हि चान्यहेतुः।।

स्वजातीति – यद्यपि स्वजातिवात्सल्यगुणं स्वस्य जातौ वात्सल्यमेव गुणस्तं स्वकीयजातिस्नेहगुणं दधानः। संभोगकार्ये सुरतक्रियायां दिवा दिवसे

न रतो न लीनोऽस्तु तथापि काको वायसो जगता लोकेन नो आदृतो नादरं प्रापितः। अत्र विषये रूढिरेव कारणमिति मन्ये जानामि। अन्यहेतुरितरकारणं न ह्यस्ति नियमेन नास्ति।। ८७।।

अर्थ – यद्यपि कौआ अपने जाति के साथ वात्सल्य रूप गुण को धारण करता और दिन में रतिक्रिया में तत्पर नहीं रहता तथापि वह जगत् के द्वारा आदर को प्राप्त नहीं होता। इसमें रूढि ही कारण है ऐसा मानता हूं। अन्य कारण नहीं है।। ८७।।

[८८]

आम्रादिवन्नो फलभारनम्रो
गन्धान्वितं यस्य न मंजुपुष्पम्।
सेव्योऽत्र मिष्टेन रसेन सर्वै-
रुद्दण्ड इक्षोर्ननु दण्डकोऽपि।।

आम्रेति – इक्षोः पौण्ड्रकस्य दण्डकोऽपि दण्ड एव दण्डकोऽपि यद्यपि आम्रादिवत् रसालादितरुरिव फलभारनम्रः फलानां भारेण नम्रो नास्ति। यस्य मंजुपुष्पं सुन्दरकुसुमं गन्धान्वितं सुगन्धसहितं नास्ति। प्रकृत्या च उद्दण्डो दण्डरूपो अविनीतो वास्ति तथापि मिष्टेन रसेन कारणेन अत्र जगति सर्वैराबालवृद्धैः सेव्यः सेवनीयो वर्तते।। ८८।।

अर्थ – ईख का दण्ड यद्यपि आम्रादि वृक्षों के समान फलों के भार से नम्र नहीं होता और न जिसका सुन्दर फूल सुगन्ध से सहित है प्रकृति से उद्दण्ड – दण्ड रूप में खड़ा है (पक्ष में अविनीत) तथापि मिष्ट रस के कारण जगत् में सब के द्वारा सेवनीय है।। ८८।।

[८९]

गुणीभवन्तीह यतेर्जरायां
तपांसि सर्वाणि च तान्विकानि।
अयत्नमुक्तं वृषमिष्टमन्नं
मन्दाग्निना साऽकृतभोजनेन।।

गुणीति – इह जगति जराया वृद्धावस्थायां यतेः साधोः तान्विकानि तनौ शरीरे भवानि तान्विकानि शरीराश्रितानि सर्वाणि तपांसि तपश्चरणानि गुणीभवन्ति अप्रधानीभवन्ति। वा समुच्चये मन्दाग्निना जठराग्नेः मान्द्यतया अकृतभोजनेन न कृतं भोजनं येन तेन साधुना वृषं गरिष्ठम् इष्टं वांछितं अन्नं भोजनं अयत्न प्रयत्नमन्तरेण मुक्त त्यक्तं भवति।। ८९।।

अर्थ – इस जगत् मे वृद्धावस्था के समय साधु के शारीरिक तप गौण हो जाते हैं और मन्दाग्नि के कारण भोजन न कर सकने के कारण गरिष्ठ इष्ट भोजन बिना प्रयत्न के ही छूट जाता है।। ८९।।

[९०]

सुशास्तृयोगाद्धि जगत् सुखि स्यात्,
स्याद्दुःखि भूरीतरतोऽप्यवश्यम्।
तानाश्रितान्नौ नयतेऽब्धितीरं,
छिद्रान्विता घोररसातलं चेत्।।

सुशास्त्रिति – जगत् भुवनं सुशास्तृ योगात् शोभनः शास्ता शासकः सुशास्ता तस्य योगात् सम्बन्धात् हि निश्चयेन सुखि सुखसहितं स्यात्। इतरतः कुशास्तुर्योगात् अवश्यं नियमेन भूरि अत्यधिकं दुःखि दुःखयुक्तं स्यात्। तदेवोदाहरति – नौः तरणिः आश्रितान् स्वोपर्यारूढान् तान् जनान् अब्धितीरं सागरतटं नयते प्रापयति। चेत् यदि नौः छिद्रान्विता सविवरा स्यात् तर्हि घोररसातलं भयंकरपातालं नयते।। ९०।।

अर्थ – जगत् उत्तम शासक के योग से सुखी होता है और कुशासक के योग से अत्यधिक दु खी होता है। जैसे नाव आश्रिजनों को समुद्र के तट पर पहुंचा देती है, यदि वही नाव छिद्र सहित है तो भयकर रसातल में पहुंचाती है।। ९०।।

[९१]

ज्ञातोऽनुभूतो यदि नात्मभाव-
श्चेत्तस्य चर्चां कुरुते तपस्वी।
पित्तज्वरार्तं पवनार्दितं वा,
प्रलापयन्तं मनुते मनस्वी।।

ज्ञात इति – यदि यद्यपि आत्मभावः शुद्धात्मस्वभावो न ज्ञातो ज्ञानविषयीकृत न चानुभूतः संवेदनविषयीकृतः। तथापि तपस्वी साधुः चेत् यदि तस्य शुद्धात्मभावस्य चर्चां वार्तां करोति विदधाति तर्हि तं तपस्विनं मनस्वी शुद्धात्मज्ञानसंपन्नो जनः प्रलापयन्तं प्रलापं कुर्वाणं पित्तज्वरार्तं पित्तज्वरेणार्तं पीडितं वाअथवा पवनार्दितं पवनेन वातरोगेणार्दितं पीडितं मन्यते, शुद्धात्मनो ज्ञानमनुभवमन्तरेण तस्य चर्चा हास्यकरी भवतीति भावः।। ९१।।

अर्थ – यद्यपि आत्मपदार्थ को न जाना है, न उसका अनुभव किया है तथापि साधु यदि उसकी चर्चा करता है तो विचारशील मनुष्य उसे बकवाद करने वाला पितज्वर अथवा वात से पीडित मानता है।। ९१।।

[९२-९४]

गौश्चर्यया पापततौ च मौनोऽ-
पृष्टोऽप्यमौनो निजधर्महानौ।
भीतोऽस्ति लोकैषणतोऽप्यभीतो,

दुःखोपसर्गेषु विविक्तधर्मैः।।
परोपकारी तरुवन्निरीह-
स्तथोद्यमी यो रविचन्द्रशीलः।
सिंहोऽर्तवृत्याऽनिलवद् विसंगो,
योगेन मेरुः क्षमया धरास्ति।।
सत्यैकजिह्वो ऽप्यहिवद् विवासः,
सुसंवृतात्मा भुवि कूर्मवच्च।
सदृष्टलक्ष्योऽपि नदप्रवाहो,
मयांच्यते संजयतात् स योगी।। (विशेषकम्)

गौरिति – परोपकारीति – सत्यैकेति – यः चर्यया गौः धेनुः प्राप्तसंतोषीत्यर्थ। पापततौ दुरितसमूहे मौनो पापकार्यसमर्थनरहितः। निजधर्महानौ स्वधर्महानिप्रसंगे अपृष्टोऽपि अमौनो मौनरहितः प्रतिकारकर्तेत्यर्थः। लोकैषणतः लोकख्यातेः भीतोऽपि त्रस्तोऽपि विविक्तधर्मै. अधार्मिकजनैः दुःखोपसर्गेषु कष्टप्रदोपसर्गेषु कृतेष्वपि अभीतो भयरहितोऽस्ति। परोपकारी सन्नपि तरुवद्वृक्षवत् निरीह· प्रत्युपकारानभिलाषी। तथा समुच्चये। उद्यमी पुरुषार्थी रविचन्द्रशीलः सूर्येन्द्र इव निर्भीकोऽस्ति। अनिलवत्पवन इव विसंगोऽपरिग्रहः इत्यर्थ.। योगेन ध्यानेन मेरु. मन्दरवन्निश्चल। क्षमया तितिक्षया धरास्ति सर्वं सहास्ति पृथिवीवत्सहिष्णुरिति भाव। सत्यैकजिह्वा सत्यमेवैका जिह्वा यस्य तथाभूतः सत्यवादी। अहिवत् पन्नग इव विवासोऽनियतनिवास स्थान. अस्ति। भुवि भूमौ कूर्मवत् कच्छप इव सुसंवृतात्मा स्वसंवृतेन्द्रिय· सदृष्टलक्ष्योऽपि दृष्टेन निश्चितेन लक्ष्येण सहितोभपि नदप्रवाहो नदस्येव प्रवाहो यस्य तथाभूतः लक्ष्यप्राप्ति विना पुरुषार्थान्न विरमतीति भाव। एवभूतो यो योगी अस्ति स मया अंच्यते पूज्यते। स संजयात् सम्यक्प्रकारेण जयशीलो भवतु।। ९२-९४।।

अर्थ – जो चर्या से गाय है, पाप समूह में मौन है, निजधर्म की हानि में बिना पूछे भी प्रतिकार करने वाला है, लौकिकख्याति से भयभीत होने पर भी अधार्मिक मनुष्यों के द्वारा कृत दु खदायक उपसर्गों में अभीत है, परोपकारी होकर भी वृक्ष के समान प्रत्युपकार की इच्छा से रहित है, सूर्यचन्द्रमा के समान उद्यमी है, वृत्ति से सिंह के समान निर्भय है, वायु के समान निष्परिग्रही है, ध्यान में मेरु के समान निश्चल है, क्षमा में पृथिवी के समान सहिष्णु है। सत्यैकजिह्व है – सत्यवादी है, सर्प के समान निश्चित निवास स्थान से रहित है, पृथिवी पर कछुवे के समान अपने आपको सवृत करने वाला है और निश्चित लक्ष्य से सहित हो लक्ष्य की प्राप्ति के लिये नदी के प्रवाह के समान गतिशील है, वह साधु मेरे द्वारा पूजा जाता है, वह सदा जयवन्त रहे।। ९२-९४।।

[९५]

अज्ञाः सुदूरा ननु तेऽपि विज्ञाः,
स्वं नापि पश्यन्ति चलोपयोगाः।
स्वच्छेऽपि नीरे न मुखं सुदृष्टं,
वातेन लोले बुधभारतीयम्।।

अज्ञा इति – अज्ञाः न जानन्तीत्यज्ञाः ज्ञानशून्याः ननु निश्चयेन सुदूरा अतिदूरवर्तिनः स्वहितादिति शेषाः। ये विज्ञा अपि द्रव्यश्रुतोपलक्षिता अपि चलोपयोगाः चपलचेतसः सन्त स्वं स्वकीयशुद्धस्वभावं न पश्यन्ति नानुभवन्ति, तेऽपि सुदूराः सन्ति। तदेवोदाहरति – वातेन वायुना [illegible] चले स्वच्छेऽपि विमलेऽपि नीरे सलिले मुखं वदनं न सुदृष्टं समीचीनतयावलोकितं न भवति। इयमेषा बुधभारती ज्ञानजनवागस्ति।। ९५।।

अर्थ – अज्ञानी जन तो निश्चयत. आत्महित से अतिदूर हैं ही परन्तु चंचल उपयोग वाले जो ज्ञानी भी स्वकीय आत्म तत्व को नहीं जानते हैं– नही अनुभवते हैं वे भी बहुत दूर हैं क्योंकि वायु से चंचल स्वच्छ जल में भी मुख अच्छी तरह नहीं देखा गया है, ऐसा ज्ञानी जनों का कहना है।। ९५।।

[९६]

जन्या सुतस्ताडितको रुदन् सन् ,
सनीरनेत्रः सहसा हसन् सः।
दृष्टोऽनिमेषोऽप्रतिशोधभावो,
यथा यथाजातयतिः स्थिरीस्यात्।।

जन्येति – जन्या मात्रा ताडितकः ताडित एव ताडितकः स सुतः पुत्रः रुदन् रोदनं कुर्वन् सनीरनेत्रः सजलनयनः सन्नपि सहसा झटिति हसन् हास्यं कुर्वन् दृष्टः। इत्थं तस्मिन् अनिमेषः स्पष्टः अप्रतिशोधभावोऽप्रतिकारभावो यथा दृष्टस्तथा यथाजातयतिर्दिगम्बरः साधुरपि स्थिरीस्यात् प्रतिशोधभावरहितत्वेन स्थिरीभवेत्।। ९६।।

अर्थ – माता के द्वारा ताडित पुत्र रोता है, आसू बहाता है पर शीघ्र ही खिल उठता है उसमें स्पष्ट ही बदला न लेने का भाव जैसा देखा गया है वैसा ही निर्ग्रन्थ साधु में भी देखा जाना चाहिये, उसे भी स्थिर रहना चाहिये।। ९६।।

[९७]

वर्णस्य पात्रं किल विश्वशास्त्रं,
मलस्य पात्रं तव रूपिगात्रम्।
चिद्वस्तुमात्रं हि सुखस्य पात्रं,
सर्वं ह्यपात्रं स्मर चेतसात्र।।

वर्णस्येति – विश्वशास्त्रं समस्तशास्त्रं किल निश्चयेन वर्णस्य वर्णानामक्षराणां जातित्वादेकवचनं पात्रं भाजनमस्ति। तव भवतः स्वपि सुन्दरं गात्रं शरीरं मलस्य विष्ठादेः पात्रमस्ति। हि निश्चयेन चिद्वस्तुमात्रं आत्मद्रव्यमात्रं सुखस्य शर्मणः पात्रमस्ति। एतद्भिन्नं सर्वं सुखस्यापात्रमस्ति। इति त्वम् अत्र लोके चेतसा मनसा स्मर स्मरणं कुरु।। ९७।।

अर्थ – समस्त शास्त्र वर्ण – अक्षरों के पात्र हैं, तेरा सुन्दर शरीर मल का पात्र है। एक चैतन्य वस्तु ही सुख का पात्र है इसके बिना सभी सुख के अपात्र है, ऐसा तू मन से स्मरण कर।। ९७।।

[९८]

या दृष्टा स्त्री प्रकृतिः साऽमूर्तो यो नियमतः स पुरुषः।
दृष्टौ स्त्रीपुरुषौ तु व्यवहारेणात्र समयोक्तौ।।

येति – या दृष्टा विलोकिता भवति मयेति शेषः सा स्त्री स्त्रीरूपा प्रकृतिः अस्ति। यश्च अमूर्तोऽदृष्टिगोचरोऽस्ति स नियमतः पुरुषोऽस्ति। इत्थं समयोक्तौ शास्त्रोक्तौ स्त्रीपुरुषौ व्यवहारेण दृष्टौ। सांख्यदर्शने प्रकृतिः पुरुषश्चेति द्वे मूलतत्त्वे स्वीकृते। तयोर्यद् दृश्यते सा प्रकृतिः कथ्यते। स्त्रीलिंगत्वात्तस्यां स्त्रीति व्यवहारो भवति। अमूर्तत्वाद् यो न दृश्यते स. पुरुष कथ्यते। पुंलिंगत्वात्तस्मिन् पुरुषः व्यवहारः क्रियते। समये सांख्यदर्शने यौ प्रकृतिपुरुषौ प्रोक्तौ तौ व्यवहारेणैव प्रोक्तौ।। ९८।।

अर्थ – जो देखी गई है वह स्त्री रूप प्रकृति है और जो अमूर्त है – दृष्टिगोचर नहीं है वह पुरुष है। शास्त्र में कहे गये जो स्त्री पुरुष हैं वे व्यवहार से ही कहे गये है।। ९८।।

[९९]

क्षुद्रोऽस्मि बोधेन बलेन वीर !
त्वदाश्रयात् स्याद् विभुता ध्रुवात्र।
स्यादुगमे सा नदिका लघिष्ठा,
नदीपतिं प्राप्य विमानपात्रा।।

क्षुद्र इति – हे वीर ! वर्धमानजिनेन्द्र ! अहं बोधेन ज्ञानेन बलेन वीर्येण च क्षुद्रो हीनोऽस्मि। त्वदाश्रयात् तवाश्रयात् अत्र मयि ध्रुवा निश्चिता विभुता विशालता स्याद् भवेत्। सा नदिका सरित् उद्गमे उत्पत्तिस्थाने लघिष्ठा असतिलध्वी भवति किन्तु नदीपतिं सागरं प्राप्य विमानपात्रा विशिष्टप्रमाणभाजनं स्यात्।। ९९।।

अर्थ – हे वीर ! मैं ज्ञान और बल से क्षुद्र हूं – हीन हूं, परन्तु आपके आश्रय से मुझमें निश्चित ही विभुता – विशालता हो सकती है। जैसे कि नदी उद्गम स्थान पर अत्यन्त लघु होती है, परन्तु समुद्र को पाकर वह विशाल प्रमाण का पात्र हो जाती है।। ९९।।

[१००]

नीतेः प्रणेता शिवपन्थनेता,
नीत्यै मया यः प्रणतिं सुनीतः।
धनाप्तये निर्धननिर्धनी किं,
सेव्यो न वा पृच्छति नीतिरेषा।।

नीतेरिति – यो नीतेः सदाचरणपद्धतेः प्रणेता रचयिता शिवपन्थनेता मोक्षमार्गनायकश्चास्ति स भगवान् वीरो मयात्र लोके नीत्यै नीतिशतकपूर्त्यर्थं प्रणतिं नमस्कृतिं सुनीतः सुप्रापितः। निर्धननिर्धनरहितै जनैः किं धनाप्तये धनप्राप्त्यै धनी जनः सेव्यः सेवनीयो न भवति ? इति एषा नीतिः पृच्छति त्वामिति शेषः।। १००।।

अर्थ – जो नीति के रचयिता है तथा मोक्षमार्ग के नेता हैं ऐसे महावीर भगवान् को ही मैंने नीति – नीतिशतक की पूर्ति के लिये नमस्कार किया है। क्या निर्धन मनुष्यों के द्वारा धन प्राप्ति के लिये धनी पुरुष सेवनीय नहीं है ? यह नीति आप से पूछती है।। १००।।

चिन्मय-धन के धनिक रहे हैं शिवसुख के जो जनक बने।
विरागता के सदन जिन्हें हो नमन सदा यह कनक बने।।
लिखी गई यह अल्प ज्ञान से नीतिशतक की रचना है।
रोग शोक ना रहे धरा पर ध्येय पाप से बचना है।।१।।

नया वस्त्र हो मूल्यवान हो मल से यदि वह समल रहा।
प्रथम बार तो छू नहिं सकता जल को, जल हो विमल अहा।।
उपदेशामृत सन्तों से सुन करता आना कानी है।
शास्त्रों का व्यवसाय चल रहा जिसका, बुध जो मानी है।।२।।

शिवसुखकारक भवदुखहारक मुनि का मुनिपन विमल घना।
देहाश्रित कुल-जात पात से सुनो ! कभी ना समल बना।।
यही समझ में सब को आता कृष्ण-वर्ण की गायें हों।
किन्तु दूध क्या ? काला होता दूध धवल ही पायें ओ!।।३।।

यद्यपि वय से वृद्ध हुये हैं संयम से अति ऊब रहे।
विषयरसिक हैं विरति विमुख हैं विषयों में अति डूब रहे।।
उनकी संगति से शुचिचारित मुनियों का वह समल बने।
वृद्ध-साथ हो युवा चले यदि युवा चरण भी विकल बने।।४।।

ज्ञानवृद्ध औ तपोवृद्ध यदि पक्षपात से सहित तना।
उभय लोक में सुख से वंचित निज पर का वह अहित बना।।
सज्जन पीते पेय रहा है पावन पय का प्याला है।
छोटी सी भी लवण-डली यदि गिरती, फिर क्या ? हाला है।।५।।

पाप पंक में फसे हुये हैं, विषय-राग को सुख जाने।
मोह पाश से कसे हुये हैं वीत-राग को दुख माने।।
सत्य रहा यह, कर्म-योग से जिनको होता रोग यहां।
पथ्य कहां वह रुचता उनको अपथ्य रुचता भोग महा।।६।।

मानभूत के वशीभूत हो धनिक दान खुद करते हैं।
मान तथा धन की आशा से ज्ञान-दान बुध करते हैं।।
प्रायः ऐसा प्रभाव प्रचलित कलियुग का है विदित रहे।
वीतराग-मय पूज्य धर्म से इसीलिए ये स्खलित रहे।।७।।

काल रूप ले लोभ अनल वह जीवन में जब खिलता है।
सुधी जनों का व्रती जनों का अपनापन ही जलता है।।
भीतर में नहिं भले बाह्य में भेष-मात्र वह धार रखो।
निगला गज ने 'कैंथ' निकलता शेष मात्र बस बाहर ओ।।८।।

भव भव में नव तन का कारण यही परिग्रह माना है।
वैर-कलह का जनक रहा है यही परिग्रह बाना है।।
यही परिग्रह राजमार्ग है जिस पर शनि का विचरण हो।।
अतः परिग्रह तजता यह मुनि जिससे इसका सुमरण हो।।९।।

साक्षर होकर जीवन जिसका मोहादिक से शोभित है।
ज्ञान, ज्ञानपन से वंचित है संयम से नहिं शोभित है।।
शूकर के केशों को देखो कहां ललित हैं जटिल कहां?
स्पर्शनीय या दर्शनीय या कोमल-कोमल कुटिल कहां?।।१०।।

पाप पंक में पतित हुआ हो साधु समागम यदि पाता।
प्रथम पुण्य से भव वैभव पा मुक्ति समागम पुनि पाता।।
मिश्री का यदि सुयोग पाती खट्टी हो वह यदपि दही।
इष्ट मिष्ट श्रीखण्ड बनेगी, मूढ़ चाहता तदपि नहीं।।११।।

जग के जड़ जङ्गम जीवों का काय व्याधि का मन्दिर है।
दुस्सह दुख का मूल हेतु है चित्त आधि का मन्दिर है।।
साधु जनों का किन्तु काय वह अचलराज है, मन्दर है।
निज-पर सुख का कारण मन है जीवित शिव का मन्दिर है।।१२।।

केवलज्ञानावरणादिक जड़ कर्मों का जब उदय रहा।
पूर्ण ज्ञान का उदय नहीं हो अनन्त सुख का निलय रहा।।
विशाल नभ मण्डल में जैसा उदित प्रभाकर लोहित हो।
तारक दल वह लुप्त-गुप्त हो शशि भी शीघ्र तिरोहित हो।।१३।।

गृहस्थ जब तक गृह में रहता विरागता का श्वास नहीं।
जैसा जीवन अनुभव वैसा सरागता का वास वहीं।।
सूखी लकड़ी जलती जिससे धूम्र नहीं वह उठता है।
गीली लकड़ी मन्द जलेगी धूम्र उठे, दम घुटता है।।१४।।

मुनियों को अध्यात्म शास्त्र वह प्रायः परमामृत प्याला।
विषयरसिक हैं गृही जनों को विषम-विषमतम है हाला।।
जीवन-दाता प्राण-प्रदाता नीर मीन को माना है।
औरों को तो मृत्यु रहा है यही योग्यता बाना है।।१५।।

तन से रीते शिव जिन जीते उनमें संभव हो भव ना।
स्वभावदर्शन विभावघर्षण तन-धारक में संभव ना।।
कहां दूध से प्रकाश मिलता तथा दूध में गन्ध कहां?
प्रकाश देता तथा महकता घृत से जल का बन्ध कहां?।।१६।।

भोग और उपभोगों से तो विरत रहे हो मानी हो।
योग और उपयोगों में जो निरत रहे परमाणी हो।।
नासा पर फिर दृष्टि रही क्यों ? ऐसा यदि भगवान नहीं!
मान बिना यह परिणति ना हो मेरा यह अनुमान सही।।१७।।

जीव पुण्य का उदय प्राप्तकर नर जीवन को पाकर भी।
सुखद चरित ना दुखद असंयम प्रायः पाले पामर ही।।
उदार उरवाले पर्वत पर मुड़कर भी नहिं हँसती है।
खारा सागर रहा कृपण है सरिता जिस में फँसती है।।१८।।

दृष्टि रहित हो घोर घोरतर तप तपता उस तापस में।
श्रीमन्तों में धीमन्तों में तथा असंयत मानस में।।
अनायास ही होता रहता मद जिससे बहु दोष पले।
निशाकाल में निद्रा जैसी प्रायः आती होश टले।।१९।।

भाल तिलक बिन ललना जनका ललाटतल ना ललित रहे।
उद्यम के बिन तथा जगत में देश ख्यात ना दलित रहे।।
परम शान्त रस बिना किसे वह भाती कवि की कविता है।
सम्‌ दर्शन के बिना कभी ना भाती मुनि की मुनिता है।।२०।।

जीर्ण-शीर्ण तन कान्ति हीन है पर भव भी अब निकट रहा।
मोही का पर विषयों पर ही झपट रहा मन लिपट रहा।।
बहुत पुराना इमली का वह रहा वृक्ष अतिवृद्ध रहा।
किन्तु खटाई इमली की नहिं वृद्धा यह अविरुद्ध रहा।।२१।।

एक रहा शृङ्गार रसों में रस में डूबे रहते हैं।
तत्त्व ज्ञान से विमुख रहे जो इस बिन कुछ कवि कहते हैं।।
किन्तु सुनो ! अध्यात्मशृंग तक पहुँचाता रस सार रहा।
परम-शान्त रस कवियों का वह सुखकर है शृङ्गार रहा।।२२।।

नारायण प्रतिनारायण औ तीर्थङ्कर बलदेव धनी।
महा पुरुष वे महामना वे कहां गये जिनदेव गणी है।।
काल-गाल में कवल हुये सब विस्मृत मृत हैं आज नहीं।
हम सम साधारण जन की क्या? कथा रही यह लाज रही।।२३।।

गृही बना पर उत्तम बिन हो धन से वंचित यदि रहता।
श्रमण बना श्रामण्य रहित हो धन में रंजित यदि रहता।।
ईख-पुष्प आकाश-पुष्पसम इनका जीवन व्यर्थ रहा।
सही-सही पुरुषार्थ वन्द्य है जिस बिन भव दुखगर्त रहा।।२४।।

तत्त्व-बोध को प्राप्त हुये पर धन से यश से यदि रीते।
प्रायः मानव धनी जनों की हां में हां भर कर जीते।।
श्वान चाहता सुखमय जीवन जग में सात्विक नामी हो।
पीछे-पीछे पूंछ हिलाता स्वामी के अनुगामी हो।।२५।।

मोक्षमार्ग में विचरण करता श्रमण बना है नगन रहा।
किन्तु परिग्रह यदि रखता है अणुभर भी सो विघन रहा।।
पवन वेग से मयूर का वह पुच्छ-भार जब ताड़ित हो।
मयूर समुचित चल ना सकता विचलित पद हो बाधित हो।।२६।।

बात सङ्ग की कहें कहां तक सुनो ! सङ्ग तो सङ्ग रहा।
संघ-भार भी अन्त समय में सङ्ग रहा घुन ढंग रहा।।
वस्त्राभरणाभूषण सारे बोझिल हो मणिहार तथा।
वृद्धावस्था में तो कोमल-मलमल भी अतिभार व्यथा।।२७।।

सुख चाहें उन शिष्यों के प्रति कठोरतर व्यवहार करें।
कभी-कभी गुरु रुष्ट हुये से वचनों का व्यापार करें।।
किन्तु हृदय से सदा सदय हो मार्दवतम हो लघुतम हो।
जैसा श्रीफल कठोर बाहर भीतर उज्ज्वल मृदुतम हो।।२८।।

पापात्मा का आश्रय पाकर सन्त बचन भी पाप बने।
पुण्यात्मा का आश्रय पाकर पुण्य बने भवताप हने।।
नभ से गिरती जल की धारा इक्षु-दण्ड में मधुर सुधा।
कटुक नीम में अहि में विष हो अब तो मन तू सुधर मुधा।।२९।।

अहंकार की परिणति से मैं पूर्ण रूप से विरत रहूं।
तथा काय की ममता तजकर समता में नित निरत रहूं।।
यही नियति है बार-बार फिर तन का धारण नहीं बने।
कारण मिटता कार्य मिटेगा प्राण विदारण नहीं बने।।३०।।

प्रयास पूरा भले करो तुम पाप पाप से नहिं मिटता।
पाप पुण्य से पल में मिटता पुरुष पूत हो सुख मिलता।।
मल से लथपथ हुआ वस्त्र हो मल से कब वह धुल सकता?
विमल सलिल से धोलो पल में मूल रूप से धुल सकता।।३१।।

सब सारों का सार रहा है चेतन निधि को त्याग जिया।
रहा अचेतन दुख का केतन जड़ वैभव में राग किया।।
कौन रहा वह बुद्धिमान हो सारभूत नवनीत तजे।
क्षारभूत रसरीत छाछ में भूल कभी क्या? प्रीत सजे।।३२।।

धन के अर्जन संवर्धन औ संरक्षण में लीन रहा।
बार-बार मर दुखी हुआ पर आत्मिक सुख से हीन रहा।।
मोह मल्ल की महा शक्ति है उसे जगत कब जान रहा।
पूंछ उलझती झाड़ी में है चमरी खोती जान अहा।।३३।।

जीवन को, जीवित रख सकती प्रजापाल के बिना प्रजा।
प्रजापाल पर कहां रहे ओ! कहां सुखी हो बिना प्रजा।।
निश्चित ही पर-आश्रित है वह स्वयं भला क्या सिन्धु रहा?
किन्तु बिन्दु निज आश्रित है यह सिन्धु हेतु है बिन्दु रहा।।३४।।

भोगी बन कर भोग भोगना भव बन्धन का हेतु रहा।
योगी बन कर योग साधना भव-सागर का सेतु रहा।।
जैसा तुम बोओगे वैसा बीज फलेगा अहो! सखे।
निम्ब वृक्ष पर सरस आम्रफल कभी लगे क्या? कहो सखे! ।।३५।।

मोह भाव से दूर हुआ है, साधु परिग्रह त्याग रहा।
समता से भरपूर हुआ है उसे कष्ट नहिं जाग रहा।।
चिकनाहट से रहित हुआ है पात पका है पलित हुआ।
सहज रूप से बाधा बिन ही पादप से वह पतित हुआ।।३६।।

विषयी का बस विषयराग ही भवदुख का वह कारण है।
भविकजनों का परम राग ही शिवकारण दुखवारण है।।
सन्ध्या में भी लाली होती प्रभात में भी लाली है।
एक सुलाती एक जगाती कितने अन्तर वाली है।।३७।।

वैसा बानर चंचल होता मदिरा पीता पामर है।
बिच्छू ने फिर उसको काटा और हुआ वह पागल है।।
उससे भी मानव मन की अति चंचलता मानी जाती।
धन्य रहा वह विजितमना जो जिनवर की वाणी गाती।।३८।।

पंचेन्द्रिय के विषयों में जो प्रतीति सुख की होती है।
मोह-भाव की परिणति है वह स्वरीति सुख की खोती है।।
जल का मन्थन करने वाला पाता नहिं नवनीत कभी।
किन्तु फेनका दर्शन पाता मति होती विपरीत तभी।।३९।।

वीतरागमय जिनवर का वह जिसके मन में स्मरण हुआ।
ज्ञात रहे यह बात, उसी के पाप बाप का मरण हुआ।।
सावन में सरवर सरिता का मलिन रहे वह सलिल भले।
अगस्त का जब उदय हुआ बस! विमल बने जल, कलिल टले।।४०।।

किसी पुरुष के दोष कभी भी होवें बिना जो किये गये।
अनायास ही सुधी जनों से सुने गये हो लखे गये।।
तन मन वच से कहें न पर को जग में वे जयवन्त रहे।
सदा दया के निलय बने जो शान्तमना हैं सन्त रहे।।४१।।

महा भयानक दुस्सह दुखमय-भवसागर के पार गहें।
स्वभाव तज कर विभाव-भव में जिनवर नहिं अवतार गहें।।
तेल निकलता है तिल से, घृत तथा दूध से वह निकले।
किन्तु तेल तिल में नहिं बदले, नहीं दूध में घृत बदले।।४२।।

लुब्ध हुआ है विषयों में अति मुग्ध कुधी बृषरीत रहे।
ज्ञानी की तुम बात पूछते जग से वह विपरीत रहे।।
बालक को जब मोदक मिलता खाता खाता नृत्य करे।
किन्तु वृद्ध वह यद्यपि खाता नृत्य करे ना तथ्य अरे।।४३।।

नग्न दिगम्बर तन से होना केवल यह पर्याप्त नहीं।
किन्तु विमलता साथ रहे वह मन की, कहते आप्त सही।।
ऐसा यदि ना, श्वान सिंह पशु नग्न सदा हैं सुखित बनें।
किन्तु कहां? वे सुखित बने हैं रहें निरन्तर दुखित घने।।४४।।

परम शान्त निज आतम में यदि जा बसने की चाह रही।
भक्ति-भाव से भजो सरलता तजो कुटिलता 'राह यही'।।
कुटिल-चाल से चलता है अहि बाहर में यह उचित रहा।
बिल में प्रवेश जब करता है 'सरल चाल' हो, विदित रहा।।४५।।

हो सकता है जलधि तृप्त वह शत-शत सरिता नदियन से।
तथा जहर भी सुधा सरस हो अनल तृप्त हो इन्धन से।।
पंगू भी वह दैवयोग से गिरि चढ़ सकता संभव है।
किन्तु तृप्ति लोभी की धन से कभी न होना सम्भव है।।४६।।

रहा मनोबल मुक्ति-मार्ग में साधकतम है गुरुतम है।
तथा वचन बल तरतमता से आवश्यक है कुछ कम है।।
तन बल तो बस रहा सहायक निश्चय के वह साथ सही।
किन्तु सुनो! तुम मुक्तिमार्ग में धनबल का कुछ हाथ नहीं।।४७।।

पापार्जन तन मन वच से हो पाप तनक ही तन से हो।
विदित रहे यह सब को, तनसे पाप अधिक वाचन से हो।।
कहूँ कहां तक मन की स्थिति मैं पाप मेरु सम मन से हो।
करें नियंत्रण मन को हम सब धर्म कार्य बस! मन से हो।।४८।।

दान धर्म में रत होने से शोभा पाता वह भोगी।
ध्यान कर्म में रत होने से शोभा पाता यह योगी।।
पात्र बना है निरीह बनना गुण माना है जिनवर ने।
नरक द्वार है इच्छा-ज्वाला हमें कहा है ऋषिवर ने।।४९।।

कृषक कृषी का कार्य करे वह ध्येय धान्य का लाभ रहा।
किन्तु घास का ध्येय रहा तो हास्य पात्र वह आप रहा।।
संग सहित-सागारी हो या संग रहित-अनगारी हो।
भवक्षय करने धर्मनिरत हो शिवसुख के अधिकारी हो।।५०।।

यथाशक्ति औ तथाभक्ति से दान पात्र को दे दाता।
फल के प्रति यदि किसी तरह भी मन में लालच नहिं लाता।।
वही रहा है प्रशस्त दाता, बुध-मत हमको बतलाता।
कीर्ति फैलती जग में उसकी सुख पाता शाश्वत साता।।५१।।

सही दान बस वही कहाता विनय-भाव से घुला हुआ।
दाता पूजित बुध जन से हो नम्र-भाव में ढला हुआ।।
दुग्ध पान करके भी बालक तुरत वमन वह कर लेता।
मानवती माता के मुख को मुड़कर भी नहिं लख लेता।।५२।।

चिन्ताओं से घिरा रहेगा आजीवन दिन रैन वही।
दो दो नारी जिसकी होती गृही जिसे सुख-चैन नहीं।।
लगभग वैसा गुरु संयत भी चिंतित रहता खेद रहा।
जिसके शिष्यों में आपस में वैर भाव मन-भेद रहा।।५३।।

महाव्रतों में महा रहा है मुनियों का व्रत शील रहा।
इन्द्रियविषयों में रसना का विजय मुख्य सुखशील रहा।।
सब दानों में अभय-दान ही श्रेष्ठ रहा वरदान रहा।
सब धर्मों में धर्म-अहिंसा मान्य रहा मन मान रहा।।५४।।

प्रशस्त ध्यानों में सुखदाता शुक्ल-ध्यान वह श्रेष्ठ रहा।
प्रधान तप में ध्यान रहा निज-निधि का निधान जेष्ठ रहा।।
सभी रसों में मधुर त्याग ही प्रथम रहा बुध श्लाघ्य रहा।
विज्ञ कहें बस यही साध्य है मुनियों का आराध्य रहा।।५५।।

प्रमाण के अनुचर हो चलते जिन शासन के नय सारे।
भिन्न स्वभावी रहें परस्पर किन्तु लड़ें नहिं दृग-धारे।।
भले नदी के एक कूल को अन्य कूल प्रतिकूल रहे।
किन्तु नदी को कूल दोनों मिल कूल सदा अनुकूल रहे।।५६।।

मूढ़ सुनो तुम तन धारण ही दुस्सह दुख का मूल रहा।
सब दुःखों में दुःख वही है मन को जो प्रतिकूल रहा।।
उसमें भी है महा भयानक दुःख पराभव का होता।
आत्मबोध हो फिर क्या दुख है अभाव भव-भव का होता।।५७।।

बाहर से तो छोड़ दिया है धन मणि कंचन सकल अहा।
किन्तु उन्हीं में जाकर जिसका मन रमने को मचल रहा।।
शिव सुख उसको मिल नहिं सकता उसे तत्त्व क्या ? खबर नहीं।
सर्प कांचली भले छोड़ता किन्तु छोड़ता जहर नहीं।।५८।।

सभी सुखों में आत्मिक सुख ही उत्तम है श्रुति गाती है।
सब गतियों में पंचम गति ही उत्तम मानी जाती है।।
सब आभाओं में मणि-आभा मानव मन को भाती है।
सब ज्ञानों में अक्षय केवल-ज्ञान ज्योति सुख लाती है।।५९।।

जैसी मति होती है वैसी नियम रूप से गति होती।
जैसी गति होती है वैसी सुनो नियम से मति होती।।
अभाव मति का जब होता है गति का अभाव तब होता।
अभाव मति गति का होने से प्रकटित स्वभाव अब होता।।६०।।

जल बिन कब हो जल में उठती लहरें जल के आश्रित हो।
गगन चूंमता भवन बना है स्तम्भों पर आधारित हो।।
उत्तमतम गुण ज्ञानादिक भी विनयाश्रित हैं शोभित हैं।
बिना विनय के वृथा सभी गुण इस विध मुनि संबोधित हैं।।६१।।

शक्ति-शालिनी सेना की भी राजा से ही शोभा है।
मस्तक पर वर मुकुट शोभता राजा की भी शोभा है।।
नहीं शोभता बिना विनय के गुणगण का जो निलय बना।
इसीलिए बस सुधी जनों से पूजा जाता विनय घना।।६२।।

ज्यों ही इन्द्रिय सचेत होती विषयों का बस ग्रहण हुआ।
कषाय जगती क्रोधादिक फिर विधि-बन्धन का वरण हुआ।।
विधि बन्धन से गति मिलती है गति से काया मिलती है।
काया में फिर नई इन्द्रियां नई खिड़कियां खुलती हैं।।६३।।

फिर क्या पूछो वही-वही फिर चलती रहती चिर से है।
परम्परा है बीज वृक्ष से, वृक्ष बीज से फिर से है।।
किन्तु बीज को दग्ध करो तो वृक्ष कहां फिर जीयेगा।
जीतीं, इन्द्रिय यदि तुमने तो शान्ति सुधा फिर पीयेगा।।६४।।

जीत इन्द्रियां विजितमना है यम संयम ले संयत है।
आत्म-ध्यान में सहज रूप से वही लीन हो संगत है।।
यथा-शीघ्र ही घुल मिल जाती सुनो दूध में शक्कर है।
जीतो इन्द्रिय इसीलिए तुम विषयों का तो चक्कर है।।६५।।

ज्ञान मात्र से मात्र चरित से मात्र भावना के बल से।
सिद्धि नहीं हो, होती सुचितम ध्यान साधना के बल से।।
समुचित है यह बिना तपाये नहीं दूध से घृत मिलता।
अनल योग पा, तप-तप कर ही कनक खरा भास्वत खिलता।।६६।।

विशेष औ सामान्य गुणों से सहित वस्तु है शाश्वत है।
प्रभु के दोनों उपयोगों में एक साथ जो भास्वत है।।
फैला-फैला कर पंखों को पंछी नभ में उड़ता ओ।
किन्तु कभी ना दिखा किसी को एक पंख से उड़ता हो।।६७।।

हित हो अथवा अहित रहा हो निज आतम में निहित रहे।
सन्तों के ये वचन रहे हैं तुम सब को भी विदित रहे।।
पर का इस में हाथ रहा हो निमित्त भर वह कहलाता।
उपादान में फल लगता है सुनो ! गीत तुम यह गाता।।६८।।

ज्ञेय-मूल्य भी ज्ञान बिना नहिं दुख ही सुख का मूल्य रहा।
बन्ध बिना नहिं मुक्ति रुचेगी निर्धन धन का मूल्य रहा।।
कौन पूछता दाता को बिन पात्र,पथिक बिन पन्था को।
गौण हुये बिन मुख्य कौन हो लोचन-मालिक, अन्धा हो।।६९।।

अज्ञ रहा तब मूल्य विज्ञ का बढ़ा अन्यथा वृथा कथा।
शत्रु मित्र की याद दिलाता क्षुधा बिना है अन्न वृथा।।
उचित रहा यह जहां निशा हो तथा दिवस भी रहे जहां।
मूल्य निशाकर तथा दिवाकर का होता बुध कहें यहां ।।७०।।

अविवाहित हो जीवन जीता व्यभिचारी भी बना हुआ।
गृही विवाहित उससे वर है शुभ आचारी बना हुआ।।
एक पाप को पल पल ढोता दुर्मति से दुर्गति होती।
एक पाप को नियमित धोता धर्म कार्यरत मति होती।।७१।।

कृपण सेठ से श्रेष्ठ रहा वह साधारण जीवन जीता।
दयालु दाता पर के दुख का वैरी उद्यम-जल पीता।।
प्रशस्त-दाता किन्तु नहीं जो अनीति-धन का दान करे।
दान बिना भी मान्य रहा वह नीति निपुण गुणवान अरे!।।७२।।

श्रद्धा की मम आंखों में प्रभु किसविध आ अवतार लिया।
कणभर होकर मन यह मेरा गुरुतम तुमको धार लिया।।
विराग हो तुम अमूर्त भी हो मूर्त रहा यह अन्य रहा।
धन्य रहे हो भगवन् तुम तो किन्तु भक्त भी धन्य रहा।।७३।।

महा विचक्षण योग्य शिष्य हो विनयी हो श्रमशील तना।
योग, योग्य गुरु का पा गुरु हो विस्मय क्या समशील बना।।
शिल्पी की वह शिल्पकला है जड़ भी चेतन हो जाता।
कठिन-कठिन पाषाण-खण्ड भी विराग केतन हो जाता।।७४।।

चमक दमक है जिनके चारों ओर विषय ये परे हुये।
निज में रमते सदा भ्रमर से बुधजन भ्रम से परे हुये।।
किन्तु हिताहित नहीं जानते पर में रत जड़ मरते हैं।
जैसे कफ में मक्खी फसती क्यों न विषय से डरते हैं?॥७५।।

भाग्य खुला तो मुख खिलता है प्रायः जग यह मुदित दिखे।
पाप उदय में आता है तब मुख मुंदित हो दुखित दिखे।।
तपन ताप से नभ मण्डल औ धरती जब यह तप जाती।
पली छाव में मृदुल लता जो मूर्च्छित होती अकुलाती।।७६।।

चरित-शरण में जब आता है शील-छांव में पलता है।
ज्ञान स्वयं यह अविनश्वर शुचि पूर्ण-ज्ञान में ढलता है।।
उचित शाण पर उचित समय तक अनगढ़ हीरा जब चढ़ता।
सुजनों के वह कण्ठहार हो मूल्य चरम तक तब बढ़ता।।७७।।

नहीं भूलता उपकारक को कृतज्ञता गुण धरता है।
श्वान सन्त सम कम सोता है निद्रा से अति डरता है।।
किन्तु द्वेष रखता है निशिदिन निजी जाति से खेद यही।
खेल खेलता कर्म कहाँ कब किस विधि खुलता भेद नहीं।।७८।।

उपादान हो निमित्त हो या गौण मुख्य की शर्त नहीं।
कार्य पूर्ण हो जाने पर फिर कारण से कुछ अर्थ नहीं।।
बढ़ते बढ़ते ऊपर चढ़ते अंतिम मंजिल वह आती।
एक एक कर क्रमशः पीछे सभी सीढ़ियां रह जाती।।७९।।

अशुभ-भाव से अजित भ्रं कर कर्मों का वह नाश करे।
शुभ भावों में बास कर रहे ध्यान सही जिन दास ! अरे!
पवन योग पा उद्दीपित वह होता दावानल वन में।
पूर्ण जलाता राख बनाता पूरण वन को वह क्षण में।।८०।।

यदपि मनुज की मोह भाव से सुप्त चेतना होती है।
विराग पहली दृष्टि दूसरी राग रंगिनी होती है।।
बादल दल से गिरती धारा प्रथम समय में विमला हो।
ज्यों ही धरती को आ छूती धूमिल पंकिल समला हो।।८१।।

ऐसा देखा जाता जग में सभी नहीं श्रीफल खाते।
मनुज तोड़ कर खाता हाथी गिरे हुये श्रीफल खाते।।
आशा के तो दास नहीं हैं समता धन के धनी बने।
गुक्ता खाता हंस मोक्षफल खाता है मुनि गुणी बने।।८२।।

पल-पल में प्रति पदार्थ-दल में अपनी अपनी पर्यायें।
नई-नई छवि लेकर उठती मिटती रहती क्षणिकायें।।
तरंगमाला तरल छबीली पवन चले तब जल में है।
झिल-मिल, झिल-मिल करती उठती और समाती पल में है।।८३।।

नहीं काल में नहीं काल से सुख मिल सकता ज्ञात रहे।
सुख तो निर्मल गुण है अपना आत्म तत्त्व के साथ रहे।।
हित चाहो तो मन बच तन से निज आतम में लीन रहो।
यही प्रथम कर्तव्य रहा है भूल कभी मत दीन रहो।।८४।।

विज्ञ जनों के सेव्य नहीं है रहा काल यह ध्येय नहीं।
ज्ञेय भले हो नियत रहा हो किन्तु नियम से हेय सही।।
मोक्ष मार्ग में शुचि चेतन ही सेव्य रहा है ध्येय रहा।
अमेय भी है उपेय भी है शान्त सुधासम पेय रहा।।८५।।

विषय त्याग से डरते हैं जो मूढ़ रहे वे भूल रहे।
मुक्ति समय पर मिलती इस विध कहते हैं प्रतिकूल रहे।।
मोह-भूत के वशीभूत हो आत्म-बोध से रहित हुये।।
कषाय-वश नर क्या नहिं करता पाप पंक में पतित हुये।।८६।।

निजी जाति के प्रति ईर्ष्या नहिं सदा अनुराग धरे।
दिन में तो सम्भोग-कार्य में ना रत हो ना राग करे।।
तदपि कहां है काक समादृत कारण का कुछ पता नहीं।
लगता इसमें रूढ़ि रही हो नीति हमें यह बता रही।।८७।।

आम्रादिक तरु सम जो होता सरस फलों से भरा नहीं।
फूल फूलता यद्यपि जिसमें गन्ध नहीं है हरा नहीं।।
इक्षु दण्ड उद्दण्ड रहा है किन्तु रहा वह सरस महा।
इसीलिए आ-बाल वृद्ध सब जिसे चाहते हरस रहा।।८८।।

तन के आश्रित जितने तप हैं गौण सभी तब होते हैं।
जरा दशा में साधक मुनिजन मौन शमी जब होते हैं।।
जिसे रोग 'मन्दाग्नि' हुआ या जिसने भोजन पाया है।
इष्ट मिष्ट भोजन से अब ना अर्थ रहा प्रभु गाया है।।८९।।

उचित नाव के आश्रित जन को शीघ्र नदी का तीर मिले।
छिद्र सहित यदि नाव मिली तो घोर रसातल पीर मिले।।
शासक शासन उचित चलाता सबका वह संताप हरे।
अनुचित सो अभिशाप रहा है आप, पाप परिताप करे।।९०।।

बिन करनी कथनी में रस है तापस का भ्रम-भाव रहा।
ज्ञात नहीं अनुभूत नहिं क्या? शुचितम आतम-भाव रहा।।
पित्तकोप से ज्वर पीड़ित या सन्निपात का वह रोगी।
जैसा प्रलाप करता रहता उसे मानते बुध योगी।।९१।।

जिस की चर्या 'गो' सम होती पाप कार्य में मौन रहा।
बिन पूछे निर्भीक बोलता धर्म कार्य हो गौण रहा।।
तत्त्वेषण में डूब रहा है लोकैषण से भीत रहा।
दुर्जन द्वारा दिये गये दुख उपसर्गों को जीत रहा।।९२।।

शरणागत के शरण प्रदाता निरीह तरुसम उपकारी।
नियमित उद्यम में रत रहता रवि शशि सम है तमहारी ।।
सिंह वृत्ति का धारक भी है संग रहित है हवा समा।
योगों में तो अचल मेरु है धरा बना है धार क्षमा।।९३।।

अहि सम जिसका खुद का घर नहिं सत्य बोलता इक रसना।
जिसके तन मन सर्व-इन्द्रियां स्ववश कूर्म सम, परवश ना।।
देख चुका गन्तव्य स्थान को किन्तु नदी सम भाग रहा।
योगी वह जयवन्त रहे नित भजूं उसे मन जाग रहा।।९४।।

विज्ञों का उपयोग चपल यदि निज को निहार नहिं पाते।
अज्ञों की क्या बात रही फिर पर में विहार कर जाते।।
सलिल स्वच्छ हो सरवर का पर मुख उसमें नहिं दिख सकता।
जहां पवन से लहर उठ रहीं वहां नेत्र क्या ? टिक सकता ?।।९५।।

जननी सुत को ताड़ित करती नेत्र सजल हो सुत रोता।
माँ सहलाती, भूल तुरत सब हँसमुख सुत प्रत्युत होता ।।
नेत्र रहे प्रतिशोध-भाव बिन अपलक बालक जैसा हो।
महाभाग्य वह यथाजात यति व्रत का पालक वैसा हो।।९६।।

शब्दों के तो पात्र रहे हैं जग के सारे शास्त्र महा।
मल का कोई पात्र यहां है तेरा जड़मय गात्र रहा।।
सुख का पावन पात्र रहा तो शुचितम चेतन मात्र रहा।
ऐसा मन में चिंतन कर लो अपात्र सब सर्वत्र रहा।।९७।।

जो भी देखी जाती हमसे वही प्रकृति स्त्री कहलाती।
अमूर्त जो है पुरुष रहा वह ऐसी कविता यह गाती।।
मूर्त रूप से देखा जाता स्त्री पुरुषों का अभिनय जो।
केवल यह व्यवहार रहा है भीतर निश्चय अतिशय हो।।९८।।

बल मे बालक हूं किसलायक बोध कहां मुझ में स्वामी।
तब गुणगण की स्तुति करने से पूर्ण बनू तुम सा नामी।।
गिरि से गिरती सरिता पहली पतली सी ही चलती है।
किन्तु अन्त में रूप बदलती सागर मे जा ढलती है।। ९९।।

रहे नीति के वीर! प्रणेता शिवपथ के जो नेता हो!
नीति प्राप्त हो तुम्हे भजूं मैं सकल—तत्त्व के वेत्ता हो।।
क्यो न निर्धनी करे धनिक की सेवा धन से प्रीति रही।
रीति नीति हम कभी न भूलें गीत गार ही नीति यही ।। १००।

समय एव स्थान परिचय

धरम व्योम गति गन्ध का वीरजयन्ती—योग।
मिला पुण्य के योग से मेटे भव-भव रोग ।।
सम्मेदाचल तीर्थ के पाद प्रान्त मे बैठ ।
लिखा ईसरी नगर मे काव्य रहा यह श्रेष्ठ ।।

विवरणिका

[redacted]